अंक : 25

भगवान महावीर का

2586 वाँ जयन्ती समारोह

महावीर जयन्ती स्मारिका

1988

सम्पादक मण्डल :

श्री विनयचन्द पापड़ीवाल

श्री देवेन्द्रमोहन कासलीवाल

प्रबन्ध मण्डल :

श्री कैलाशचन्द साह

श्री महेन्द्रकुमार पाटनी

श्री वीरेन्द्रकुमार बज

श्री शांतिलाल गंगवाल

श्री सूरजमल सोगाणी

श्री राकेश छाबड़ा

श्री सुरेश काला

श्री सुमेर कुमार जैन

श्री विजय सौगाणी

श्री अरुण काला

श्री सुनील डोड्या

प्रधान सम्पादक :

ज्ञानचन्द बिल्टीवाला



प्रबन्ध सम्पादक :

रमेशचन्द गंगवाल



संयोजक विज्ञापन समिति :

महेश काला

अरुण सोनी



मुद्रक :

जैना प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स

चोरड़ी का रास्ता, जयपुर-302003

फोन : 63068, 68881

प्रकाशक :

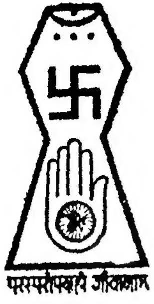
राजस्थान जैन सभा

जयपुर

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

कार्यकारिणी वर्ष - 1988

श्री राजकुमार काला	अध्यक्ष
श्री ताराचन्द्र साह	उपाध्यक्ष
श्री रमेशचन्द गगवाल	उपाध्यक्ष
श्री रतनलाल छावडा	मत्री
श्री प्रकाशचन्द ठोलिया	सयुक्त मत्री
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी	सयुक्त मत्री
श्री कैलाशचन्द साह	कोषाध्यक्ष
श्री महावीरकुमार बिन्दायक्या	सदस्य
श्री कैलाशचन्द सौगाणी	सदस्य
डा० लल्लूलाल जैन	सदस्य
श्री प्रेमचन्द छावडा	सदस्य
श्री अरुण काला	सदस्य
श्री भागचन्द छावडा	सदस्य
श्री राकेशकुमार छावडा	सदस्य
डा० सुभाष गगवाल	सदस्य
श्री सुबोधचन्द पाण्ड्या	सदस्य
श्री विजय जैन	सदस्य
श्री अरुण सोनी	सदस्य
श्री शातिकुमार गोधा	सदस्य
श्री अरुण कोडीवाल	सदस्य
श्री कमल बाबू जैन	सदस्य



श्री महावीरजी

दिनांक २१ मार्च १९८८

संदेश

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि राजस्थान जैन सभा महावीर जयन्ती के पुण्य अवसर पर एक वृहत महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन उच्च स्तर पर करने जा रही है।

विश्ववंद्य भगवान महावीर के पुनीत आत्म कल्याण-कारी धर्म उपदेशों का इस स्मारिका के माध्यम से जन जन में प्रचार और प्रसार हो, इसी मंगल भावना के साथ मेरा राजस्थान जैन सभा जयपुर के पदाधिकारियों को शुभाषिर्वाद है।

— आचार्य विमलसागर



श्री महावीरजी

दिनाक २१ मार्च, १६८८

संदेश

राजस्थान जैन सभा, जयपुर द्वारा चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर की जयन्ती पर इस वर्ष भी एक वृहत स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है। भगवान महावीर ने अपने दिव्य ज्ञान के आलोक से जिन महान सिद्धान्तो का उपदेश दिया उनमे सर्व जीव समभाव, सर्व धर्म समभाव और सर्व जाति समभाव सबसे मुख्य हैं। ये सिद्धान्त ऐसे है जिसमे समस्त विश्व की समस्याये हल की जा सकती है। भारतीय राष्ट्र के नव निर्माण के लिए हमें भगवान महावीर के उपदेशो को स्वय अपने जीवन मे उतार कर अपने वैयाक्तिक उदाहरण द्वारा जनमानस मे उनकी प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहिए।

आपकी महावीर जयन्ती स्मारिका भगवान महावीर के दिव्य सन्देश को जनमानस तक पहुँचाने मे सफल हो– आपका कार्य निरन्तर बढता रहे यही हमारा शुभाशिर्वाद है।

— उपाध्याय मुनि भरत सागर



राष्ट्रपति
भारत गणतंत्र

दिनांक 17 फरवरी, 1988

संदेश

आपका दिनांक 2 फरवरी, 1988 का पत्र मुझे प्राप्त हुआ है। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि राजस्थान जैन सभा द्वारा भगवान महावीर का 2586वां पावन जयन्ती समारोह आयोजित हो रहा है।

आज की परिस्थिति में जब हिंसात्मक तत्वों ने मनुष्य के जीवन को विकृत कर दिया है, भगवान महावीर का मूल संदेश असाधारण महत्व ले लेता है। मुझे आशा है कि राजस्थान जैन सभा के माध्यम से भगवान महावीर के सिद्धांत और भी प्रचलित होंगे और जन समूह में आत्म चिन्तन के लिए प्रेरणा देंगे। मैं समारोह की पूर्ण सफलता के लिए अपनी शुभ-कामनाएं भेजता हूँ।

विनीत,

(आर. वेंकटरामन)



No VPS-5900/88

भारत के उपराष्ट्रपति के निजी सचिव
नई दिल्ली

1 फरवरी, 1988

संदेश

आपका दिनांक 20 जनवरी, 88 का पत्र उपराष्ट्रपति जी को सम्बोधित प्राप्त हुआ, धन्यवाद ।

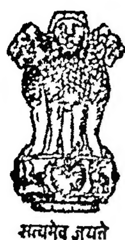
उपराष्ट्रपति जी भगवान महावीर के पावन जयन्ती समारोह मे विशिष्ट अतिथि के रूप मे सम्मिलित अवश्य होते, परन्तु पूर्व नियोजित कार्यक्रमो की व्यस्तता के कारण आपका निमन्त्रण स्वीकार नही कर पा रहे हैं ।

उपराष्ट्रपति जी आपके इस समारोह की सफलता के लिए अपनी शुभकामनाए भेजते हैं ।

सादर,

आपका,

(सि० वा० मालवदे)



No. 1659/RM/88

रक्षा मन्त्री, भारत
नई दिल्ली

4 फरवरी, 1988

संदेश

आपका 20 जनवरी, 1988 का पत्र मिला।

आपने मुझे राजस्थान जैन सभा द्वारा आयोजित भगवान महावीर के 2586वें पावन जयन्ती समारोह पर दिनांक 31 मार्च, 1988 को जयपुर आमंत्रित किया है, धन्यवाद।

मुझे इस शुभ-अवसर पर आप लोगों के बीच सम्मिलित होकर प्रसन्नता होती लेकिन अत्यधिक व्यस्तता के कारण मेरा जयपुर आ पाना संभव नहीं लगता।

कार्यक्रम की सफलता हेतु मेरी शुभकामनाएं स्वीकार करें।

आपका

(कृष्ण चन्द्र पन्त)



अध्यक्ष
राजस्थान विधान सभा
जयपुर

क्रमांक 490 दिनांक 22 मार्च, 1988

संदेश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राजस्थान जैन सभा के तत्वावधान मे भगवान महावीर का 2586 वा पावन जयन्ती समारोह 26 मार्च से 31 मार्च, 88 तक आयोजित किया जा रहा है।

भगवान महावीर सत्य व अहिंसा के अटल पुजारी थे। उन्होने शोषण और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध समानता तथा अपरिग्रह के सिद्धान्त पर अधिक जोर दिया था।

आज हमारा देश जिन विषम परिस्थितियो मे से गुजर रहा है, हर एक नागरिक का कर्तव्य है कि भगवान महावीर के सिद्धान्तो पर चले व इनका अधिकाधिक प्रचार हो ताकि कटुता समाप्त हो एव एकता व अखण्डता यथावत कायम रहे।

मै आप द्वारा प्रकाशित स्मारिका की सफलता की कामना कर रहा हूँ।

(गिरिराज प्रसाद तिवारी)

सम्पादकीय

महावीर जयन्ती स्मारिका का 25 वाँ रजत अंक सुधी पाठकों के हाथों में समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है। आकार सामान्य से कुछ कम होते हुए भी द्विसहस्त्राब्दि के मंगल अवसर पर 'कुन्दकुन्द भारती' नाम से आ. कुन्दकुन्द को स्मारिका परिवार की ओर से समर्पित अर्घ के रूप में रखा गया खण्ड इस अंक की विशेषता है। प्रथम खण्ड हमेशा की भांति 'भगवान महावीर और उनके सिद्धान्त', तृतीय 'साहित्य और पुरातत्व' तथा चतुर्थ 'नये प्रयास' है।

द्वितीय खण्ड में प्रकाशित सात लेख एवं एक कविता, जिनका उल्लेख खण्ड के आरंभ में किया गया है, हमें ब्र. श्री राकेश जी जैन, पीसनहारी मढ़िया, जबलपुर के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं। ये लेख विद्वत समुदाय के बीच आ. विद्यासागर जी के सानिध्य में थूबौन जी में जुलाई माह में पढ़े गये हैं। स्पष्ट है सारगर्भित इन अन्यत्र अप्रकाशित लेखों से यह अंक विद्वत समाज के लिये विशेषत: संग्रहणीय बन गया है। हम ब्र. राकेश जी व पत्र वाचन रखने वाली समिति के सभी पदाधिकारीगणों के इन लेखों को प्रकाशनार्थ प्राप्त कर हृदय से बहुत आभारी हैं।

25 वर्षों से स्मारिका के रूप में राजस्थान जैन सभा माँ सरस्वती की वंदना में प्रति वर्ष अपना अर्घ समर्पित करती रही है। यह राष्ट्रीय स्तर के प्रख्यात मनीषी विद्वान् पं. चैनसुखदास जी द्वारा आरम्भ किया हुआ एवं आयु पर्यन्त निर्वाह किया गया पुनीत अनुष्ठान है जिसका उनके पश्चात् प्रसिद्ध विद्वान पं. भंवरलाल जी पोल्याका ने और 1979 में प्रसिद्ध विद्वान डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल ने सम्पादन किया। इन सभी मनीषी विद्वानों के काल में स्मारिका ने जो विद्वत जगत में प्रतिष्ठा अर्जित की उसे आगे बनाये रखने की कोशिश की जाती रही है। इसमें मिली सफलता का श्रेय समय, शक्ति, अपनी जेब का पैसा खर्च कर, बिना किसी पारिश्रमिक की आशा से भी हमारी प्रार्थना पर रचना भेजने वाले लेखक विद्वानों को जाता है।

गत 25 वर्षों में स्मारिका के अंकों का अपनी रचनाओं से गौरव बढ़ाने वाले स्वयं पं. चैनसुखदास जी, पं. कैलाशचन्द शास्त्री एवं अन्य अनेक विद्वान दिवंगत हो गये हैं। इनके स्मरण से हमारे प्रमाद टूटते हैं एवं लिखने-पढ़ने, ज्ञान की आराधना में अहर्निश जागे रहने की स्फूर्ति जागती

है। कर्म निर्जरापरक इस अनुष्ठान मे मनुष्य जीवन की सार्थकता है। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान वेकन ने अपने "Of Studies" लेख मे पेट को ठीक रखने के लिये घूमने, सर के लिये घुडसवारी आदि शारीरिक व्यायामो के उपयोगी होने की भाति मानसिक, नैतिक शिथिलताओ और विकारो को दूर करने के लिये गणित, नीतिशास्त्र आदि के अध्ययन की बात कही है। वेकन की भाति सारा ही आज पूर्वी-पश्चिमी जगत मानव के मानसिक, नैतिक विकास मे विद्याध्ययन को आवश्यक मानता है, और हम भी अपने वच्चो को इस हेतु स्कूल-कालेज भेजते हैं। यह दूसरी बात है कि कमा खा लेने योग्य हो जाने की भौतिकवादी मानसिकता के हमारे मे प्रमुख हो जाने से हम विद्यालयो और अन्य सभी पठन-पाठन का मानसिक-नैतिक आदि रूप मानव निर्माण का उद्देश्य भूले हुए हैं और परिणामस्वरूप हम आध्यात्मिक दृष्टि से बौनी अविकसित मानवता के लोक मे जी रहे हैं, पुद्गल के फेरे लगाते लगाते जड हुए जा रहे हैं।

कुन्दकुन्द तो जिनवचन (ज्ञानारधना) को जरा, मरण और रोग का हरने वाला, सर्व ही दु खो का क्षय करने वाला मानते हैं। पठन, पाठन, लेखन, चिन्तन, मनन, ध्यान आदि अनेकानेक प्रकारो से हम सम्यग्ज्ञान की आराधना मे रत होंगे, सन्तुष्ट होगे तो शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, लौकिक, पारलौकिक सभी प्रकारो से हम, आचार्य कहते हैं, सुखी होगे। यह अभ्युदय और निश्रेयस दोनो का मार्ग हैं। यह सम्यक्त्वाचरण रूप मुख्य और सयमाचरण इसे ही अहर्निश साधने हेतु उपायभूत हैं।

अन्त मे, 15 मार्च, 88 तक प्रवास मे वाहर रहने और बाद मे अस्वस्थ रहने के कारण आवश्यक समय और श्रम न दे सकने से अक मे रही कमियो का मैं दोषी हूँ। अक समय पर निकल सकने के पीछे आदरणीय वन्धुगण श्री विनयचन्द पापडीवाल, श्री देवेन्द्र मोहनजी कासलीवाल तथा जैना प्रिन्टर्स के मालिक श्री कैलाशचन्द साह का अहर्निश श्रम है। शुद्ध, सुन्दर मुद्रण के तीनो महानुभाव ही धन्यवाद के पात्र हैं। अक की प्रौढ सामग्री का श्रेय लेखक विद्वानो को ब्र श्री राकेश जी को है। (ब्र राकेशजी का नाम आते ही उनका गत माहो मे रहा दो दिन का जयपुर प्रवास स्मरण हो आता है और उनका निरभिमानी व्यक्तित्व, न त्याग का अभिमान न विद्वता का, मृदु व्यवहार स्मरण हो आता है। दो दिन उनका सानिध्य पाकर वस्तुत मैं उपकृत हुआ था।)

श्री राजकुमार काला, सभा के अध्यक्ष, मत्री रतनलाल जी छावडा तथा कार्यकारिणी के अन्य सदस्यो का मैं आभारी हू कि उन्होने इस अक के साथ जुडने का मुझे अवसर दिया।

जिन लेखक महानुभावो की रचनायें समयाभाव से हम नही छाप सके उनके प्रति हम खेद व्यक्त करते हैं।

☐ ज्ञानचन्द बिल्टीवाला

राजस्थान जैन सभा, संक्षिप्त परिचय

समाज के कुछ जागरुक नवयुवकों द्वारा आपसी मतभेदों को मिटाकर संस्थाओं के नाम एवं पदो का मोह त्याग कर वर्ष 1952 मे राजस्थान जैन सभा के नाम से संगठन की स्थापना की गई। इसका संविधान तैयार कर राजस्थान सोसाइटीज एक्ट के अन्तर्गत पंजीकृत कराया गया है।

सभा की स्थापना निम्न उद्देश्यों को लेकर की गई थी—

(1) समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समाज हित की दृष्टि से संगठित करना।

(2) विभिन्न जैन संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित कर उन्हें एक सूत्र में लाना।

(3) समाज का सर्वांगीण विशेषत: सामाजिक, मानसिक, आर्थिक, शारीरिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आदि विभिन्न प्रवृत्तियो के विकास के लिए विभिन्न प्रकार के यथा संभव प्रयत्न करने एवं इस हेतु आवश्यक विभिन्न आयोजनों को करना।

(4) समाज मे फैली हुई कुरीतियों को दूर करना।

(5) जैन मान्यताओं एवं जैन समाज के हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहना।

सभा अपने उद्देश्यों की पूर्ति में निम्न प्रवृत्तियां चला रही है—

सभा की प्रमुख प्रवृत्तियां :—

☐ **दशलक्षण पर्व समारोह :** जन मानस को धर्म एवं कर्त्तव्य की ओर आकृष्ट करने, नैतिक स्तर सुधारने तथा जैन वाङ्मय के दार्शनिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विषयो पर जैन और अजैन विद्वानों के अभिमत से ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक बड़े दीवानजी के मन्दिर प्रांगण पर इस पर्व समारोह का आयोजन किया जाता है। इसमे विद्वानो को आमंत्रित कर विविध विषयो पर उनके भाषण कराये जाते है। दश धर्म पर प्रतिदित प्रवचन होता है। समाज की विभिन्न शिक्षण संस्थाओ, महिला मण्डलों को आमन्त्रित कर उनके कार्यक्रम भी इन पर्व समारोह में कराये जाते है। आध्यात्मिक दृष्टि से सभा के इस आयोजन की अपनी एक विशेषता है।

☐ **क्षमापन पर्व समारोह** आपसी मतभेदो को भुलाकर भाईचारे की भावना जागृत हो इस उद्देश्य से दशलक्षण पव समारोह की समाप्ति पर प्रतिवप आसोज बुदी 2 को प्रात रामलीला मैदान पर इस समारोह का आयोजन किया जाता है। मैत्री भाव का जन-जन मे प्रसार करने वाला यह अनूठा आयोजन है।

☐ **महावीर निर्वाणोत्सव** निर्वाण प्राप्त करना जीवन की सबसे उत्कृष्ट उपलब्धि है। महावीर की इस उपलब्धि पर सबने मिलकर दीपोत्सव मनाया था। वर्ष, युग, शताब्दियो मे बाद आज भी दीपो के इस महोत्सव को जो निर्वाण प्राप्त भगवान की पूजा से महिमान्वित है उन्ही की चितन धारा को जनमानस तक पहुचा सके इसी उद्देश्य से प्रतिवर्ष महावीर निर्वाणोत्सव का आयोजन महावीर स्वामी के मन्दिर प्रागण पर किया जाता है।

☐ **महावीर जयन्ती समारोह** समग्र जैन समाज के सहयोग से सम्मिलित रूप मे सभा द्वारा महावीर जयन्ती समारोह विभिन्न कार्यक्रमो के साथ आयोजित किया जाता है। इसमे भक्ति सध्या, विचारगोष्ठी कवि सम्मेलन, महिला सम्मेलन, जुलूस, सार्वजनिक सभा, सास्कृतिक कार्यक्रम आदि के आयोजन प्रमुख कार्यक्रम हैं। इस अवसर पर उच्च माध्यमिक कक्षाओ तक के छात्र/छात्राओ की निबन्ध व भाषण प्रतियोगिताओ का आयोजन किया जाता है। इस समारोह मे जैन समाज के अतिरिक्त अन्य समाजो के प्रसिद्ध विद्वानो, लेखको कवियो, सगीतज्ञो प्रतिष्ठित समाजसेवियो को आमन्त्रित कर उनके विचारो से जन समुदाय को लाभान्वित कराया जाता है। सभा द्वारा आयोजित जुलूस की सभी ने प्रशसा की है।

☐ **स्मृति दिवस** समाज बन्धुओ मे सेवा करने की प्रवृत्ति बढे, बडे छोटे का भेदभाव न पनपने पावे—इस उद्देश्य से मूक समाजसेवी स्व मास्टर मोतीलाल जी सघी का स्मृति दिवस का आयोजन सभा द्वारा अनेको वर्षो तक किया जाता रहा। आयोजनो के परिणामस्वरूप राज्य सरकार ने अर्जुनलाल सेठी नगर मे सन्मति पुस्तकालय के लिए भूखण्ड ही उपलब्ध नही कराया अपितु भवन निर्माण हेतु आर्थिक सहयोग भी प्रदान किया। अब कुछेक वर्षों से इस कायक्रम का आयोजन मास्टर साहब द्वारा सचालित सन्मति पुस्तकालय ट्रस्ट के द्वारा किया जाने लगा है—तभी से सभा द्वारा इसका आयोजन नही हो रहा है।

☐ **जैन मेला** समाज मे छोटे-बडे का भेद मिटाने, समाज उत्थान हेतु बैठकर विचार करने एव विभिन धार्मिक एव सास्कृतिक प्रवृतियो की प्रगति हो इस उद्देश्य से इस मेले का आयोजन सभा द्वारा किया जाता है। जैन मेले के मुख्य आकर्षण—जैन साहित्य प्रदर्शनी, जैन पत्र पत्रिका प्रदर्शनी, बच्चो की कलात्मक सामग्री की प्रदर्शनी, चित्रकला प्रदर्शनी, मेहन्दी प्रतियोगिता, रगोली प्रतियोगिता, सुन्दर लेख प्रतियोगिता, खेलकूद प्रतियोगिताए, फैन्सी ड्रेस शो, हाथी-घोडे की सवारी, मेले मे महाराना-महारानी, राजकुमार-राजकुमारी का लाटरी द्वारा चयन, वयोवृद्ध पुरुष व महिला का सम्मान, समाज-सेवियो का सम्मान तथा सहभोज के कार्यक्रम रहे हैं।

☐ साहित्य प्रकाशन :

—आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज द्वारा लिखित लघु पुस्तिकाओं का प्रकाशन सभा द्वारा कराया गया। 'पिच्छी कमण्डलू' नामक पुस्तक का प्रथम वार सभा द्वारा प्रकाशन हुआ।

—आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा लिखित 'निजामृत पान' का प्रकाशन सभा द्वारा कराया गया।

—'भगवान महावीर' पर वहुत छोटी पुस्तक मा. माणिकचन्द्र जैन द्वारा लिखित पुस्तक का प्रकाशन सभा द्वारा कराया गया।

—'तीर्थंकर महावीर' नामक लघु पुस्तक डा. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित का प्रकाशन सभा द्वारा कराया गया।

—'चान्दन के वावा' नामक पुस्तक प्रसिद्ध पत्रकार श्री प्रवीणचन्द्र छावड़ा द्वारा लिखित का प्रकाशन भी सभा द्वारा कराया गया।

—'महावीर जयन्ती स्मारिका'–वर्ष 1962 से महावीर जयन्ती पर इसका प्रकाशन सभा द्वारा किया जा रहा है। अव तक प्रकाशित स्मारिकाओं का सर्वत्र स्वागत हुआ है और भविष्य में निकलते रहने की प्रेरणा मिली है।

☐ प्रवचनों के आयोजन :

समय-समय पर जयपुर नगर में पधारने वाले आचार्यों, साधु-साध्वियों, विद्वानों के प्रवचनों का आयोजन भी सभा द्वारा कराया जाता है। आचार्य श्री विद्यानन्दजी, आचार्य श्रीविद्यासागरजी, आचार्य श्री देशभूषण जी व ब्र. कुमारी कौशल जी के प्रवचनो के कार्यक्रम विशेष उल्लेखनीय रहे हैं।

सभा ने श्वेताम्वर समाज के आचार्यगण, साधु-साध्वीगणों को भी आमन्त्रित कर उनके भी प्रवचन कराये हैं।

☐ अभिनन्दन समारोह :

सभा समाज के व्यक्तियों का उनके द्वारा विशिष्ट कार्य सम्पादन करने, विशिष्ट सेवायें देने, उपवास व्रत करने, सवसे अधिक आयु प्राप्त करने वालों को सम्मान देने की दृष्टि से अभिनन्दन समारोह के आयोजन करती रहती है।

☐ सेवा कार्य :

—गयाजी से भगवान वाहुवली को जा रही वस का जयपुर अजमेर मार्ग पर दुर्घटनाग्रस्त हो जाने पर 5 व्यक्तियों की मृत्यु हो गई थी और सभी गम्भीर रूप से घायल हो गये थे। सभा के कार्यकर्ताओं ने घटनास्थल पर पहुंचकर आवश्यक सहयोग दिया, घायलों को अस्पताल में भर्ती कराकर उपचार आदि की व्यवस्था की तथा सेवा की।

—जयपुर मे अतिवृष्टि एव बाढ से आस-पास के क्षेत्रो मे हुई भारी तबाही के समय बाढ पीडितो मे बतन, कपडे, दवाईया एव खाद्य सामग्री वितरित कर सभा ने सेवा की।

—अशक्त एव असहाय छात्रो को शिक्षा प्राप्ति मे सहायता दिलाने, बेरोजगारो को रोजगार दिलाने, रोगियो को चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराने, निधन व्यक्तियो को सहायता दिलाने आदि मे सभा सदैव तत्पर रहती है। सभा का यह कार्य पूर्णत गोपनीय रखा जाता है ताकि हीनता की भावना न हो।

☐ लोकोपकारी कार्य

—सवाई मानसिंह चिकित्सालय जयपुर को अर्ली कन्सर डिटेक्शन सेन्टर की स्थापना हेतु तीस हजार रुपये की राशि भेंट की गई।

—गत कुछेक वर्षों से महावीर जयन्ती के पावन दिवस पर रक्तदान शिविर का विशेष आयोजन किया जाता रहा है। सवा सौ से ऊपर व्यक्तियो द्वारा रक्तदान देकर मानव सेवा कार्यों मे प्रशसनीय योगदान दिया जा रहा है। इस काय की सर्वत्र प्रशसा हुई है। सवाई मानसिंह चिकित्सालय जयपुर में राजस्थान जैन सभा के नाम से ब्लड बैंक स्थापित किया हुआ है।

—श्योदासपुरा से पदमपुरा को जाने वाली सडक पर कोई वृक्ष आदि नही होने के कारण यात्रियो को सारा क्षेत्र वीरान सा दिखाई देता है। धूप, वर्षा आदि मे कही छाया नही है—समस्त क्षेत्र को वृक्षों से आच्छादित करने के उद्देश्य से श्योदासपुरा से पदमपुरा माग पर वन विभाग राजस्थान व सभा के सयुक्त तत्वावधान में वृक्षावली कार्य आचाय श्री विमल सागर जी महाराज के ससघ क्षेत्र प्रवेश को स्थाई स्मृति देने हेतु इस वर्ष प्रारभ किया गया।

☐ समाज सुधार

समाज मे व्याप्त रूढियो और कुरतियो के विरुद्ध सभा सदैव जागरूक रही है। समाज मे अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह, मृत्यु भोज एव असामाजिक कार्यों को रोकने के लिये किये गये सभा के प्रयास सर्वत्र प्रशसनीय रहे हैं। समाज मे सगाई विवाहों आदि पर दहेज की माग को सभा बुराई की दृष्टि से देखती है और इन बुराइया को रोकने हेतु प्रयत्नशील हैं। दिन मे फेरे, दिन मे बरात और दिन मे ही जीमन हो इसके लिये सभा प्रयत्नशील है।

☐ जैन मान्यताओं एव समाज हितों की रक्षा

—जब-जब भी समाज पर कोई धार्मिक अथवा सामाजिक सकट उपस्थित हुआ है, सभा ने तत्काल आगे बढकर उस समस्या को अपने हाथ मे लिया है और उसके हल का प्रयास किया है। राजस्थान विधान सभा मे प्रस्तुत नग्नता विरोधी बिल को वापिस कराने, राजस्थान ट्रस्ट एक्ट मे आवश्यक सशोधन कराने राज्य सरकार से अनत चतुदशी एव

सवंतसरी का ऐच्छिक अवकाश स्वीकृत कराने, सांगानेर में जमीन से प्राप्त जैन मूर्तियों को समाज के सुपुर्द कराने का सभा ने कार्य किया है।

—आये दिन जैन मूर्तियों की चोरियां होती रहती है—ऐसा न हो इस हेतु समुचित व्यवस्था के लिये तथा पकड़े जाने पर अपराधियों को कठोर दण्ड मिले ताकि पुनरावृति न हो, इस हेतु राज्य सरकार को समय-समय पर सभा द्वारा निवेदन किया गया है।

—कुम्भोज बाहुवली में कुछ असामाजिक तत्वों द्वारा वहां विराजित मुनिराजों के साथ अभद्र व्यवहार करने तथा मूर्ति पर पत्थर आदि फैंके जाने का सभा द्वारा घोर विरोध किया गया तथा प्रार्थना सभाओ का आयोजन कर एक अनूठा वातावरण तैयार किया गया।

—अहिंसा व शांति के अग्रदूत जैन साधु-साध्वीगण जब एक स्थान से दूसरे स्थान को विहार करते हैं तब मार्ग मे कुछ असामाजिक तत्वो द्वारा अभद्र व्यवहार किया जाता है। वह न हो, इसकी समुचित व्यवस्था करने हेतु भी सरकार से सयय-समय पर सभा द्वारा अनुरोध किया गया है।

☐ **अहिंसा प्रचार :**

देश मे खुलने वाले बूचडखानों का सभा द्वारा विरोध किया गया है। धर्म के नाम पर होने वाली वली का विरोध किया गया तथा वन्दरों के निर्यात का भी सभा द्वारा विरोध किया गया है। सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री तैयार करने हेतु जीवों की हत्या को सभा बुराई की दृष्टि से देखती है और समाज ऐसी सामग्री का उपयोग न करे इस हेतु अपनी सभाओं में प्रचार करती है।

भावी योजनायें :

☐ सगठन को मजवूत वनाये रखने की दृष्टि से अधिकाधिक सदस्य वनाना तथा शाखाओं की स्थापना करना।

☐ समाज के विभिन्न अङ्गों जैसे वाल विभाग, महिला विभाग की स्थापना करना एवं उनके विकास के लिए प्रवृत्तियां प्रारम्भ करना।

☐ जैन धर्म के अध्ययन की ओर रुचि वढ़े इस हेतु धार्मिक शिक्षा शिविर लगाना एव जैन दर्शन में सर्वश्रेष्ठ योग्यता प्राप्त करने वालो को सम्मानित करना।

☐ समाज के वन्धुओ में लोकोपकारी कार्य करने की भावना मे उत्तरोत्तर वृद्धि हो इस हेतु ऐसे कार्य करने वालों को सम्मानित करना।

☐ समाज के वन्धुओ मे राष्ट्र के प्रति समर्पित भावनाओ में उत्तरोत्तर वृद्धि हो इस हेतु समर्पित व्यक्तियों का तथा स्वतन्त्रता संग्राम मे योगदान करने वाले वन्धुओ को सम्मानित करना।

- ☐ समाज सुधार की दृष्टि से बिना दहेज व सादगी से विवाह करने वालो को सम्मानित करना तथा व्याप्त कुरीतियो व कुप्रथाओ को समाप्त करने का प्रयास करना ।
- ☐ समाज आर्थिक दृष्टि मे समुन्नत बने इस हेतु उद्योगशालाओ की स्थापना करना ।
- ☐ बेरोजगार जैन युवको को रोजगार दिलाने हेतु हर सभव प्रयत्न करना ।
- ☐ समाज के निर्धन व्यक्तियो के सहायतार्थ एक ध्रुव फण्ड की स्थापना करना ।
- ☐ महावीर जयन्ती स्मारिका एव अन्य उपयोगी साहित्य का प्रकाशन करना ।

सभा के सभी कार्य असम्प्रदायिक भाव से आयोजित होते हैं । इन सबका श्रेय सभा के उन शुभ चिन्तकों, प्रेमियो, हितैपियो तथा सदस्यो को है जिन्होंने पूरी लग्न, निष्ठा एव सेवाभाव से इसे सींचा है । धनिक महानुभावो ने समय समय पर आर्थिक सहयोग देकर तथा स्मारिका का विज्ञापन स्वरूप सहयोग प्रदान किया है, उससे हमे बल व उत्साह प्राप्त हुआ है और निरन्तर कार्य करते रहने की प्रेरणा मिली है । समाज की शिक्षण सस्थाओ, सगीत मण्डलों, महिला मण्डलो, सहयोगी सस्थाओ तथा जैन श्रावक सघो का जो महत्त्वपूर्ण सहयोग कार्यक्रमो मे मिलता रहा है यह उसी का परिणाम है कि सभा ने समाज मे एक विशिष्ट स्थान बनाया है ।

सभा को सुदृढ बनाने मे सक्रिय सहयोग प्राप्त हो, इसी नम्र निवेदन के साथ—

☐ रतनलाल छाबडा
मन्त्री,
राजस्थान जैन सभा, जयपुर ।



अध्यक्षीय –

प्रतिवर्ष अहिंसा के प्रणेता भगवान महावीर का जन्म जयन्ती समारोह देश विदेश में उत्साह पूर्वक मनाया जाता हैं। राजस्थान की राजधानी जयपुर नगर में भी राजस्थान जैन सभा के तत्वावधान में महावीर जयन्ती के उपलक्ष में अनेक कार्य–क्रम आयोजित किये जाते हैं। स्मारिका प्रकाशन आज से 25 वर्ष पूर्व समाज के प्रसिद्ध दार्शनिक स्व. पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ की प्रेरणा से प्रारम्भ हुआ था। यह महावीर जयन्ती के कार्यक्रमों में एक स्थायी गतिविधि बन चुकी हैं। हमारा उद्देश्य भगवान महावीर के उपदेशों को जन जन तक पहुंचा कर मानव के मानस पटल पर स्थायी प्रभाव डालना और जीवन के नैतिक मूल्यों को उजागर करना हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अधिकृत विद्वानों से लेख आमंत्रित किये जाते हैं। मैं उन विद्वानों का जिन्होंने इस स्मारिका में शोध पूर्ण लेख भेजकर स्मारिका को एक शोध ग्रन्थ का रूप प्रदान किया हैं अत्यन्त आभारी हूँ। स्मारिका प्रकाशन में आर्थिक सहयोग सहृदयी विज्ञापन दाताओं से प्राप्त होता रहा हैं जो भी साधुवाद के पात्र हैं।

मैं सभी मेरे साथी सभा की कार्यकारिणी के सदस्यों, विभिन्न समितियों के संयोजकों तथा सभा के कार्यों में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग देने वाले मनीषियों एवं विद्वानों का आभारी हूं जिनके सहयोग से सभा निरन्तर प्रगति के पथ पर हैं। सभा के कुछ कार्यों का उल्लेख मेरे साथी सभा के मंत्री श्री रतनलाल छाबडा द्वारा किया हैं। समाजोपयोगी अनेक कार्य सभा परोक्ष रूप से करती रही हैं जिनका उल्लेख करना सामयिक नहीं होने से उचित नहीं हैं।

यह स्मारिका भाई ज्ञानचन्दजी बिल्टीवाला, भाई विनयकुमारजी पापड़ीवाल एवं सम्पादक मण्डल के अन्य सहयोगी मित्रों एवं विज्ञापन समिति के सहयोगी श्री रमेशचन्द गंगवाल, श्री अरुण सोनी, श्री महेश काला एवं श्री शांतिलाल गंगवाल के सतत प्रयास तथा सम्पूर्ण प्रेरणा के स्रोत भाई रतनलालजी छाबड़ा के प्रयासों के परिणाम स्वरूप ही आज पाठकों के पास पहुंच पाई हैं।

इस वष महावीर जयन्ती क अवसर पर सवश्री ताराचन्दजी साह, प्रकाश चन्दजी ठोलिया बाबूलालजी बेगस्या, दवकुमारजी साह कैलाशच दजी सोगाणी, वस तकुमारजी जैन वागशजी टोडरका न अथ सचय मे अथक सहयोग प्रदान किया है, जिसक लिये मै उनका अत्यन्त आभारी हूँ ।

जैना प्रि टस एव स्टशनर्स क श्री कैलाशचन्द साह न विशेष परिश्रम कर सभी कायकताओ के सहयाग से बहुत ही अल्प समय मे स्मारिका मुद्रित की, का विशेष रूप स आभारी हू ।

कायकर्ता सदैव गल्तियो का शिकार रहता है कार्यों की सराहना कम हाती है और किय गये कार्यो मे अनक भूले देखी जाती है। अच्छे 2 कायकता इस कारण स समाज से दूर हो रहे है। मरी समाज के सभी भाइयो से अपील है, अब समय आ गया जब हम लोगो को ताडने क स्थान पर जोडे तथा सामाजिक बुराइयो से एक साथ मिल-जुल कर लडाइ लडे तथा खोये मूल्यो को पुनस्थापित कर नये समाज की सरचना मे लगे। भगवान महावीर के माग स प्रेरणा और सबल प्राप्त हा यही भावना है।

इसी भावना क साथ यह 25 वा अक पाठको के लिये समर्पित है।

— राजकुमार काला
अध्यक्ष

आभार

तीर्थंकर श्री महावीर की पावन जयन्ती पर राजस्थान जैन सभा श्री महावीर के सिद्धान्तों को विभिन्न ख्याति प्राप्त लेखकों द्वारा लिखित लेखों का संकलन कर उसे एक स्मारिका के रूप में प्रकाशित करने का निरंतर प्रयास कर रही है। जिसे श्रद्धेय पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ ने प्रारम्भ किया था। इसी कड़ी में भगवान महावीर के 2586 वें जन्म जयन्ती महोत्सव पर यह 25 वां रजत अंक प्रस्तुत किया जा रहा है।

भय, अशान्ति, तनाव से युक्त इस प्रतिस्पर्धा के युग में............ जहाँ वैज्ञानिक विध्वंसक हथियारों की रचना निरन्तर बढ़ रही है—और मानव-जीवन असुरक्षित से भयभीत होता जा रहा है। विशेष कर अहिंसा प्रधान भारत देश में जहां आतंकवाद ने अपनी क्रूरता की सभी सीमाएं पार कर—वेगुनाह प्राणियों की अकारण निर्मम हत्याएं की है। ऐसे वातावरण में मानव कल्याण के लिये भगवान महावीर के उपदेशों के प्रचार-प्रसार की विशेष महत्ता है।

स्मारिका के सम्पादकत्व का कार्य-भार इस वर्ष अध्यात्मिक चितक श्री ज्ञानचन्द्र जी साहब बिल्टीवाला के विशेष सहयोगी श्री देवेन्द्र मोहन जी साहब कासलीवाल एवं श्री विनयचन्द्र जी साहब पापड़ीवाल ने अत्यन्त परिश्रम लग्न व त्याग से किया है। स्मारिका में जैन साहित्य संस्कृति, दर्शन एवं इतिहास का सही दिग्दर्शन का उल्लेख किया गया है। ऐसे महान् कार्य के सम्पादन के लिये मैं श्री ज्ञानचन्द्र जी साहब बिल्टीवाला व इनके अन्य सभी सहयोगी तथा सभी लेखक महानुभावों का अत्यन्त आभार प्रकट करता हूं।

जन कल्याण के लिये प्रकाशित इस स्मारिका में जिन व्यापारिक प्रतिष्ठानों, सरकारी संस्थानो ने विज्ञापन देकर सभा को आर्थिक सहयोग प्रदान किया है उनके प्रति भी मैं व्यक्तिशः एवं सभा की ओर से अत्यन्त आभारी हूं।

समाज के अग्रणीय युवक एव सभा के अध्यक्ष श्री राजकुमार काला जिन्होने इस स्मारिका मे विशेप रूप से विज्ञापनो के लिये भरपूर सहयोग एव मार्ग-दर्शन किया है तथा सभा के मत्री श्री रतनलाल जी साहब छावडा के प्रति भी अत्यन्त कृतज्ञ हू, जिन्होने मुझे इस कार्य को सम्पन्न कराने मे पूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

इस अवसर पर मैं सर्वश्री एस के जैन श्री प्रेमचन्द्र जी छावडा श्री अमरचन्द्र जी काला, श्री नरेश कुमार जी सेठी, श्री प्रभाकर देवजी डण्डिया, श्री रमेशचन्द्र जी पापडीवाल, श्री बाबुलाल जी बेगस्या श्री तारा चन्द जी साह् आदि सभी साथियो का तथा जिनके नाम का यहा उल्लेख नही हैं उन सभी के प्रति भी अत्यन्त आभारी हू।

विशेप रूप से इस वर्ष श्री सुरेश जी काला, श्री महेश जी काला, श्री अरुण जी सोनी ने अथक प्रयास कर मुझे अधिक विज्ञापन एकत्रित करने मे विशेप सहयोग दिया है—मैं उनके प्रति भी अत्यन्त आभारी हू।

जैना प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स के सचालक श्री कैलाशचन्द जी साह् ने विशेप परिश्रम कर प्रेस के सभी कार्यकर्ताओ के सहयोग से अल्प समय में इस स्मारिका का मुद्रण किया। इसके लिये मैं उनका विशेप रूप मे आभारी हू।

अन्त मे राजस्थान जैन सभा द्वारा प्रकाशित महावीर जयन्ती स्मारिका के इस 25वें अक के प्रकाशन मे प्रबन्ध सम्पादन के लिए मुझे मेरे सभी सहयोगियो का जिनका नाम यहा आया है या नही, जिनसे भरपूर सहयोग एव मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ है, उन सभी महानुभावो के प्रति व्यक्तिश एव सभा की ओर से अत्यन्त आभार प्रकट करता हू तथा सभी से भविष्य मे भी इसी प्रकार पूर्ण सहयोग की कामना करता हू।

इस वृहत स्मारिका मे भूल होना स्वभाविक है, कृपया उदार हृदय से क्षमा करने की कृपा करें।

सादर,

—रमेशचन्द्र गगवाल

महावीर जयन्ती के अवसर पर उदवाधन करते हुए
मुख्य मंत्री श्री हरिदेव जोशी

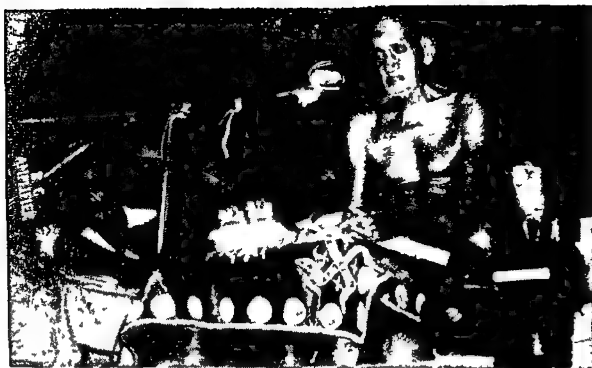
महावीर जयन्ती के अवसर पर रक्तदान शिविर का उद्घाटन करते हुए

महावीर जयन्ती '87 के अवसर पर प्रभात फेरी की समाप्ति पर झण्डाभिवादन करते हुए
राजस्थान जैन सभा के अध्यक्ष श्री राजकुमार काला

महावीर जयन्ती '87 के अवसर पर निकाली गई प्रभात फेरी का एक दृश्य

महावीर जयन्तीके अवसर पर मंच पर बैठे हुए श्री रतनलाल गंगवाल, मुख्य मंत्री श्री हरिदेव जोशी, साहू शान्तीप्रसाद जैन अध्यक्ष, दि. जैन महासमिति, श्री माधवराज सिंधिया रेल मंत्री, भारत सरकार श्री राजकुमार काला अध्यक्ष, राजस्थान जैन सभा

महावीर जयन्ती के अवसर पर नाथ वन्दना के रथ का आरम्भ करते हुए श्री वसंत दादा पाटील राज्यपाल, राजस्थान साथ में खड़े हुए श्री रतनलाल छाबड़ा



आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज
क्षमावणी पर्व के अवसर पर समाज को उद्‌बोधन देते हुए



आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज
क्षमापन पर्व के अवसर पर श्री हंसराज भारद्वाज कानून मन्त्री को आशीर्वाद देते हुए



क्षमापन पर्व समारोह के अवसर पर सम्वोधित करते हुए
सभा के अध्यक्ष श्री राजकुमार काला



[illegible]



1987 में आयोजित विचार गोष्ठी
श्री नवीनकुमार बज, डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री बी. डी. कल्ला,
श्री राजकुमार काला, श्री जवाहरलाल जैन, श्री लक्ष्मीनारायण दुबे ।

राजस्थान जैन सभा
आपका
हार्दिक स्वागत करती है.
महावीर जयन्ती समारोह
भक्ति सन्ध्या
दिनांक 8 अप्रेल 1987

प्रथम खण्ड

महावीर, सिध्दान्त और व्यवहार

शुभ कामनाओ सहित

रामसुख चुन्नीलाल

A-5, अनाज मण्डी चांदपोल

ज य पु र

फोन 7 4 9 3 1

नयनपथगामी भवतु मे (महावीराष्टक)

मूल-संस्कृत: पं० भागचन्दजी/राजस्थानी पद्यानुवाद : विपिन जारोली
कानोड़ 313604, जिला उदयपुर, (राज.)

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः
समं भान्ति ध्रौव्यव्ययजनिलसन्तोऽन्त रहिताः ।
जगत्साक्षी मार्गप्रकटनपरो भानुरिव यो
महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।1।।

ज्यूं दरपण में प्रतिबिम्बित व्है,
सामै पड़्या पदारथ सगला ।
त्यूं झलकै चेतण में जिणरै
त्रिविध रूप जड़-चेतन सगला ।
सूरज ज्यूं सिव-पथ दरसावै,
तीनूं लोक करे उजियारो ।
अस्या वीरजी नैण-पंथ सूं-
हिवड़ै म्हारै आप पधारो ।। 1 ।।

अताम्रं यच्चक्षुःकमलयुगलं स्पन्दरहितं
जनान्कोपापायं प्रकटयति वाभ्यन्तरमपि ।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वातिविमला
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।। 2।।

ताम्न झलक नीं नैण-कमल मे,
पलक जपै नीं जिण रै दोई।
इण सू यू प्रगटै आपई है,
अन्तर मे भी कोप न कोई।
अति निरमल अर लाखीणो है,
परम सान्ति रो वो उणियारो।
अस्या वीरजी नैण-पथ सू-
हिवड़ै म्हारै आप पधारो ॥2॥

नमन्नाकेन्द्राली मुकुटमणिभाजाल जटिलम्
लसत्पादाम्भोजद्वयमिह यदीय तनुभृताम्।
भवज्ज्वालाशान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि
महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥3॥

नमता देवां रै मुगटा री-
मणिया, जिण रा चरण प्रकासै।
अस्या नाथ रा उण चरणा सू-
भविया री भव-ज्वाला नासै।
चोरासी रै अंधकार पर,
मुगत-पथ रो है उजियारो।
अस्या वीरजी नैण-पथ सू-
हिवड़ै म्हारै आप पधारो ॥3॥

यदर्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह
क्षणादासीत्स्वर्गी गुणगणसमृद्ध सुख-निधि।
लभन्ते सद्भक्ता. शिवसुखसमाज किमु तदा?
महावीरस्वामी नयनपथगामीभवतु मे ॥4॥

जिणरै सुमिरण सू मेढक भी,
सुख रो पावै सुरग-खजानो।

तो उणरी भगति रा करण्या,
क्यूं नीं पावै सिव-सुख मानो ।
भगतां नें भगवान वणावै,
जाणै है इण नै जग सारो ।
अस्या वीरजी नैण-पंथ सूं–
हिवड़ै म्हारै आप पधारो ॥4॥

कनकस्वर्णाभासोऽप्यपगततनुर्ज्ञाननिवहो
विचित्रात्मांप्येको नृपतिवर सिद्धार्थतनयः ।
अजन्मापि श्रीमान् विगतभवरागोद्भुतगतिः
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥5॥

कुन्दण सी दमकै काया, पण–
रंचमात्र नीं ममता उण पर ।
अणजनम्यो, पण सिद्धारथ रो
लाल अनोखो है, वो जिनवर ।
ज्ञानी अर वीतरागी, ध्यानी,
समता-वैभव रो उजियारो ।
अस्या वीरजी नैण-पंथ सूं–
हिवड़ै म्हारै आप पधारो ॥5॥

यदीयावाग्गंगा विविधनयकल्लोलविमला
बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।
इदानीमप्येषा बुधजनमरालैः परिचिता
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥6॥

जिण री भांत भांत री निरमल–
नय-ल्हैरां री वाणी-गंगा ।
मेटै है चेतण-जल सूं वा,
भवियां रै भव-भव रा दंगा ।

आकरषण वा आज तलक भी,
अणगिणती रै बुध-हसा रो ।
अस्या वीरजी नैण-पथ सू –
हिवड़ै म्हारै आप पधारो ॥6॥

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभटः
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः ।
स्फुरन्नित्यानन्दप्रशमपदराज्याय स जिन
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥7॥

जान सकै नीं जिण नै कोई,
तीन लोक है जिण रै वस मे ।
अस्या दुरजयो कामदेव नै–
चढते जोबन कीधो वस मे ।
अरहत पद पावण रै खातर,
कीधो आतम-जोत उजारो ।
अस्या वीरजी नैण-पंथ सू –
हिवड़ै म्हारै आप पधारो ॥7॥

महामोहातकप्रशमनपराकस्मिकभिषक
निरापेक्षो वन्धुर्विदितमहिमा मगलकरः ।
शरण्य. साधूनाम् भवभयभृतामुत्तमगुणो,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥8॥

बडो अपूरव वैदराज है,
मोह-रोग रै नासकरण रो ।
जिण रो जस गू जे है जग मे,
सहज ठिकाणो साध-सरण रो ।

मंगल़कारी सब नै वाल़ौ,
गैरो समदर गुण-रतनां रो ।
अस्या वीरजी नैण-पंथ सूं-
हिवड़ै म्हारै आप पधारो ॥8॥

महावीराष्टकंस्तोत्रं भक्त्या भागेन्दुना कृतम् ।
यः पठेच्छृणुयाच्चापि स याति परमां गतिम् ॥

भगती रै वस अणी स्तोत्र नै,
रच्यौ चाव सूं भागचन्द है ।
वर्णी तराई राजथली में,
रूप उतार्‌यौ विपिनचन्द है ।
इणनै भणै-सुणै चित्त लाई,
पावै सिवपुर रो उजियारौ ।
अस्या वीरजी नैण-पंथ सूं-
हिवड़ै म्हारै आप पधारो ॥

भगवान महावीर की शिक्षाओं की आज प्रासंगिकता

□ रमा कान्त जैन,
बी ए., साहित्य रत्न, तमिल कोविद

आज जब बेटा बाप की बात सुनने को तैयार नहीं, बड़े-बूढ़ों की बातें दकियानूसी लगती हो तो यह विचारने की बात है कि जो व्यक्ति अबसे सैकड़ों-हजारों वर्ष पहले हुआ हो उसकी बताई हुई बातें कितने व्यक्ति सुनना, समझना और मानना चाहेंगे। एक तरह से बात कुछ सही भी है। अबसे हजारों वर्ष पहले की और आज की परिस्थितियों में बड़ा अन्तर है, यही नहीं, बीते कल और आज की स्थिति में भी अन्तर है। इस बीच गंगा में बहुत पानी बह गया। समय बदलने के साथ-साथ इन्सान के रहन-सहन सोचने-समझने के तरीकों में बहुत अन्तर आ गया। मानव ने आज विज्ञान के क्षेत्र में जो प्रगति की है उससे उसकी सुख सुविधाओं में बढ़ोत्तरी हुई है और उसने पर्याप्त भौतिक उन्नति की है। किन्तु क्या वह वास्तव में सुखी है? समय परिवर्तन के साथ सब मनुष्य की आवश्यकताएँ और समस्याएँ भी बदली हैं। अत यह आवश्यक नहीं कि हमारे प्राचीन विचारकों ने अपने समय की मानव समस्याओं का जो निदान बताया हो वह आज की सभी समस्याओं के लिये कारगर हो। किन्तु यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो हम पायेंगे कि हमारी अनेक समस्याएँ आज भी वैसी हैं जैसी कि वे मानव सभ्यता के आदिम युग में थी, भले ही उनका रूप बदला हो। अस्तु उन सनातन समस्याओं का समाधान भी वही है जो हमारे पूर्वज विचारक मार्गदर्शक अपने-अपने समय में बताते चले आये हैं, भले ही उनकी शब्दावली भिन्न हो, उनके बताने-समझाने का ढंग भिन्न हो। इसी परिप्रेक्ष्य में यह विचारणीय है कि चौबीसवें व अंतिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर, जो अबसे ढाई हजार वर्ष से भी पहले हुए थे, के वचनों की आज क्या उपादेयता है।

आज भी अक्सर हमारे आपसी झगड़ों का एक मुख्य कारण यह होता है कि हम दूसरे की बात सुनने समझने के बजाय अपनी बात पर डट रहते हैं। हम कहते हैं, 'यह बात ऐसी ही है।" यह कोई नया झगड़ा नहीं है। अबसे ढाई हजार वर्ष पूर्व वर्द्धमान महावीर के समय में भी यह स्थिति थी। अपने चिंतन-मनन से महावीर ने जाना था कि जो कुछ भी बोलने में आता है वह किसी न किसी दृष्टि से कहा जाता है। अलग अलग रहने पर ये सभी मिथ्यादृष्टि हैं और परस्पर

में समन्वित हो जाने पर वे सम्यक्‌दृष्टि बन जाती है। अतः उन्होने लोगों को अनेकान्तवाद का पाठ पढ़ाया और वचन-विवाद के बजाय दूसरों की बात धैर्यपूर्वक सुनने और समझने की शिक्षा दी। उनका कहना था, "लोक में अनेक जीव है, कर्म भी अनेक प्रकार के हैं और प्रत्येक व्यक्ति की नाना प्रकार की उपलब्धियां होती है। अतएव अपने मत अथवा दूसरे मत को माननेवाले किसी भी व्यक्ति के साथ वाद-विवाद करना उचित नही है।" महावीर के इन वचनों का अनुपालन आज भी परस्पर कलह को कम करने तथा सर्वधर्म सद्‌भाव बढ़ाने में सहायक हो सकता है।

वर्द्धमान महावीर मानते थे कि मनुष्य को जितना आनन्द सार्थक, हितकर, मित और मधुर वचन प्रदान करते है उतना शीतल जल, चन्दन, चन्द्रमा, मुक्ता, चन्द्रकान्त मणि आदि पदार्थ नही पहुंचाते। अतः उन्होंने अपने अनुयायियो को सार्थक, हितकर, मित और मधुर वचन बोलने का परामर्श दिया। उन्होने बिना पूछे नहीं बोलने, पूछने पर असत्य न बोलने तथा आवश्यकता से अधिक न बोलने पर बल दिया। आज भी यही व्यवहार धर्म है। जो व्यक्ति इन बातों का जितना आचरण करता है वह अपने सम्पर्क में आने वालों के मध्य उतना ही प्रिय और सद्‌भाव का पात्र होता है और जो व्यक्ति इनके विपरीत आचरण करता है वह अपने सम्पर्क मे आने वालों मे अप्रिय और असद्‌भाव का पात्र होता है।

"क्रोध प्रीति का नाश करता है और मनुष्य का पतन करता है, मान (घमण्ड) विनय समाप्त कर देता है और मनुष्य को अधमगति मे पहुँचाता है, माया (छल कपट) मित्रता और सद्‌गति का नाश करने वाली है तथा लोभ इस लोक और परलोक में भय उत्पन्न करने वाला और सर्व विनाशक है" इन सत्यों को समझने वाले महावीर ने अपने अनुयायियों को क्रोध, मान, माया और लोभ से बचने की सलाह दी थी। यह सलाह आज भी मानव बनने के लिए आवश्यक है।

यह शाश्वत सत्य है कि संसार मे कोई प्राणी ऐसा नही है जिसे अपनी जान प्यारी न हो और जो दु.ख चाहता हो। इसीलिये वर्द्धमान महावीर ने अपने अनुयायियो को सम्बोधा था, "सभी प्राणियों को अपने समान समझो। जिसे तुम मारना चाहते हो वह भी तुम्हारी तरह सुख-दुःख का अनुभव करने वाला प्राणी है। जिस पर शासन करना चाहते हो वह भी तुम्हारे जैसा प्राणी है। जिसे अपने वश मे करने की इच्छा करते हो वह भी तुम्हारे समान प्राणी है।" उनका कहना था, "जो सज्जन ऐसा जानकर विवेकपूर्वक जीवन बिताते हैं वे न तो किसी का घात स्वय करते है और न दूसरों से कराते है। जो हिसा करता है उसका फल उसे भोगना पड़ता है। अतएव किसी भी प्राणी की हिंसा की कामना मत करो।" वह मानते थे, "जो स्वय प्राणी हिंसा करता है, दूसरो से कराता है अथवा करने वालो का अनुमोदन करता है, वह संसार मे अपने लिए वैर ही बढ़ाता है" और यह कि "वैर से वैर कभी शान्त नही होता, अवैर से ही वैर शान्त होता है।" आधुनिक युग के मसीहा महात्मा गांधी का भी यही कहना था कि यदि ईंट का जवाब पत्थर से देने लगोगे तो दुनिया ही खत्म हो जायगी और अपने चतुर्दिक् भी हमें आये दिन यही देखने को मिलता है कि "शठे शाठ्यं समाचरेत्" की उक्ति व्यवहार में लाने अथवा बदला लेने की भावना बनाये रखने पर

कलह की कडी समाप्त नही होती और शान्ति एव सद्भाव का वातावरण हमसे कोसों दूर हो जाता है ।

मानव जीवन कुशा की नोक पर स्थित ओस की बूद की तरह क्षणस्थायी है, जानकर वर्द्धमान महावीर ने अपने शिष्य गौतम तथा अन्य जनो को प्रबोधा था, "उठो ! प्रमाद मत करो" और सम्बोधा था, "स्वय को जानो, स्वय को पहचानो ।" यह आज भी सत्य है कि जीवन क्षणभगुर है । अत हमे जो कुछ करना है अपना समय नष्ट किये बिना कर डालें और माया-मोह में बहुत अधिक न डूबें, क्योकि 'सामान सौ बरस का पल की खबर नही' ।

वद्ध मान महावीर का विश्वास था "जो दूसरो को सुख देने का प्रयास करता है वह स्वय भी सुख पाता है ।" अत उन सेवाभावी का अपने अनुयायियो के लिए उपदेश था, "अनाश्रित और असहाय व्यक्तियो को आश्रय एव सहयोग सहायता देने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए । रोगी-जनो को निरोग करने के लिए उनकी सेवा सुश्रुषा और परिचर्या उत्साह एव तत्परता के साथ करनी चाहिए ।" क्या आज भी ससार मे अनाश्रित, असहाय और रोगी जन नही हैं ? क्या उन्हें आश्रय, सहयोग और परिचर्या की आवश्यकता नही है ? और जो व्यक्ति अनाश्रित को आश्रय और असहाय को सहायता प्रदान करते हैं तथा रोगी जनो की सेवा सुश्रुषा और परिचर्या करते हैं क्या उन्हें उनके सद्भाव के साथ-साथ आत्म-सन्तोष प्राप्त नही होता ?

आज शिक्षा का बहुत प्रसार हो गया है, किन्तु क्या हम वास्तव मे शिक्षित हो पाये हैं, यह विचारणीय है । बहुत सारी डिग्रिया लगा लेने मात्र से हम शिक्षित नहीं हो जाते, जैसे गेरूआ वस्त्र धारण कर लेने या वस्त्र उतार फेंकने मात्र से हम साधु-सन्यासी नही बन जाते । वर्द्धमान महावीर का भी कहना था "जो चरित्र से हीन है उसके बहुत शास्त्रो के जानने से भी क्या लाभ है ?" वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरत रहने को चरित्र मानते थे । चरित्र की इस परिभाषा को हम अपने जीवन मे जितना उतार पायेंगे उतने ही अच्छे नागरिक हम बन पायेंगे और अपने को शिक्षित और सभ्य कहलाने के अधिकारी होंगे ।

महावीर ने बताया था, 'मनुष्य का धर्म उसका सद्-असद् विवेक है ।" यदि हम भलाई और बुराई को पहचान कर भला आचरण करें, अपने व्यवहार मे सरलता और मृदुता लायें तो निस्सन्देह हमारी कठिनाइया कम हो जायेंगी और हमारी अनेक समस्याएँ सुलझ जायेंगी ।

वर्द्धमान महावीर का जन्म इसी भारत भूमि के बिहार प्रदेश मे बसाढ (वर्तमान वैशाली) नामक स्थान पर ईसा से 599 वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को हुआ था । "जगत के सभी प्राणी सुखी हो" इस पवित्र भावना को अन्तस् मे सजोए सुख का मार्ग खोजने के लिए वह 30 वर्ष की युवावस्था मे गार्हस्थिक सुख-सुविधाओं का त्याग कर वन की राह निकल पडे थे और निर्ग्रन्थ श्रमण साधु बन गये थे । बारह वर्ष की कठोर साधना के उपरान्त अपने अनुभव और ज्ञान से सर्वजन-हिताय, सर्वजन सुखाय लोगों को लाभान्वित करने के लिए वह तीस वर्ष तक एक स्थान से दूसरे स्थान पैदल भ्रमण करते रहे और अन्त मे 72 वर्ष की वय में ईसा से 527 वर्ष पूर्व कार्तिकी अमावस्या को उन्होंने निर्वाण लाभ किया ।☐

(रमा कान्त जैन) ज्योति निकुज, चारबाग, लखनऊ– 226019

विश्व समस्याओं के सन्दर्भ में अनेकांत दर्शन

□ लादूलाल जैन
एम.ए., बी.टी., साहित्य रत्न

असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से जीवन की ओर जाने के लिए मानव जाति निरन्तर प्रयत्न करती रही है। इसी प्रयत्न के फलस्वरूप दर्शनों, धर्मों, सभ्यताओं, संस्कृतियों, राजनीतिक प्रणालियों एवं विचार-धाराओं का जन्म हुआ है। इन्ही के कारण मानव जाति का सतत् विकास, परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होता रहा है। पर यह विकास, परिवर्तन एवं परिवर्द्धन सही दिशा में हुआ है, यह कहना कठिन है। अपने आपको सभ्य, सुसंस्कृत एवं विकसित बतलाने वाला मानव अनेक समस्याओं से आज भी ग्रसित है। जहां एक समस्या का हल वह निकालता है, दूसरी समस्या उसके फलस्वरूप खड़ी हो जाती है। पर मानव थका नहीं है। समस्याओं के समाधान की खोज जारी है। इस खोज के प्रयास में कभी वह गिरता, कभी उठता, कभी लड़खड़ाता है, पर वह अपनी यात्रा मे सदैव गतिशील है।

इसी प्रयास में वह आकाश-पाताल एक कर रहा है। मानव इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अनादि काल से प्रयत्न करता आ रहा है। उसने इस हेतु प्रकृति के तत्वों की खोज की, उन पर विजय प्राप्त की और उनको अपनी सेवा मे नियोजित किया। इन तत्वों की विजय ने उसे जल, स्थल व नभ में निराबाध विचरण करने की शक्ति प्रदान की। वह चन्द्रलोक में विचरण कर चुका है तथा ग्रहों पर भी विचरण की योजनाएं बना रहा है। वैज्ञानिक खोजों व आविष्कारों ने उसके सुख के साधनों में आशातीत अभिवृद्धि की है। विद्युत, रेडियो, टेलीविजन, चित्रपट उसके मनोरंजन में परम सहायक हो रहे है। पर यह सब होने पर भी वह अशांत है, विभिन्न तनावों से वह आक्रांत है, शारीरिक व मानसिक व्याधियों से वह बुरी तरह से पीड़ित है।

जहां प्रकृति के तत्त्वों पर विजय ने उसे शक्ति प्रदान की है वहां विनाश के उपकरण भी उसने अनचाहे ही जुटा लिये हैं। हीरोशिमा व नागासाकी की विनाश-कथा उसकी वैज्ञानिक उपलब्धियों पर अट्टहास कर रही है। दो अणुबमों ने जो विनाशकारी तांडव नृत्य किया, उसका फल अब भी वहा के लाखों लूले, लगड़े, अंधे, बहरे व रोगी प्राणी भोग रहे है। उन राई के दानों से अणुबमों की तुलना मे अब तो विशाल पर्वतों के समान अनेक प्रकार के प्रक्षेपास्त्र आविष्कृत हो चुके है जो कुछ ही मिनटों मे विश्व का विनाश कर सकते है। विश्व का वायुमण्डल युद्ध की काली घटाओं से आच्छादित है जो पता नही कब बरस पड़े।

विभिन्न प्रकार के शारीरिक व मानसिक दु खो मे एव युद्ध की भयकर विभीषिकाओं से बचने हेतु मानव अनथक प्रयास भी करता आ रहा है। राष्ट्र सघ व सयुक्त राष्ट्रसघ की स्थापना का यही हेतु था।

प्रकृति से प्राप्त अद्भुत भौतिक शक्तियो, सुख-सुविधाओ के विभिन्न उपकरणों एव अस्त्र-शस्त्रो को प्राप्त कर भी मानव दु खी क्यो है ? कौन-सा ऐसा तत्व है जो उसके अमृतोपम जीवन मे विष घोल रहा है ? उत्तर है उसका असम्यक् चितन। इस असम्यक् चितन ने उसमें भय, निराशा, असतुलन उत्पन्न किये हैं जिसके कारण वह स्वय से भयभीत है। दूसरों के प्रति सदेह, अविश्वास एव भय की भावनाओ से वह सोते-जागते खाते-पीते आक्रात है। इसी कारण भौतिक सपन्नता के मध्य मे भी वह वैचारिक विपन्नता से ग्रसित है। इस असम्यक् चितन ने ही जहा इस शताब्दि में दो महायुद्धो को जन्म दिया है, वहा निधनता, भुखमरी शोषण व दासता की शृ खलाओ से मानव को जकडा है। भय एव सदेह की प्रवृति ने ही आज आतकवाद (Terrorism) जैसे नये सकट को जन्म दिया है।

इस स्थिति से बचने के लिए मानव ने अनेक प्रयत्न किये हैं, पर ज्यो-ज्यो दवा की, मज बढता गया। इस स्थिति से उबरने का सही उपाय है—मानव का सम्यक् चितन एव तदनुरूप सम्यक आचरण। सम्यक् चितन के अनेक उपाया मे से एक प्रमुख उपाय है—अनेकात दर्शन। अनेकात दर्शन कोई दार्शनिक जटिलता नही है। न वह कोई धर्माधिकारियो पडितो व धर्मवेत्ताओ की ही एकमात्र धरोहर है। वह तो मानव-मात्र के जीवन का सरल सूत्र है।

अनेकात का सीधा-सादा अर्थ है—हम पदार्थ के केवल एक पहलू को न देखें। जगत का कोई भी पदार्थ हो–जड या चेतन, कोई भी विचार-धारा हो–पूजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद कोई भी धर्म हो–हिन्दू, इस्लाम बौद्ध, सिक्ख पारसी, जैन, ईसाई, यहूदी—सब अपने मे विभिन्न पहलुओ एव दृष्टिकोणो को लिये हुए हैं। सबके अपने-अपने गुण एव अवगुण हैं। हम किसी एक पहलू, एक पक्ष को ही न पकडें। जो हमे प्रिय, लाभदायक लगे, उसे जरूर अपनायें, पर उस पर इतना आग्रह न दें कि वह दुराग्रह की सीमा तक पहुच जावे। जिसे हम मानें वही सत्य, अन्य सब असत्य, यह भावना नहीं होनी चाहिए। अनेकात कहता है कि जिसे तुमने समझा है, माना है, वह भी सत्य हो सकता है। दूसरा जो मानता है उसम भी सत्य की गुजाइश हो सकती है, यदि तुम उस पर विभिन्न पहलुओं से विचार करो। जो सत्य हो चाहे वह मेरा हो या पराया, उसे ग्रहण करो, यही अनेकात की जान है। अनेकात कहता है, दूसरो के प्रति सहिष्णु बनो, जो वह कहता है, उसे सुनो, समझो, विभिन्न दृष्टिकोणो से विचार करो, यदि उसम सत्य है गुण है, तुम्हारे अनुकूल है तो उसे ग्रहण करो, यदि नही है तो उसके प्रति असहिष्णु मत बनो, माध्यस्थ भाव रखो—न प्रीति, न द्वेष। भौतिक जगत मे जो सापेक्षतावाद (Theory of Relativity) है, वही वचारिक जगत में अनेकातवाद है। आवश्यकता है अनेकातवाद को सही परिप्रेक्ष्य मे देखने की, उसे सही अर्थों मे समझने की एव अपने विचारो मे परिवर्तन लाकर तदनुकूल जीवन मे लागू करने की।

अनेकात दर्शन के अनुयायियो का यह परम कर्तव्य है कि वे स्वय अनेकात दर्शन को सही रूप मे समझें एव विश्व के समक्ष सही रूप से रखें। विश्व शाति लाने एव विविध व्याधियो से कराहती हुई मानवता को सुखी बनाने मे यह उनका बडा भारी योगदान होगा। □□

महावीर प्रभु की वाणी

☐ राजमल पवैया

महावीर प्रभु को वाणी उत्तम सन्मार्ग दिखाती है।
ज्ञान प्राप्ति के लिए योग्यता सदाचार से आती है ।।टेर।।

तृष्णाओं का ज्वार सहज ही धीमे धीमे होता शान्त।
काम क्रोध माया विभाव के भाव स्वत: होते दिग्भ्रान्त ।।
विनय भावना दृढ़ होते ही अहंकार हो जाता क्लान्त।
इन्द्रिय विषयों से विरक्तता अंग अंग में भरी प्रशान्त ।।
मोह भाव की वायु भयंकर पथ से डिगा न पाती है।
महावीर प्रभु की वाणी उत्तम सन्मार्ग दिखाती है ।।1।।

परनिंदा से वचकर रहता आत्म प्रशंसा से अति दूर।
चाहे जैसी विपत्ति घेरे धैर्य भाव से करता चूर ।।
कर्मोदय के सुख दुख दोनों में ही रखता सम परिणाम।
सूक्ष्म वोध का अभिलाषी वन सरल भाव रखता वसुयाम ।।
सतत निरंतर ज्ञानी की परिणति ही इसे सुहाती है।
महावीर प्रभु की वाणी उत्तम सन्मार्ग दिखाती है ।।2।।

शारीरिक वेदना देह का धर्म मानकर सहता है।
धन लक्ष्मी परिवार आदि से निर्ममत्व हो रहता है ।।
सतत आत्म कल्याण भावना की धारा में वहता है।
अनायास ही जन जन को सन्मार्ग दिखा देता है ।।
वाह्य वृत्तियां रुक जाती हैं ज्ञान क्रिया ही भाती है।
महावीर प्रभु की वाणी उत्तम सन्मार्ग दिखाती है ।।3।।

सत्पुरुषो के प्रति प्रमोद की है महान भावना प्रशस्त ।
ज्ञान मार्ग से जो विपरीत वृत्ति वाले उनसे मध्यस्थ ।।
दुखी जनो के प्रति करुणा है ज्ञान साधना मे अभ्यस्त ।
मैत्री भाव सभी से रखता निजस्वभाव को रखता स्वस्थ ।।
अतर्मुख होने का ही पुरुषार्थ स्वय की थाती है ।
महावीर प्रभु की वाणी उत्तम सन्मार्ग दिखाती है ।।4।।

यह ससार विषम कारागृह क्षणक्षण मे भासित होता ।
देह छूटने सबधी दु ख से न कभी त्रासित होता ।।
रागद्वेष की भीषण कल्लोलो मे कभी नही बहता ।
वस्तु स्वरूप जान समता के सागर मे बहता रहता ।।
ज्ञानाभ्यास भावना अतर मन में रस बरसाती है ।
महावीर प्रभु की वाणी उत्तम सन्मार्ग दिखाती है ।।5।।

सम्यक् दर्शन रत्न प्राप्त कर मोक्ष मार्ग पर चलता है ।
निज आत्मोपयोग को थिरकर पर मे नही मचलता है ।।
जो विभाव के शूल मार्ग मे आते उनको दलता है ।
आत्मभावना मे रत रहता पुण्य भाव भी खलता है ।।
पूर्ण सिद्धि को पा निजात्मा सिद्ध लोक तक जाती है ।
महावीर प्रभु की वाणी उत्तम सन्मार्ग दिखाती है ।।6।।



प्रदर्शन में नहीं, आत्मदर्शन में महावीर उतरें

☐ डॉ० नरेन्द्र भानावत

श्रमण भगवान महावीर को हुए आज ढाई हजार वर्षों से अधिक समय हो गया है। इस दीर्घकालावधि में मानव सभ्यता के इतिहास में कई परिवर्तन हुए है और उनसे हमारा वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन काफी हद तक प्रभावित हुआ है। हमें देखना यह है कि भगवान महावीर जिन मानवीय मूल्यों और सद्भावनाओं के लिए राजसी भोग-विलास और प्रभुसत्ता को त्याग कर आत्म-साधना के पथ पर अग्रसर हुए, वे मूल्य और भावनाएं हममें कितनी उतर पायी हैं और उनसे हम कितने प्रभावित और प्रेरित हुए है।

यदि हम गहराई से देखें तो पता चलता है कि विज्ञान की प्रगति के कारण तकनीकी क्षेत्र मे द्रुत गति से जो विकास हुआ है, उससे भौतिक सुख-सुविधाए काफी वढी हैं, पर दुःख का मूल कारण जो राग-द्वेष है, उसमें कमी नही हुई, वरन् नाना क्षेत्रो मे कषाय की प्रवृत्तियां वढ़ी है। जीवन में सरलता और सादगी के स्थान पर वक्रता और दिखावा निरन्तर वढ़ता गया है, जनसंख्या की वढ़ोतरी के कारण महा नगरीय सभ्यता का निरन्तर विकास होता जा रहा है। आर्थिक दवाव, कण्ठछेदी प्रतिस्पर्धा और सामाजिक विखराव तथा पारिवारिक विघटन के कारण पारस्परिक प्रेम, सहयोग और वन्धुत्व की भावना में आनुपातिक ह्रास होता जा रहा है। इन सवके सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप जीवन में निराशा, कुण्ठा, संत्रास, भय और असुरक्षा की भावना वढती जा रही है।

भगवान महावीर ने वारह वर्षो की कठोर साधना के फलस्वरूप जगत को अपने अनुभव का अमृत वांटा, उसमे अहिंसा, संयम और तप का मिठास था। पर आज हम जो जीवन जी रहे हैं, उसमे हिंसा, असंयम और भोगवृत्ति चरम सीमा पर है। आज हम अपने से परे जो पदार्थ हैं, उनको प्राप्त करने के लिए वेतहाशा दौडते हैं, छलछद्म करते हैं, असली वस्तु मे नकली वस्तुओ की मिलावट करते हैं, आत्म-प्रवंचना द्वारा दूसरो पर झूठा प्रभाव अंकित करते हैं और इस प्रकार प्रतिक्षण स्वयं को छलते रहते है, अन्दर ही अन्दर टूटते रहते हैं, न अपने को वुन पाते हैं, न दूसरों को वना पाते हैं। स्वय वदलने के वजाय, दूसरो से वदला लेने मे ही अपनी जीवन ऊर्जा का इस्तेमाल करते हैं।

आज हमने अपने को ही नही, अपने आराध्य अर्हन्त जिनेश्वर भगवान महावीर तक को प्रदर्शन में ला उतारा है। महावीर मन मंदिर में विराजमान न होकर आज वाजार में प्रदर्शन की वस्तु वने हुए हैं। वे वस्तुओं और दुकानों में सजे-संवरे दिखते हैं।

महावीर के नाम पर यह प्रदर्शन व्यक्ति और समाज दोनो स्तर पर दिखायी देता है। व्यक्ति स्तर पर हम इतने अधिक कषायकर्मी हो गये हैं कि अपने अन्तमन की आवाज सुन नही पाते। भोग-लिप्सा का आकर्षण इतना बढ गया है कि सामाजिक स्तर पर किये जाने वाले प्रदर्शन को हमने बडप्पन का मापदण्ड बना लिया है। चाहे विवाह-संस्कार हो अथवा मरण संस्कार, धार्मिक उत्सवो का आयोजन हो अथवा तपस्या का समारोह सबमे प्रदर्शन की होड है। राम-नाम मे भी विश्राम नहीं, दौड ही दौड है। दया, करुणा और सेवा के नाम पर भी प्रदर्शन हावी है। इन सेवा कार्यों मे हमारा राम-रोम अनुकम्पित नही होता, बल्कि यश कामना से हमारे रोगटे खडे होते हैं। 'काम कम और बातें ज्यादा'' यह हमारी सामाजिकता बन गयी है। अपने अन्तर से जुडने वाले धार्मिक अनुष्ठान यहा तक सामायिक, स्वाध्याय, पौषध प्रतिक्रमण भी रुटीन यान्त्रिक बन गये हैं। लगता है महावीर को हम बाड रूप मे पूजते, सवारते और सभालते हैं लेकिन जिस फसल की रक्षा के लिए बाड लगायी है, वह फसल गायब है उसे उगने, फूलने का हम अवसर ही नही देते।

यह प्रदर्शन सामाजिकता तक ही सीमित नही रहा है। इसने हमारी धार्मिकता और आध्यात्मिकता को भी ग्रसना आरम्भ कर दिया है। इसीलिए अहिंसा का कार्य हममे प्यार नहीं पैदा कर पाता, सयम का भाव हममे शक्ति नही भर पाता, तपस्या का ओज हमे सहिष्णु और तेजस्वी नही बना पाता। लगता है धर्म साधना स्नेह नही, सौदा बनती जा रही है, सेवा नहीं, सत्ता प्राप्ति की दौड बनती जा रही है। हममे सद्गुणो का भराव नही, शक्ति कणो का बिखराव होता जा रहा है। इस स्थिति को बदलने की आवश्यकता है।

यह बदलाव तभी सम्भव है, जब हम भगवान महावीर और उनके आदर्शों को अपने से अलग, प्रदर्शन और बाजार की वस्तु न बनायें वरन् उन्हे अपने निज पर निज ज्ञान और आत्म दर्शन मे उतारें। इसके लिए 'पर' का सग छोडना होगा। आत्मा को आच्छादित करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आवरणों को भेदना होगा, छेदना होगा। यह सब तब होगा जब हम इन्द्रियो की भोग वृत्ति से ऊपर उठेंगे। पचतत्वो से जो यह शरीर बना है उसकी सवेदना के स्तर पर समझने का प्रयास करेंगे और जड भावो से ऊपर उठकर चैतन्य भावो मे रमण करेंगे, देह से अतीत होंगे, शरीर और आत्मा के भेद विज्ञान को समझेंगे और यह अनुभव करेंगे कि शरीर मे जो पृथ्वी तत्व है वह धूल धूसरित नही, वह क्षमा और सहिष्णुता का स्पर्श है। उसमे फैलने, सकीर्णता से छूटने शेष सृष्टि के साथ अनुरागात्मक सबध जोडने की ताकत है। कोई हमे कितना ही रौंदे, पर उसके प्रति क्षमा और सहनशीलता का बहाव है।

हमारे शरीर मे जो जल तत्व है, वह प्रेम, करुणा और तरलता का प्रतीक है। दूसरो को दुखी देखकर उसके दुख को दूर करने के लिए पिघल जाना सच्ची मनुष्यता है। जब भीतर से प्रेम उमडता है जब भीतर का कल्मष गलता है तो रोम रोम से प्रेम और मित्रता के आसू प्रवाहित हो उठते हैं। जल तत्व ही सृष्टि की खुशहाली का आधार है। इससे ही तपती दोपहरी शीतल फुहार बनती है। शरीर का अग्नि तत्व ओज और शक्ति का प्रतीक है। समस्त विकारो को जलाकर यह तत्व आत्मा को कुन्दन की भाति चमका देता है। जितनी भी वियोगिन आत्माए हैं पश्चाताप की आग मे तप-तप कर शुद्ध बनी हैं भोग को गला गला कर योग की ओर बढी हैं। चाहे राधा हो चाहे सीता हो, चाहे मीरा चाहे पार्वती हो चाहे उर्मिला सभी तपस्या की आग मे जल-जल कर अपने प्रिय परमात्म से मिली हैं स्वय परमात्ममय बनी हैं।

वायु तत्व तो अनमोल तत्व है। यही ऐसा तत्व है, जो व्यक्ति को भीतर से जोड़ता है। बाहर से भीतर जाकर और भीतर से बाहर आकर व्यक्ति की प्रकृति को, उसके स्वभाव को, अनुकूल-प्रतिकूल, शीत-उष्ण, हल्की-भारी, दशा को प्रगट करता है। इस तत्व द्वारा साधक अपने स्वभाव को, आंतरिक प्रकृति को जान पाता है और साधना द्वारा विषमता में समता व्यग्रता में एकाग्रता स्थापित करने मे सामर्थ्यवान बनता है। मन मे उठे हुए उद्वेग को, आवेश को उत्तेजना को शान्त करना हो तो अपने श्वास को शान्त कर लीजिए, मन शान्त हो जायेगा। पर आज हमारा श्वास सहज नही है। जब तक बाहरी विभावो मे प्रदर्शन और दिखावा हैं, व्यक्ति उनमे रमता है, फसता है, तब तक उसका श्वास स्वभाव मे कैसे रहेगा? सहज कैसा बनेगा? अपने महावीर से कैसे जुड़ेगा? इसीलिए सभी साधना पद्धतियो मे मन के निग्रह के लिए, बुद्धि की स्थिरता के लिए, हृदय की निर्मलता के लिए श्वास को साधने पर, उसे सहज बनाने पर बल दिया गया है।

जब शरीर के पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्व सजग रहते है, सवेदनशील रहते है, तब आकाश तत्व सचमुच शून्य बनकर प्रकट होता है। यह शून्यता नकारात्मक नही, सकारात्मक है। आकाश यानि असीम, अनन्त। जब अणु विभु बनता है, जब जीव शिव बनता है, जब मन महावीर बनता है, जब प्रदर्शन आत्म दर्शन बनता है, तब आकाश प्रगट होता है, तब साधक समस्त भेदभावों से ऊपर उठ जाता है। आकाश अपने मे सबको समा लेता है। यह सबको समाने की, समेटने की ताकत तब आ पाती है, जब व्यक्ति अन्तर्मुखी बनता है, अपने आत्मदर्शन में उतरता है।

कहा जाता है कि भरत चक्रवर्ती थे। इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती। अनन्त वैभव और शक्ति के धनी। 14 रत्न प्रकट हुए थे उनके शासन काल में। एक दिन शीशमहल में बैठे-बैठे उनकी अंगूठी अंगुली से गिरकर अलग हो गयी तो उनका आत्म बोध जागा। अगुली अपना सौंदर्य खो बैठी। अंगूठी के अभाव मे वह सूनी और सौन्दर्यहीन लगी। भरत का चिन्तन प्रदर्शन से आत्म दर्शन की ओर लौटा। वे अनुभूति के स्तर पर समझ पाये कि सच्चा सौन्दर्य बाहर नही, भीतर है। आत्म सौन्दर्य ही शाश्वत सौन्दर्य है, जो किसी पर आधारित नही, किसी का मोहताज नही। कोई कितनी ही तपस्या करे, जब तक प्रदर्शन का थोड़ा भी अंश रहता है, आत्म दर्शन नहीं हो पाता। उग्र तपस्वी बाहुबली! अनवरत तपस्या! शरीर के चारो ओर बेले उग आयी, सापों ने अपने बिल बना लिये, घोर साधना, एकान्त मौन, पर अहंकार का छोटा सा दंश। अपने से छोटे भाई, जो मुनि बन गये है, उन्हे वन्दन नमस्कार करने कैसे जाऊं? अहम् का यह हाथी दीवार बनकर खड़ा है आत्म साक्षात्कार के बीच। ब्राह्मी और सुन्दरी दोनो बहनें, जो साध्वी बन गयी, उनकी आवाज जब कानों में पड़ी "वीरा! गजथकी नीचे उतरो, गज चढ्यां केवली नहोमी" बाहुबली का ध्यान तुरन्त इन शब्दो पर गया। वे चिन्तन करने लगे। यहां कहां है हाथी? किस हाथी पर मैं चढ़ा हुआ हूं? थोड़े और गहरे उतरे तो लगा यह अहम् का हाथी है, जो आत्म-साक्षात्कार में, परमात्म-दर्शन में बाधक बना हुआ है। अन्तर मे विवेक जागृत हुआ और सब प्रकार के विकार नष्ट हो गये, केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रकट हो गया।

जहां-जहां प्रदर्शन है, चाहे वह किसी भी स्तर पर हो, भारी या हलका, स्थूल या सूक्ष्म, वह मन को महावीर नहीं बनने देता। महावीर बनने के लिए आवश्यक है—हम प्रदर्शन मे नही, आत्म दर्शन मे उतरें। 

महावीर की वाणी से सम्भव होगी शान्ति

□ बिहारीलाल मोदी शास्त्री
वडा मलहरा

फैला अत्याचार जगत मे, मची हुई है भीपण क्रान्ति ।
महावीर की वाणी से ही, सम्भव होगी जग मे शान्ति ।। टर ।।

नग्न नृत्य करती है हिंसा, मारधाड का गर्म वाजार ।
इज्जत लुटती चौराहो पर, भीपण होता भ्रष्टाचार ।।
विपय भोग का वना पुजारी, कचन कामिनी का है दास ।
न्याय नीति ईमान धर्म मे, नही रहा नर को विश्वास ।।
धन लिप्सा के कारण जग मे, वनी हुई है अति ही क्लान्ति ।
महावीर की वाणी से ही, सम्भव होगी जग मे शान्ति ।।1।।

जीव जगत के सभी वरावर, कोई किसी से हीन नही ।
छोटा वडा नहीं है कोई, कोई धनो या दीन नही ।।
काया की है माया सारी, जिससे तू स्वाधीन नही ।
भौतिकता की काली छाया, नैतिकता आधीन नही ।।
महामोह मे मतवाला तू, पाल रहा है झूठी भ्रान्ति ।
महावीर की वाणी से ही, सम्भव होगी जग मे शान्ति ।।2।।

जियो और जीने दो सव को, यही पढाना जग को पाठ ।
तन धन वल वैभव का, झूठा होता जग मे ठाठ ।।
आय अकेला जाय अकेला, साथ नही कुछ जाता है ।
ममता मोह परिग्रह त्यागो, जैन धर्म सिखलाता है ।।
वीर धर्म को धरो 'विहारी", तव ही होगी मन विश्रान्ति ।
महावीर की वाणी से ही, सम्भव होगी जग मे शान्ति ।।3।।

□

महावीर, महावीर का मार्ग और हम

☐ ज्ञानचन्द बिल्टीवाला

महावीर अद्भुत है। उनका दिगम्बरत्व हमारे वस्त्र, मकान, जायदाद, यान, परिवार सबका परिहास करता लगता है। उनके सन्मुख जाते ही हमारा ध्यान महावीर और हमारे बीच के इस अन्तर पर बरबस जाता है। हमने महावीर के चारो ओर मन्दिर बना दिये है और देवताओं ने समवशरण, पर वस्तुतः तो महावीर का मन्दिर तो खुले आकाश के नीचे सारी पृथ्वी थी। राजमहलो को छोड़ पंचमुष्टि केश लुंचन कर षण्ड वन मे मंगसिर वदी दशमी के दिन तीस वर्ष की भरी जवानी में चांद, तारे, सूर्य से जटित, बादलों की चित्रकारी से चित्रित आकाश को ही महावीर ने अपनी छत बनाया था और शिलातल ही शैय्या। निर्वस्त्र रह धूप, छाह, गरमी, सर्दी सबको खुला आलिंगन दिया था। सारी आरम्भ परिग्रह से धूसरित मानव की नगरीय ग्रामीण सभ्यता को महावीर ने एक बारगी में ही अप्रासंगिक, व्यर्थ करार दे दिया था।

महावीर ने वस्त्राभूषण उतार कर निर्वस्त्र होते हुए मानो कहा था–"इन कृत्रिम सुरक्षाओं, सज्जाओ ने मेरे में असुरक्षा और कुरूपता के बीज बोये है। कर्म प्रकृति ने यह तन रचना की है। जैसी की है मेरे लिये तो सुन्दर है। उसमे मुझे क्या कुरूप जिसे मैं छिपाऊं, सजाऊँ। सर्दी-गर्मी, सिंह, सर्प से इसकी रक्षा हेतु इसे वस्त्र और मकान मे भी क्यों छिपाऊं? कर्म प्रकृति ही इसकी सुरक्षा कर सकती हो तो करे, न कर सके तो जाने दें। अन्य बुने, अन्य भी न बुन सकें तो मुझे यों ही छोड़े। मैं चेतन प्रभु असंख्यात प्रदेशी, ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय धारी अपने में पर्याप्त हूं। मुझे प्रिय अपने इस ज्ञानादि गुण वैभव से अवकाश कहाँ कि कर्म प्रकृति की सनक से रचे शरीर की सार सभाल में लगूं और जन जन का, कण कण का चेरा बनूं। मैंने अब तक प्रकृति की चाकरी की है और प्रकृति कभी रुष्ट, कभी तुष्ट हुई और उसने देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच (पशु आदि) बनाया, मुझे एकेन्द्रिय पेड़-पौधा तक बनाया और मैं नही समझ पाया कि यह दुष्ट प्रकृति मेरे द्वारा सेवनीय नहीं है। इसके पुरस्कार सब भौंड़े हैं। इसके द्वारा तो दी हुई देव पर्याय भी आकुलता से भरी हुई है। मैं अब से इसकी सेवा का सर्वथा परित्याग कर मेरी चैतन्य-प्रभुता की सेवा करूंगा। मैं जानता हूं प्रकृति उससे रुष्ट होगी और असाताओं के मुझ पर प्रहार करेगी। ये चारों ओर खड़े कायर जन इन प्रहारों से डर कर ही चैतन्य प्रभुता की सेवा की मेरी अपनायी राह पर नही आते और मेरी ओर विस्फारित नेत्रों से देखते है, मानो मैं दुःखो के गर्तों मे

धसने की राह जा रहा हू । अरे बावरो ! दुख के गड्ढे तो तुम्हारी राहो मे, प्रकृति की सेवा की राहो मे हैं। तुम नही जानते कि जिस धारा मे तुम वह रहे हो वह कब समतल भूमि को छोडकर दूर नीचे निमम चट्टानो पर जा भरेगी और तुम खण्ड खण्ड हो जाओगे, न तुम अपने को पहचान पाओगे, न अन्य तुम्हें पहचान पायेंगे। यह कोई मेरी सनक नही है कि मैंने प्रकृति की सेवा करना छोड चैतन्य प्रभुता की सेवा करनी ठानी है। सनक तो मेरी तब थी कि जब मैं चैतन्य प्रभुता की सेवा छोडे बैठा था और कर्म प्रकृति की सेवा कर रहा था। तुम ही सोचो कर्म प्रकृतिया बडी या चैतन्य प्रभुता बडी। चैतन्य प्रभुता तो तुम स्वय हो, अनादि से तुम्हारी सपदा है। उसकी सेवा, सेवन करो तो कर्म प्रकृति तुम्हे पूजने, आराधने, चेरीबनकर चरणो की परिक्रमा लगाने को बाध्य है। तुम चैतन्य प्रभुता से मुह मोडे हो, यह एक अपराध है, और कर्म प्रकृति तुम्हे ज्ञानावरणादि आठ-आठ बन्धनो मे इसी अपराध मे बाधती है, मानव पशु देह देती है और ससार परिभ्रमण की कुरूपताओ मे तुम्ह घिसटने को बाध्य करती है। वैसे तो कर्म प्रकृति की सुन्दरतायें भी कुरूपतायें हैं, पर तुम्हारी ही मानी हुई सुरूपता कुरूपता मे बहुभाग कुरूपता है और एक अल्प भाग ही सुरूपता है। निगोद और एकेन्द्रिय जगत द्विन्द्रियादि विकलेन्द्रिय जगत, सातो नरको की असख्यात् नारकी राशि और चीर–फाड-भार वहन को सहता पशु जगत प्रकृति की कुरूपता का बडा भण्डार है। क्या प्रकृति इस भण्डार को बन्द कर सब जीवो को तुम्हारी सुरूप मानी मनुष्य और देव की देह वितरित कर सकती है ? थोडे से स्वर्ग के विमान और ढाई द्वीप के मानव लोक तो एक निगोद शरीर मे कैद अनन्त जीव राशि को मानव और देव बनाने पर छोटे पडेंगे पाव धरने को जगह नही रहेगी, एक पर एक को रख कर ठसाठस भरने पडेंगे और फिर भी उस अनन्त राशि का एक भाग ही प्रकृति का कृपाभोगी बन पायेगा, शेष बहुभाग तो लटका रह जायेगा।

'ऐसा नही है कि प्रकृति निगोद राशि मे बंद जीवो को बाहर निकालती ही न हो। 6 माह और 8 समय म करीब 608 जीव निगोद राशि से बाहर निकलते हैं और इतने ही मानव ससार मुक्त अशरीरी परमात्मा बन जाते हैं। मोटे रूप में यह प्रकृति मे व्यवस्था है। इस ही व्यवस्था से आज तुम हम मानव बन मोक्ष के द्वार पर आ पहुचे हैं। आरम्भ परिग्रह मे–वस्त्र, मकान, यान की कुरूपता मे अटक न रह हमे ससार देहली को पार कर मुक्ति के लोक मे प्रवेश कर जाना चाहिए और निगोद म पीडा पा रहो को बाहर निकलने का अवसर देना चाहिए कि वे बाहर निकल सकें, आगे बढ सकें। यदि हमने स्वेच्छा मे मानव-देव देहो का लाभ नही छोडा तो प्रकृति को विवश हो हमे एकेन्द्रिय बनाना होगा, निगोद भेजना होगा और अन्यो को अवसर देने होंगे।

'थोडा और सुनो। जिसे तुम प्रकृति कहते हो जिसके पुरस्कार स्वरूप यह देह धरे हो, जिसे प्रसन्न कर नये नये पुरस्कार पाना चाहते हो, वह प्रकृति है कौन ? अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओ के सचय से एक एक कार्माणवर्गणा बनती है और ऐसी अनन्त वर्गणाओ अभव्यो से अनन्त गुणी और सिद्धो के अनन्तवें भाग,जीव अपने योग उपयोग की मलिनता से आश्रवित कर पुण्य पाप रूप बाध लेता है और वह बाह्य अभ्यन्तर अनुकूलता पाने पर अपना फल जीव को देती है यह ही प्रकृति है। तो

इस प्रकृति की रचना जीव करता है, अन्यथा तो वह पुद्गल राशि है, प्रकृति नही। इसे प्रकृति रुप में जीव अपने योग-उपयोग के प्रयोगों से करता है। वह जीव के सदसत् योग-उपयोग की छाया है। प्रकृति जीव की पुद्गल में छाया और जीव प्रभु उस छाया से डरे, उसका चेरा वनकर डोलता फिरे, यह कैसी विडम्वना है।

"और पुद्गल में छाया रचने वाला जीव प्रभु कौन है? योग उपयोग का उत्पादक ज्ञान-दर्शन सुख-वीर्य चतुष्टय का धारी, क्षमा-मृदुता-ऋजुता आदि अनेक गुणों से मंडित चेतन प्रभु अपनी प्रभुता से स्वसंवेदन में नित्य प्रकट अपने परिचय के लिये किसी अन्य गुरु या पुस्तक की अपेक्षा नहीं रखता। ऋषभादि पूर्व महापुरुषों ने मानव को अपनी चैतन्य प्रभुता को पहचानने को जगाया मात्र है। शब्दातीत प्रभुत्व को समझना स्वयं से स्वय को होगा। शब्दो में महापुरूप इतना ही कह पाये है कि इसके ज्ञान में लोकालोक आकाश के कोने मे झलकते एक तारे की भाति वसते हैं, सर्वार्थ सिद्धि का देव अपनी एक अंगुली से अपने वल प्रयोग से सम्पूर्ण लोक को उलट पुलट सकता है, पर उससे अनन्त गुने शुद्धात्मा के वल-वीर्य की तो कोई उपमा ही नही है। ऐसे ही आत्मा के सुख की उपमा में कहते हैं कि सव इन्द्रों और चक्रवर्तियों के सव कालों के सुख को एकत्रित करले तो वह सिद्ध परमात्मा के एक समय के सुख का अनन्तवाँ भाग भी नही है। ऐसा चेतन प्रभु आत्मा का वैभव चिन्तामणी स्वरूप, और प्रकृति दत्त स्वर्ग सम्पदा कानी कोढी भी नही। मेरा इस ओर उद्यम कितना सम्यक् है, कितना सुन्दर है।" परिजन कहते थे, महावीर घर मे वैठकर ही आत्म कल्याण करलो, ज्ञानार्जन करलो। वडे वड़े विद्वान गुरुकुलो में, घरों में क्या नही हुए है? तुम्हें तो सव सुविधा है। जो चाहो जैसे चाहो अपना कल्याण करो और अन्यो के हितार्थ विद्यालय, औपधालय, भोजन शाला आदि खोलो। अति कठोर उग्र राहो पर चलने के स्थान पर कोई माध्यम, कोमल राह पकड़ो। महावीर के चेहरे पर स्मरण कर मुस्कान दौड़ गयी। मानो कह रही हो, मृदु मध्यम उन्हे चाहिए, जिनमे शक्ति न हो। शक्तिमान को कठोर क्यों?

"और फिर जितनी मृदु राह होगी शरीर और इन्द्रियों की गुलामी रूप होगी—इससे तो मुक्ति का मार्ग अति लंवा हो जायेगा, कर्म वेल सिंचित होती रहेगी, कटेगा जितना ही बुनता रहेगा। मोक्ष का मार्ग कोई कितावी विद्वता का, भाषण दे देने का मार्ग नही है। यह तो व्यवहारतः जीने और कर्म शृंखलायें तोड़कर वंधनमुक्त अपने गुण वैभव को, योग-उपयोग को करने का मार्ग है। वंधन तोड़ने है, तो क्या सर्दी लगना, गर्मी लगना, कंकड पत्थर की चुभन वर्दास्त न होना, भूख लगना, प्यास लगना, नीद आना, थकान होना, नग्नता मे लज्जा लगना, आभूषणों से सुन्दर लगने का भाव होना आदि क्या वंधन नही है? यदि ये वंधन है और तोड़े जाने चाहिए तो मैं तोड़ने ही का तो उपक्रम कर रहा हूं। तोड़ने से ही तो टूटेंगे और वंधन, ये और अन्य सभी, टूटेंगे तो ही अनन्त चतुष्ट्य सिद्ध होंगे, मुक्ति का महावैभव प्राप्त होगा। घर मे रहते, वस्त्रादि की सुरक्षा में तो आधे अधूरे ही तोड़े जा सकते है, और आधे वंधन वने रहते कोई केवल ज्ञान पैदा नहीं कर सकता। ऋषभदेव पुत्र भरत ने घर में रहते ही वहुत आत्म साधना की थी पर केवल ज्ञान तो सर्व आरम्भ परिग्रह का त्यागी निर्वस्त्र, निर्ग्रन्थ वनने पर ही प्रकट हुआ। मेरी छोटी सी 72 वर्ष की आयु मे शीघ्र कार्य का उपाय तो तप का मार्ग ही है। इसमें मुझ वज्रवृषभ नाराच संहनन के धारी के लिये कठिन क्या है? कांटों के वीच ही मेरे तो नित्य नवीन आनन्द के फूल खिलेंगे। धन्य धरती

शक्ति के अनुरूप अपने मार्ग चुनें। वे स्वतन्त्र हैं, पर शक्ति न छुपायें। मीठा तो जितना गुड डालेंगे उतना ही होगा।

× × × ×

महावीर वारह वर्ष तप के मार्ग पर चलते रहे। यदा कदा ही आहारार्थ नगर ग्राम मे गये और बहुत कम, अल्प सी निद्रा ली। उनका हर क्षण मुक्त आनन्द मे जागरण था। वे मुक्ति का अहर्निश दर्शन वेदन करते थे। अपनी ओर उन्मुख होते तो आनन्द का स्फुरण ऐडी से सर तक, पौर पौर में उन्हे होना था, पौर पोर मे ज्ञान की दीप्ति से दीप्त, वल वीर्य का भण्डार वेदते थे। निराशा, थकान उकताहट, किसी प्रकार का चिडचिडापन उन्हें अपने मे कही नही लगता था, आनन्द के उछालो मे सब धवल हुआ जाता था। उन्हें प्रतिदिन ही लगता था—इतना सुख, बल, ज्ञान ज्योति का वेदन तो पहले कभी नही हुआ। घडी घडी की काल यात्रा उन्हें आनन्द के अपूर्व लोको की यात्रा लगती थी, स्वय की किन्ही अतल गहराइयो से आनन्द उजाले फूट पडते थे और वे उनसे सरावोर, भास्वर हुए जाते थे। पदयात्रा से उन्होंने प्रदेशो की दूरियां जीती थी, दुरूह पहाडों की ऊँची चोटियां अपने पदचाप से छोटी की थी, नीचे मुँह फाडे भयावह गहराईयो को एक टक देखकर भय को जीता था और वहा ही स्थिर हो आत्म चिंतन, लोक चिंतन किया था।

महावीर ने न केवल अपने मे दुराव छिपाव मिटाया था, भागना छोडा था, मैत्री स्थापित की थी, उन्होंने अपनी मैत्री और करुणा का सर्वत्र प्रसार किया था। वन के पेड पौधे महावीर के मित्र हो गये थे, उनके सानिध्य को पाकर पुलकित हो असमय में ही फल फूल उठने थे, सिंह अपनी हिंसामयी भूख भूलकर गाय वन चरणो मे बैठ प्रसन्न होता था, और निर्भय हो मृगशावक वहा ही विश्राम लेते थे। लगता था मानो अपनी मुक्ति मे महावीर ने वन खण्ड को भी उसके जगली पाशविकताओ, भयों से मुक्त कर दिया था। सभ्यता का दम्भ भरने वाले पुलिस, फौज और कानून से लौकिक महाराजा मानव की जिन क्रूरताओं, पाशविकताओ, भयो को अपने हजारो लाखो वर्षो के श्रम से न मिटा सके, महावीर वन खण्ड की पाशविकताओ भयो को अपने पहुचने के साथ ही मिटा देते थे और वहा चारो ओर सुरक्षा, शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाता था।

नगर, ग्राम से भी महावीर गुजरते थे, वहाँ रुकते थे। उनके बाहर चौराहो पर, किन्ही एकान्त स्थानो पर खडे बैठे अपने ध्यान चिन्तन को प्रसार देते थे, गहरा करते थे। पशु की भाति निरीह न होते और भाति भाति के कुश्रुत पठित, मिथ्यात्वो से ग्रसित भी मानव अहिंसा की मूर्ति की उपस्थिति म प्रशान्त ही परस्पर स्निग्ध व्यवहार करते थे। एक प्रकार मे प्रशासन अनावश्यक हो जाता था और जन जन उनके दर्शनो का उमड पडता था। महावीर सबको अपने लगाते थे, तो महावीर की दृष्टि मे भी सब भगवान आत्मा अपने थे। उनकी दृष्टि म धर्म सम्प्रदाय, जाति का भेदभाव नही था, गरीब, अमीर का राजा-रक का भेद नही था।

लोग दर्शनार्थ आते, पर महावीर मौन थे। मौन हो शरीर मात्र से अहिंसा, अपरिग्रह और अध्यात्म का पाठ पात्र की योग्यतानुसार महावीर जन जन को सिखा रहे थे। महावीर का किसी नगर ग्राम मे आना वहा के वातावरण मे एक क्रान्ति कर देता था, उसके इतिहास को एक सुखद मोड द देता था पर्व वन जाता था।

महावीर का तप कोई कांटों पर सोना, अग्नि जलाकर तपना नहीं था। खुले आकाश और चारों ओर फैली कृत्रिम अकृत्रिम रूप लिये पृथ्वी में सहज जो उपलब्ध था उस सब जड़ चेतन के बीच स्व पर कल्याण का चिंतन, वेदन, कृतकारित (अवाक् रूप से) और अनुमोदना के द्वारों से कल्याण मार्ग पर बढ़ते जाना ही उनका तप था। कठिन को सरल करते जाना और ज्ञानादि गुण वैभव की अपूर्व, आज तक अस्पष्ट रही ऊँचाइयों पर आरोहण करते जाना, दर्शन-ज्ञान-चरित्र के तीन रत्नो को चमकाते जाना ही उनका तप था। सामान्यतः तो चारों ओर विकीरत हो रहे पुण्य प्रभाव से कोई पशु, मानव महावीर पर उपसर्ग करने की बात भी नही सोच सकता था। शास्त्रों में आये वर्णन के अनुसार अतिमुक्तक श्मशान में रुद्र द्वारा रात भर किये गये उपद्रव की भांति कोई उपसर्ग हुए भी, तो वे महावीर को विचलित करने में समर्थ नहीं थे। उनके बीच अविचल रह वे अपने को और खरा बना लेते थे और उपसर्ग कर्त्ता ही रुद्र की भाति चरणों में झुकने को बाध्य होता था।

12 वर्ष तक मँजते-मँजते निर्मल होते महावीर जृम्भिक ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के किनारे बेला का नियम ले ध्यान करने बैठे तो वैशाख शुक्ला दशमी को अपरान्ह मे केवल ज्ञान के शिखर पर आरोहण कर गये। महावीर की साधना पूरी हुई। समवशरण सभा की रचना हुई और शब्दों में कल्याण मार्ग की गंगा प्रहाहित हुई जो एक भाग मे हमें भी प्राप्त है। वह गंगा महावीर की भांति ज्ञान लोक में अवगाह करने और तप के मार्ग पर चलकर आत्म शुद्धि करने को अपने कलकल स्वर से अहर्निश हमें जगा रही है। क्या हम जागेंगे ?



जीव को दर्शन-ज्ञान प्रधान चारित्र से देवेन्द्र, असुरेन्द्र और मनुजेन्द्र के वैभव के साथ निर्वाण प्राप्त होता है। चारित्र वास्तव मे धर्म समभाव कहा गया है। मोह-क्षोभ विहीन आत्मा का परिणाम समभाव है। जीव जिस समय जिस भाव रूप से परिणामित होता है वह उस समय उस मय कहा गया है। अतः धर्म से परिणित आत्मा को धर्म जानना चाहिए। (प्रवचनसार गाथार्थ 6 से 8)

धर्म से परिणमित आत्मा जब शुद्ध उपयोग वाला होता है तो निर्वाण सुख प्राप्त करता है और शुभ उपयोग वाला होता है तो स्वर्ग के सुख प्राप्त करता है। अशुभ उदय से आत्मा कुमनुष्य तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दुःखों से सदा पीड़ित होता हुआ संसार में अत्यन्त भ्रमण करता है। शुद्धोपयोग से निष्पन्न आत्माओ का सुख अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अविच्छिन्न है (प्रवचन सारगाथार्थ 11–13)

जैन वैद्यक ग्रंथो मे अहिंसा तत्व

—आचार्य राजकुमार जैन

एम ए , एच पी ए , दर्शनायुर्वेदाचार्य

सम्पूर्ण जैन वाङमय का अवलोकन एव अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उसमे अहिंसा तत्व की प्रधानता है और उसमे अहिंसा धर्म का अनुसरण करते हुए अहिंसा को सर्वोपरि प्रतिष्ठापित किया गया है। जैनाचार्यों ने अहिंसा के मर्म को न केवल समझा है अपितु समग्र रूप मे उसे आत्मसात् किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि अहिंसा तत्व का प्रतिपादन केवल उनके कथन या उपदेश तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु अपने व्यवहार और आचरण मे उतार कर उन्होंने उसे सार्थकता प्रदान की। इसका पर्याप्त प्रभाव उनके द्वारा रचित अन्यान्य विषयो के ग्रंथों पर भी पड़ा। ऐसी स्थिति मे आयुर्वेद विषय को अधिकृत कर लिखे गये ग्रंथ प्रभावित हुए बिना कैसे रह जाते ? वैसे सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र ही आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है और उसमे मोक्ष प्राप्ति ही मनुष्य का चरम लक्ष्य प्रतिपादित किया गया है। अत अहिंसा धर्म का अनुशीलन और पालन स्वत ही मनुष्य का कर्तव्य एव आचरणीय बन जाता है। इसकी पुष्टि निम्न उद्धरण से होती है जिसमे महर्षि चरक ने मनुष्य को अहिंसक होने का स्पष्ट निर्देश दिया है—

"तत्राहिंसा प्राणिना प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमम्" ।

—चरक सहिता, सूत्र स्थान 30/15

अर्थात् प्राणियों का प्राणवर्धन करने वाले भावो म अहिंसा उत्कृष्टतम है। इसी प्रकार—

सत्यवादिनमक्रोध निवृत्त मद्यमैथुनाद् ।

अहिंसकमनायास प्रशान्त प्रियवादिनम् । इत्यादि,

—चरक सहिता, चिकित्सास्थान/4/30

अर्थात् सत्य बोलने वाले, क्रोध नहीं करने वाले, मद्य और मैथुन से विरत रहने वाले अहिंसक आचरण वाले, परिश्रम रहित, प्रशान्त चित्त वाले प्रिय बोलने वाले तथा इसी प्रकार के और भी अन्य गुण वाले व्यक्ति को रसायन के गुण स्वत ही प्राप्त हो जाते हैं।

यहा पर अन्य गुणो के साथ साथ मनुष्य के लिए अहिंसक आचरण वाला होने का स्पष्ट निर्देश किया गया है। अत यह कहा जा सकता है कि आयुर्वेद शास्त्र मे भी हिंसा को यथा-सम्भव वर्जित किया गया है। किन्तु दूसरी ओर कुछ रोगो की चिकित्सा के समय कतिपय स्थलो पर

अहिंसा की मूल भावना की उपेक्षा भी की गई है। जैसे भेपज के रूप में विभिन्न आसव, अरिष्ट, मधु, गोरोचन आदि जीव तत्व युक्त द्रव्यों के प्रयोग करने का निर्देश किया गया है। इसी प्रकार वाजीकरण के प्रसंग में चटकमांस, कुक्कुट मांस, हंस शुक्र, मकर शुक्र, मयूर मांस आदि का प्रयोग निर्दिष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त कतिपय रोगों में शूकरमांस, मृग मांस, कपोत मांस तथा अन्य पशु पक्षियों के मांस एवं मांसरस के सेवन का विधान बतलाया गया है। ऐसे प्रयोगों से आयुर्वेद में अहिंसा भाव की रक्षा पूर्णतः नहीं हो पाई है। इससे आयुर्वेद में अहिंसा और हिंसा भाव के प्रति स्पष्ट ही विरोध दिखाई देता है।

ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि जैन श्रावक या जैन साधुओं के लिए उनके अस्वस्थ या रुग्ण होने पर इस प्रकार की आयुर्वेद चिकित्सा और उसमें वर्णित चिकित्सीय भेपज योग सेवन योग्य नहीं माने गए। जैन धर्म की दृष्टि से उसे उपादेय नहीं माना गया और धर्माचरण शील अहिंसा प्रेमी श्रावकों ने उसका परित्याग किया। जैन साधुओं, व्रतधारी श्रावकों तथा धर्मानुरक्त अन्य जनों के रुग्ण या अस्वस्थ होने पर केवल ऐसे चिकित्सा योग ही उनके लिए सेवनीय बतलाया जाना आवश्यक था जो विशुद्ध रीति से निर्मित किए गए हों, जिनमें किसी जीव के लेशमात्र घात की भी सम्भावना न हो तथा जो पूर्णतः अहिंसा भाव से प्रेरित हो। उदार चेता मनीषी जैनाचार्यों ने इस कठिनाई का अनुभव किया और उन्होंने सर्वांगरूपेण जैन सिद्धान्तानुसारी भगवान जिनेन्द्रोक्त प्राणावाय (प्राणावाद) पूर्व का अध्ययन किया, क्योंकि इसमें ही अहिंसा प्रधान सम्पूर्ण अष्टांग आयुर्वेद वर्णित है। तत्पश्चात् उन्होंने चिकित्सा योग प्रधान-लोकोपयोगी आयुर्वेद के ग्रंथों की रचना की। ये ग्रंथ जनसामान्य के लिए तो उपयोगी थे ही, जैन मुनियों, व्रतियों, साधुओं एवं अन्य प्रतिमाधारियों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुए। जैन गृहस्थों ने भी उनका पर्याप्त लाभ उठाया। इसका एक प्रभाव यह भी हुआ कि जैन साधुओं, साध्वियों, श्रावकों एवं श्राविकाओं की चिकित्सार्थ जैन विद्वानों को भी चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त होना पड़ा। परिणामतः समाज ने औषधदान के महत्त्व को समझा और व्यापक रूप से स्थान-स्थान पर समाज के द्वारा दिए गए अर्थ दान से जैन धर्मार्थ औषधालयों की स्थापना की गई। इनमें भी अहिंसा धर्म की रक्षा और पालन का पूर्ण ध्यान रखा गया। उन दातव्य औषधालयों में ऐसे औषध योगों का निर्माण वर्जित किया गया जिन में किंचन्मात्र भी जीव घात या जीव हिंसा की सम्भावना हो।

आयुर्वेद शास्त्र में विभिन्न प्रकार के औषध योगों के निर्माण का विधि-विधान निर्दिष्ट है। विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा निर्मित भेपज योगों में जो विधि अपनाई जाती है उनकी विविधता एवं विशिष्टता के कारण उन्हें पृथक्-पृथक् संज्ञा से व्यवहृत किया जाता है। जैसे चूर्ण, वटी, अवलेह, भस्म, पिष्टी, आसव, अरिष्ट आदि। आयुर्वेद शास्त्र में इन्हें कल्पनाएं कहा जाता है, जैसे चूर्ण कल्पना, वटी कल्पना, आसव कल्पना, अरिष्ट कल्पना आदि। इन कल्पनाओं में से अनेक कल्पनाएं ऐसी हैं जिनमें जीवघात की सम्भावना प्रभूत रहती है। ऐसी कल्पनाओं में आसव-अरिष्ट की कल्पनाएं प्रमुख हैं। इन कल्पनाओं में सन्धान प्रक्रिया के द्वारा किण्वन क्रिया होती है जिसमें अनेक सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती है। जीवोत्पत्ति के बिना न तो सन्धान हो सकता है और न किण्वन। जब जीवोत्पत्ति होती है तो उसमें जीवों का घात भी होता है। एतद्विध जीव हिंसा से बचने एवं अहिंसा धर्म का पालन करने की दृष्टि से जैन गृहस्थों के लिए आसव-अरिष्टों के सेवन का

निषेध किया गया है। व्रत एव प्रतिमाधारी श्रावक-श्राविकाओ के द्वारा इनके सेवन का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। यही कारण है कि अधिकाश जैन धर्मार्थ औषधालयो मे जहा अन्यान्य औषधियो एव भेषज योगो का निर्माण होता है वहा आसव-अरिष्टों का निर्माण नही किया जाता। वैसे भी आसव-अरिष्टो मे मादक प्रभाव होने से ये मदकारी होते हैं और जैन धर्म में मद्य के सेवन का पूर्ण निषेध किया गया है।

जैनाचार्यों के द्वारा लिखित आयुर्वेद के विभिन्न ग्र थों का अवलोकन एव अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने ग्र थो मे कही भी मधु, मद्य, मास एव हिंसाजन्य द्रव्यो के प्रयोग का उल्लेख नहीं किया है। श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने कल्याणकारक नामक ग्र थ मे आरोग्यार्थी जन को अन्य पापो के साथ साथ हिंसा के त्याग का भी स्पष्ट निर्देश दिया है। यथा—

हिंसासत्य स्तेयमोहादिसर्वं त्यक्त्वा धीमाश्चारुचारित्रयुक्त ।
साधु न्सपूज्य प्राज्यवीर्याधियुक्तानारोग्यार्थी योजयेद्योगराजान् ॥

—कल्याणकारक, रसायनविधि 6/29

अर्थात् आरोग्य (स्वास्थ्य) की अभिलाषा रखने वाला बुद्धिमान, चारित्रयुक्त मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी, मोह आदि समस्त पापो का परित्याग कर साधुओ की पूजा कर अत्यन्त शक्तिवर्धक योगराजो (रसायन के विविध योगो) का प्रयोग करे।

इसी प्रकार रसायन सेवन करने हेतु जहा अन्य कषाय, लवण, कटु आदि द्रव्यों के सेवन का निषेध किया गया है वहा मद्य, मास, क्रोध भाव को छोडने का भी निर्देश किया गया है—

मद्य मास कषाय कटुरालवणक्षारक्षाम्लवर्गं ।
त्यक्त्वा सत्यव्रतस्सन् सकलतनुभृता सद्दयाव्याप्तात्मा ॥
क्रोधायासव्यवायातपपवनविरुद्धाशनाजीर्णहानि ।
शश्वत्सर्वज्ञ भक्त मुनिगणवृषभान् पूजयेदौषधार्थी ॥

—कल्याणकारक, रसायन विधि 6/56

अर्थात् औषध सेवन से निरोग बनने की अभिलाषा रखने वाला मनुष्य मद्य, मास, कषाय, कटु लवण रस वाले द्रव्य, क्षार, रूक्ष और अम्ल वर्ग के द्रव्यो को छोडकर तथा क्रोध परिश्रम, मैथुन, धूप, वायु विरुद्धभोजन अजीर्ण, बाधा इत्यादि कष्ट से रहित होकर सत्यव्रत मे दृढ रहे, समस्त प्राणियो पर दयाभाव रखे, सदैव सर्वज्ञ (तीर्थंकर) के प्रति भक्ति रखता हुआ मुनि-गण व धर्म की उपासना करे।

जैन सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यो को होने वाले विभिन्न रोगो का बाह्य कारण यद्यपि वात-पित्त-कफ दोष की विषमता है जो मिथ्या आहार विहार के कारण होती है, किन्तु मूल कारण पूर्व जन्मकृत कर्मों का फल है। वर्तमान मे उपलब्ध आयुर्वेद शास्त्र मे भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि मनुष्यो म अनेक व्याधियो की उत्पत्ति उनके पूर्वजन्म का कर्मों का परिणाम है। महाकुष्ठ

आदि अनेक रोगों के निदान शास्त्रकारों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वे पूर्वजन्म के दुष्कृत के परिणाम रूप में होने है। ऐसी स्थिति में जब तक प्राक्तन कर्म का भोग पूर्ण नहीं हो जाता है तब तक रोगी को उस व्याधिजन्य कष्ट को भोगना ही पड़ता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में महर्षि चरक का निम्न कथन निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है—

निर्दिष्टं दैव शब्देन कर्म यत्पौर्वदैहिकम् ।
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते ।।
न हि कर्म महत् किंचित् फल यस्य न भुज्यते ।
क्रियाघ्ना: कर्मजा रोगा: प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् ।।

—चरक संहिता, शारीरस्थान 1/113–117

अर्थात् दैव शब्द से पूर्व जन्म कृत जो कर्म बतलाया गया है वही कर्म काल परिणाम वशात् (परिपाक काल में) रोगों के कारण के रूप में उपलब्ध होता है। (संसार मे) ऐसा कोई महत् कर्म नहीं है जिसका फल नहीं भोगा जाता हो। पूर्व जन्मकृत कर्म से उत्पन्न होने वाले रोग सभी प्रकार की चिकित्सा को निष्फल बना देते है। वे रोग तो उन कर्मो का क्षय होने से ही शान्त होते है।

यहां उपर्युक्त उल्लेख का आशय मात्र इतना है कि मधु, मद्य, मांस आदि का सेवन हिंसा रूप पाप कर्म है। पाप कर्म के परिणाम स्वरूप कुष्ठ आदि महारोगो का उद्भव होता है। पुनः यदि रोग शमनार्थ मास, मद्य, मधु आदि का सेवन कराया जाता है तो उससे पुनः अशुभ कर्म का बन्ध होगा जो अशुभ फलदायी होगा। ऐसी स्थिति मे हिंसा जन्य द्रव्यों का सेवन रोग शामक कैसे हो सकता है। यथा—

पापजत्वात्त्रिदोषत्वान्मल धातुनिबन्धनात् ।
आमयाना समानत्वान्मासं न प्रतिकारकम् ।।

श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने वैद्यक ग्रंथ कल्याणकारक में पूर्णतः मधु, मद्य, मास आदि हिंसाजन्य द्रव्यों के सेवन का निषेध तो किया ही है, ग्रंथ के अन्त मे हिता-हिताध्याय में अनेक तर्क-पूर्ण युक्तियों एवं प्रमाणों से मांसादि के भक्षण की अनुपयोगिता को सिद्ध किया है। उन्होंने अपने ग्रंथ में जो विविध औषध योग उल्लिखित किए है उनमे कही भी अनुपान के रूप मे मधु का उल्लेख नही है जो इस ग्रंथ की मौलिक विशेषता है। जबकि अन्य सभी वैद्यक ग्रंथो मे अनुपान या अन्य रूप मे मधु सेवन का उल्लेख अवश्य मिलता है। आचार्य प्रवर का तो यह स्पष्ट अभिमत है कि मास का सेवन मनुष्य का प्राकृतिक आहार नही है। अतः आयुर्वेद शास्त्र मे इसके सेवन का उल्लेख परवर्ती कतिपय जिह्वा लोलुप व्यक्तियो द्वारा किया गया है। वे लिखते हैं—

मास तावदिहाहृतिर्न भवति प्रख्यातसद्भेपजं
नैवात्युत्तमसद्रसायनमपि प्रोक्तं कथं ब्राह्मणा ।

सर्वज्ञेन दयालुना तनुभृतामत्यर्थमेतत्कृत
तस्मात्तन्मधुमद्यमाससहित पश्चात्कृत लम्पाटै ।

अर्थात् वह मास आहार के काम मे नही आ सकता है, प्रत्यात औषधि मे भी इसकी गणना नही है और न ही यह उत्तम रसायन ही हो सकता है। फिर ऐसे अभक्ष्य, निरूपयोगी, हिंसाजन्य द्रव्यो के सेवन के लिए सवज्ञ, दयालू ब्रह्मपि कैसे कह सकते हैं ? अत यह निश्चित है कि मधु, मद्य और मास का आयुर्वेद शास्त्र मे कथन बाद मे जिह्वा लोलुपो द्वारा किया गया है ।

मास सेवन का सवथा निषेध करते हुए श्री उग्रादित्याचाय कहते हैं कि वैद्य शास्त्र मे मास का उपयोग बन ही नही सकता है, क्योकि वह मास अन्न, औषध और रसायनो से सवथा भिन्न है । ब्रह्मादि देव भी लोक के आहार की स्थिति व उत्पत्ति के लिए कारण हैं। ब्रह्मादि के मत से मास का उपयोग आहार के रूप मे कदापि नही हो सकता और न ही वह उचित है। अन्न के रूप मे मास का उल्लेख नही है। इसी प्रकार महापाठ मे शिशुओ के लिए अन्नदान की आहार विधि के क्रम मे प्रथम छह मास तक दूध के साथ लघु अन्न देने का विधान है । इसमे मास अन्न नही हो सकता क्योकि दूध के साथ उसका विरोध है । जैसाकि ग्रथो मे कहा गया है—

मासमत्स्यगुडमापमोदकै कुष्टमावहति सेवित पय ।
शाकजांववसुरासवैश्च तन्मारयत्यवुधमाशुसर्पवत् ।।

अर्थात् मास, मछली, गुड, उडद से बनी मिठाई के साथ दूध का सेवन कुष्ट रोग को उत्पन्न करता है । शाक, जम्बु फल से बनी सुरा—आसव के साथ दूध का सेवन करने वाले मूर्ख को सप की भाति शीघ्र मार देता है ।

अथवा लोक बाह्य, अवशिष्ट, बीभत्स एव शास्त्र वर्जित मास के साथ दुग्ध सेवन नही करना चाहिये । इससे मनुष्य सुखी नही हो सकता । क्योकि कहा भी है—

कुयोनिजाना मधुमद्यमास कदन्नमन्न च तथा परेषाम् ।
कल्याणक चक्रधरस्य भोज्य स्वर्गेऽमृत भोगमहिस्थितानाम् ।।

अर्थात् मधु मद्य, मास, कुत्सित अन्न कुयोनिज (निम्न जाति कुल मे उत्पन्न) लोगो का भोजन है, अन्य लोगो का भोजन अन्न है, चक्रवर्ति का भोजन कल्याणकान्न है तथा स्वग एव भोग भूमि मे स्थित जीवो का आहार अमृत है ।

इसके अतिरिक्त पितृ सतपण के लिए भी मास का उपयोग नही हो सकता । क्यो ? इसका उत्तर देते हुए आचार्य प्रवर कहते हैं—

सायुज्यमायाति परेण पु सा योगस्थिता तेऽपि तत प्रबुद्धा ।
केचिद्दिव दिव्यमनुष्यभाव न तत्र मासादिकमन्न युक्ति ।।

अर्थात् योग स्थित ज्ञान युक्त मनुष्य उत्तम स्थान मे जाकर समता को प्राप्त कर लेते हैं। उनमे से कोई स्वर्ग मे जाकर जन्म लेते हैं और कोई पवित्र मानव शरीर को प्राप्त कर लेते हैं। वहा पर मासादि कदन्न भक्षण करने का विधान नही है ।

इसी प्रकार मांस औषध भी नहीं हो सकता है क्योंकि औषधि के लिए उपर्युक्त द्रव्य-संग्रह विज्ञायक अध्याय में मांस का ग्रहण नहीं किया गया है। प्रकीर्णक औषधियों में भी मांस को औषधि के रूप में ग्रहण नहीं किया है। प्रकीर्णक औषध के संशमन व संशोधन के भेद से दो प्रकार कहे गए हैं। यह मांस संशोधन औषध तो नही हो सकता है। क्योंकि उर्ध्वभाग, अधोभाग व मध्य भाग से संशोधन करने का सामर्थ्य उस मांस मे नहीं है। संशमन भी मांस नही हो सकता है, उसमें कोई भी खास विशिष्ट रस न होने से। जिस पदार्थ मे खास विशिष्ट रस रहता है वही संशमन के लिए उपयोगी है। जैसे मधुर, अम्ल व लवणरस वातहर है। मधुर, तिक्त व कषायरस पित्तहर हैं। कटु, तिक्त व कषायरस कफहर है। मांस लवणरस भी नही है, क्योकि उसे लवण का संयोग कर ही भक्षण करना पड़ता है। अम्लरस भी वह नहीं है, क्योंकि शरीरस्थ अम्ल का वह पाचन कर देता है अर्थात् वह अम्लविरोधी है। इसी प्रकार विशिष्ट संस्कार योग्य होने से कटुतिक्त कषायरस भी उसमें नहीं होते एवं मांस मधुर भी नहीं है। क्योंकि मधुर का तो लवण के साथ अत्यंत विरोध है। मांस का उपयोग तो लवण के साथ किया जाता है। महापाठ में मांसपाक भी कहा गया है। तेल, गोरस, धान्याम्ल, फलाम्ल व कटुक रस के साथ संस्कृत एवं घृत सहित मांस बलकर है, रुचिकर एवं शरीरपोषक है।

स्नेहंगोरसधान्याम्लफलाम्लकटुकैस्सह।
स्विन्नं मांसं च सर्पिष्कं बल्यं रोचनबृंहणम्॥

इस अन्यों द्रव्यों के संयोग से ही मांस मे बलकारक व पोषक शक्ति होती है, यदि ऐसा जायगा तो यह भी कह सकते है कि अन्य द्रव्यों में भी संस्कार विशेष से ही बलकरत्व रुचिकरत्व व पोषकत्व आदि गुण देखे गये है। इसलिए मांस ही उन पदार्थो से अच्छा है, ऐसा कहना ठीक नही है। लवण, घृत व संभार संस्कार से रहित मांस का दूषण भी आपके यहां सुना जाता है। जैसे—

शुद्धं मांसं स्त्रियो वृद्धा बालार्कस्तरूणं दधि।
प्रत्यूषे मैथुनं निद्रा सद्यः प्राणहराणि षट्॥

शुद्धमांस, वृद्धस्त्रियों का सेवन, बालार्ककिरण, ताजादही, प्रत्यूष काल का मैथुन व प्रत्यूषकाल की निद्रा ये छह बातें शीघ्र ही मनुष्य के प्राणों का नाश करने वाली हैं।

सर्व औषध दूध के साथ उपयोग करने पर ही वीर्यवन् (रोगप्रतिबन्धक) हो सकते हैं। मधु, घृत, पिप्पल व वायविडंग को छोड़कर, अर्थात् इनके साथ दूध का संयोग होना चाहिए ऐसा कोई नियम नही है। इसलिए औषधियों के साथ क्षीर के उपयोग के लिए जो कहा है वह मांस के निराकरण के लिए ही कहा है। इसलिए कहा है कि—

प्रशस्तेदेशसभूत प्रशस्ते काल उद्धृत ।
अल्पमात्र मनस्कात गधवर्णरसान्वित ।
दोपघ्नमग्लानिकरमधिकाधिविपत्तिपु
समीक्ष्य दत्त काले च भेपज फलमुच्यते ।

प्रशस्त देश मे उत्पन्न प्रशस्त काल मे उद्धृत, अल्पमात्र मे ग्रहण किया हुआ, मनोहर, गधवर्ण व रस से सयुक्त, दोपनाशक, अधिक बीमारी मे भी अग्लानिकर एव योग्यकाल व प्रमाण को देखकर दिया हुआ औपध ही फलकारी होता है । ये लक्षण मास मे न होने से, उसमें कालामानादिक का नियम नही बन सकता है । अर्थात् यदि मास ग्राह्य होता तो उसकी मात्रा का भी कथन आचार्य करते या उसको ग्रहण करने का काल इत्यादि का भी कथन करते । परन्तु उस प्रकार उसका कथन नही किया है । अन्य पदार्थों की मात्रा व काल आदि के सम्बन्ध मे कथन मिलता है । जैसे—

द्रव कुडुवमादद्यत् स्नेह पोडपिकान्वित ।
चूर्ण बिडालपदक कल्कमक्षजसम्मितम् ॥

द्रव को एक कुडुव प्रमाण (32 तोले) ग्रहण करना चाहिए । तेल आदि स्निग्ध पदार्थ पोडशिका पल (8 तोले) प्रमाण से ग्रहण करना चाहिए और चूर्ण को बिडालपदक (प्रमाणविशेप) प्रमाण से ग्रहण करना चाहिए एव कल्क को अक्षप्रमाण (2 तोले) ग्रहण करना चाहिए ।

इस प्रकार कहा है परन्तु इस मे मास का पाठ नही है । अतएव मास औपध नही हो सकता है । इसके अतिरिक्त सभी औषधों को ग्रहण करने का काल भी बतलाया गया है । जैसे— प्रात काल मे ग्रहण करना, भोजन से पहले भोजन के बाद, भोजन केबीच मे, भोजनातर मे, भोजन के साथ, मुद्र के साथ बार बार, ग्रास के साथ, ग्रासातर मे, इस प्रकार औपध ग्रहण करने के दस काल बतलाये गए हैं । परन्तु इनमे खास कर उत्तरकाल मे मास का सेवन करना चाहिए, इस प्रकार नही कहा है क्योकि उस के लिए कोई काल नियत नही है । अतएव वह औपध नही हो सकता है । इस प्रकार कहा भी है —

द्रव्याणामपि सग्रह तदुचित क्षेत्रादिकाले तथा ।
द्रव्योपार्जनतत्पुराधिकमहासद्ध धिकानुग्रहे ॥
ते सर्वे च विशेप भेपजगणास्सत्यत्र किंचित्क्वचि-
न्मास नास्ति न शब्दतोपि घटते स्यादौपध तत्कथम् ॥

लोक में जितने भी औपध विशेप हैं उनका ग्रहण द्रव्यसग्रह के प्रकरण मे, द्रव्यसग्रहोचित क्षेत्रकालादिक मे एव द्रव्योपार्जन के लिए कारण भूत सन्दधिका प्रकरण मे किया गया है । परन्तु उन प्रकरणो मे मास का उल्लेख नही है । जहा शब्द से भी उसका उल्लेख नहीं है वह औपध किस प्रकार हो सकता है ?

इसी प्रकार मांस रसायन भी नही हो सकता है। रसायनाधिकार में उस का पाठ नहीं है। क्षीर का विरोधी होने से, मांस के जीर्ण होने पर दूध, घृत व अन्न का सेवन करना चाहिए ऐसा आहार विधान में किया गया है।

वस्तुत: बहुत से मांसभक्षियों को देखकर कालदोष से वैद्य भी मांस-भक्षक बन गए। अतएव स्वार्थ से उन्होंने अन्नपानविधि व शाकवर्गाधिकार मे मूलतत्रबाह्य मांस को घुसेड़ दिया है। कहा भी है :—

आंगेष्वाभयसत्क्रियासु च चतुष्टकर्मप्रयोगेपुत्र-
दोपाणामपि संचयादिषु तथा भैपज्यकर्मस्वपि।
रोगोपक्रमपष्ठिभेदविविधे वीर्यस्य भेदे प्रती–
कारंनास्ति समस्तमांसकथनं शाकेपु तत्कथ्यते॥

इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में शरीर में अभयोत्पन्न क्रियाओं के प्रयोग में, चतुष्कर्म के प्रयोग में, दोषों के संचय होने पर, भैषज्यकर्म में, रोगोत्पादक साठ प्रकार के भेदों में और औषधवीर्य के भेदों में मास का प्रतीकार के रूप में कहीं कथन नहीं है अर्थात् यह किसी भी दोप का प्रतीकारक नहीं हो सकता है। फिर इसका कथन शाक पदार्थो में क्योंकर हो सकता है ?

इस प्रकार समस्त अंगशास्त्रों से बहिर्भूत मांस अन्न औषध व रसायन भी नहीं हो सकता है। इस प्रकार से सदा शास्त्रों में निषिद्ध होने पर भी अतिलोलुपी व स्वयं अज्ञानी, स्वयं मास खाने की अभिलाषा से कहते है कि "मांस मास से बढा करता है"। अथवा ठीक ही कहा है कि मांस के खाने पर मांस बढता है, इस प्रकार सम्बन्ध से अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अब उसी अर्थ के वक्तव्य पर विचार करेंगे।

आयुर्वेदीय सद्वृत के अन्तर्गत सर्वत्र ही अन्य पाप कर्मों के साथ-साथ हिंसा के परित्याग का स्पष्ट उपदेश दिया गया है :

हिंसास्तेयान्यथा कामं पैशून्यं परूपानृतम्।
सम्भिन्नालापं व्यापादनभिध्यां द्रग्विपर्ययम्॥
पापकर्मेति दशधा कायवाङ्, मनसैस्त्यजेत्।
परोपघातक्रियया वर्जयदर्जनं त्रियः॥

—अष्टांग संग्रह, सूत्रस्थान, 3/117–118

अत: मधु-मांस आदि के भक्षण का निषेध स्वत: ही हो जाता है। चिकित्सा प्रकरण में अन्यान्य रोगों के उपशमनार्थ जो मांस सेवन का विधान उल्लिखित है— सम्भव है वह बाद मे प्रक्षिप्त किया गया है। आयुर्वेद के प्रमुख ग्रंथ चरक संहिता मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि मूल ग्रंथ महर्षि अग्निवेश द्वारा लिखित अग्निवेश संहिता था जिसका प्रतिसंस्कार महर्षि चरक द्वारा किया गया। उसके खण्डित कुछ अंश को आचार्य दृढ़बल ने पूरित किया। ऐसी स्थिति में परवर्ती आचार्य द्वारा यदि मूल ग्रंथ मे संशोधन—संस्कार कर उसमे मांसादि के सेवन का विधान प्रक्षिप्त कर दिया गया है तो कोई आश्चर्य की बात नही है।

जिन जैनाचार्यों ने वैद्यक ग्रथो की रचना की है वे सभी सर्वशास्त्रपारगत, जिन-धर्मानुमत साधुचर्या के परिपालक, महाव्रतधारी मुनि थे। मनसा वाचा कमणा वे अहिंसा धम प्रेमी तो थे ही, उनके आचरण मे अहिंसा पूण रूप से व्याप्त थी। अत जैन वैद्यक ग्रथ कर्ता उन आचार्यों ने इस बात का पूर्ण ध्यान रखा और यथाशक्य प्रयत्न किया कि औषध निर्माण के कार्य में किसी भी प्राणी की हिंसा तो क्या उन्हे कोई भी कष्ट नहीं होना चाहिये। इतना ही नही एकेन्द्रिय प्राणियों का सहार भी उन्हें अभीष्ट नही था। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए श्री समन्तभद्र स्वामी ने एक 'पुष्पायुर्वेद' नामक ग्रथ की रचना की जिसमे उन्होने अठारह हजार जाति के कुसुम (पराग) रहित पुष्पो से ही रसायन औषधियो के प्रयोगो के निर्माण एव प्रयोग का उल्लेख किया है। यद्यपि चरक आदि कतिपय आयुर्वेद ग्रथ कर्ताओ ने मधु मद्य मास आदि अभक्ष्य पदार्थों का उल्लेख कर औषधि के रूप में उनके सेवन का प्रचार किया है, किन्तु आयुर्वेद के ग्रथकर्ता जैनाचार्यों ने तो वनस्पतियो को ही औषधि एव औषध-योगो मे प्रधान स्थान दिया और उस आदश मार्ग का प्रस्थापन किया जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट नही हो। हिंसा की तो बात ही दूर है, जैनधर्म के अनुसार एक प्राणी (मनुष्य) के रोगोपचार एव स्वास्थ्य रक्षा के लिए किसी दूसरे प्राणी का वध करना या उसे पीडित करना न तो न्यायसगत है और न ही मानवीय आचरण के अनुकूल है। धर्माचरण के अनुकूल तो यह कदापि नहीं हो सकता।

परम श्रद्धास्पद पूज्यपाद ने अनेक वैद्यक ग्रथो की रचना की थी जिनमे सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण ग्रथ कल्याणकारक था। वर्तमान मे यद्यपि यह ग्रथ उपलब्ध नही है किन्तु तद्विषयक उल्लेख अन्य जैनाचार्यों की कृतियो में मिलता है। इस ग्रथ का महत्व इतना अधिक था कि प्रसिद्ध कर्नाटक जैनाचाय श्री जगद्दल सोमनाथ ने इस सम्पूर्ण ग्रथ को ही कर्नाटक भाषा मे भाषान्तरित एव लिप्यन्तरित कर कर्नाटक साहित्य की श्रीवृद्धि मे अपना अपूर्व योगदान किया। यह ग्रथ पीठिका प्रकरण, परिभाषा प्रकरण, षोडशज्वर चिकित्सा निरूपण प्रकरण आदि अष्टाग से सयुक्त है। यह ग्रथ कर्नाटक भाषा के वैद्यक ग्रथो मे सबसे प्राचीन है। इस ग्रथ की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमे मधु मद्य-मास आदि अभक्ष्य द्रव्यो का परिहार करते हुए केवल वानस्पतिक द्रव्यो से निर्मित चिकित्सायोगो का कथन किया गया है। इस तथ्य का प्रतिपादन स्वय जगद्दल सोमनाथ ने भाषान्तरित कल्याणकारक मे निम्न प्रकार से किया है—

सुकर तानेने पूज्यपाद मुनिगल् मुपेल्द कल्याणकारकम
वाहटसिद्धसार चरकाद्युत्कृष्टम सद्गुणाधिकम
वर्जितमद्यमासमधुव कर्णाटदि लोकरक्षकना
चित्रमदागे चित्रकविसोम पेल्दनि तल्तिर्यि ॥

इससे यह स्पष्ट है कि पूज्यपाद स्वामी ने अपने वैद्यकग्रथ मे मधु-मद्य-मास आदि हिंसाजन्य द्रव्यों के सेवन को वर्जित करते हुए उनकी निरुपयोगिता सिद्ध की।

परवर्ती जैन विद्वान् श्री उग्रादित्याचाय ने तो मास का निराकरण करने के लिए ही पृथक् से एक प्रकरण की रचना की थी। इसका स्पष्ट उल्लेख प्रकरण के अन्त मे उनके द्वारा अग्र प्रकार से किया गया है—

"इत्यशेषविशेषविशिष्टदुष्टपिशिताशिवैद्यशास्त्रेपु मांसनिराकरणार्थमुग्रादित्याचार्येण नृपतुंगवल्भेन्द्रसभायामुद्घोषितं प्रकरणम् ।"

इससे स्पष्ट है कि अन्य वैद्यक शास्त्रों में चिकित्सार्थ मांस सेवन का जो विधान निर्दिष्ट या उल्लिखित है उसका निराकरण करने और मांस की निरूपयोगिता सिद्ध करने के लिए स्वयं आचार्य ने श्री नृपतुंगवल्लभेन्द्र की सभा मे इस (हिताहिताध्याय) प्रकरण का प्रतिपादन किया ।

इस प्रकार यह विशेषत: उल्लेखनीय है कि जैन वैद्यक ग्रंथों में चिकित्सार्थ प्रयोग की जाने वाली औषध में मद्य, मांस व मधु का सेवन का निर्देश नही किया गया है । क्योंकि ये हिंसा-जन्य होने से अभक्ष्य एवं त्याज्य है । इनकी प्राप्ति में असंख्यात जीवों का संहार करना पड़ता है जिससे स्पष्ट हिंसा होती है । अहिंसा धर्म का अनुशीलन और अहिंसा के आदर्श की संरक्षा के लिए इनका परित्याग नितान्त आवश्यक है । इसके अतिरिक्त प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि चिकित्सा कार्य मे ये द्रव्य कतई अनिवार्य नही हैं । आधुनिक अनुसन्धानों के द्वारा मानव शरीर के लिए इन द्रव्यों की निरूपयोगिता सिद्ध हो चुकी है । आर्य एवं श्रमण संस्कृतियों के आदर्श स्वरूप की सम्पूर्ण भित्ति ही हिंसा निषेध एवं अहिंसा के धरातल पर टिकी है । इस दृष्टि से जैनाचार्यो ने अपनी वैद्यक कृतियों द्वारा सम्पूर्ण मानवता एवं मानव समाज का तो उपकार किया ही है, अपने लोक कल्याणकारी आदर्श द्वारा समग्र प्राणी संसार पर महान उपकार किया है ।

☐ आचार्य राजकुमार जैन
सचिव
भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्
I ई/6, स्वामी रामतीर्थ नगर
नई-दिल्ली—110055



Reinterpreting Ahimsa for the 21st Century

Dr Ram Jee Singh
Head Dept of Gandhian Thought
Bhagalpur University, Bhagalpur (India)

This is a paradox that those who have spent fantastic money of the tax-payers over acquiring nuclear stock piles have been themselves forced to find out some solution to destroy or contain them They realise the dread and futility of an atomic war It seems that war has lost its dynamics Nuclear power has not remained the monopoly of a single nation and no nation however small or big lives in utter isolation The concept of geo politics has been made redundant But this is a greater paradox that they aspire for peace but prepare for war It seems there is maladjustment with world psyche Unless we find out the solution of this malaise, our life in the 21st Century would be miserable We shall not die but neither we shall be able to live with peace and happiness

Hence before we embark upon global peace, we should learn the art of peaceful living Non violence is not an outward ritual, it is our life style The concept of nuclear preparedness, though anti life and anti-civilization, is only the bye product of our outlook and way of thinking created by our belief in the Doctrine of Struggle for Existence and the Survival of the Fittest. We are led to think that struggle is necessary for existence and that a person, or a group or a country would be able to survive which is the Fittest—in popular vocabulary, the mightest' economically and militarily We think that we must become powerful in order to survive and we try to cultivate more and more powers Hence unhealthy competition and violence become inevitable Another reason for the growth of violence is our faith in the efficacy in the fragmentation of life We think that there is one set of values for the individual and the family and quite another set for the society But this is wrong Our life is a unity and it cannot be divided into water-tight compartments called social political or religious etc All act and react upon one another Even spiritual law does not work on a field of its own It must express itself only through the ordinary

activities of life. We have not only fragmented life outside and created compartments of life and mutually opposing set of values and contradictory patterns of behaviour, we have also divided iife inwardly too and developed a schizophrenic personality. Throughout we have a fragment. Hence, we aspire for peace but plan for war, we behave as a sacrificing mother but as a grabing man in economic life, a loving father or a husband in the family but as a man of machination and despotic behaviour in politics and public life.

Hence, we lack the holistic values, which has the greatest sustaining power. The foremost of these holistic values is **LOVE.** Love and harmony form the basis of our good family life. Hence, there is no reason why it should not be the basis of society or the entire global family. The positive meaning of non-violence is Love. Literally, non-violence means absence of violence but this is one-sided and incomplete definition. Positively, non-violence means active love—this is Mahavira Buddha, Jesus or Gandhi. Again, non-violence is not a static but dynamic concept. In its dynamic condition, it does not mean meek submission to the will of the evil-doer, but it means the putting of one's whole soul against the will of the tyrant and still without any ill-will against him. Ahimsa is, therefore, not merely a "passive spirituality" that spends itself in 'idle meditation' or 'practising rituals of non-violence' like brushing the earth, or keeping a bandage over one's mouth or feeding sugar to the ant etc., it is active and real like Buddha and Mahavira who fearlessly carried the war of non-violent resistance into the enemy's camp and brought down on its knees an arrogant priesthood. Even Jesus, the extreme practitioner of 'resist not evil', drove out the money-changers from the temple of Jerusalem. Mahavira challenged the orthodoxy of Vedic religion and allowed women to adopt Sanyasa and prepare for salvation. He also fought the hypocrisy of those priests in giving a religious sanction to the caste hierarchy of high and low. But even if Buddha, Mahavira or Jesus fought against them, they showed unmistakable love and compassion behind every act of theirs.

Non-violence or love, is not only an individual virtue, it is societal concept, Non-violence is not only absence of bloodshed or murder, it is also absence of exploitation. Non-violence and exclusive possession can never go together. We retain our possessions on the sufferance or exploitation of the weak, immoral gains and insatiable pursuit after enjoyments of the flesh. Exploitation is the essence of violence. Hence, no man could be actively non-violent and still not rise against social injustice no matter where it occurred. Non-violence is a universal principle. It is not a cloistered virtue but applicable as much to the forum and the legislatures as in the market place. Hence, in the 21st Century, we have to make non-violence, not matter of mere individual

practice but for the practisee by groups and communities and nations If it cannot be practised in all departments, in has no practical value Hence, we have to show that Ahimsa is not only for the saint and seers but for the ordinary men and women living in society It is only in a climate 'of non-violence that 'opposing ideologies can peacefully co-exist It teaches not only the respectful tolerance of other creeds and religions but also genuine appreciation of their teachings and inteligent recognition of their importance Hence, non-violence has bigger social dimension, because it is rooted in love and friendship But love and friendship can flourish only in a climate of equality and fraternity "We have just enough religion to make us hate but not enough to make us love one another —once wrote Jonathan Swift Hence, unless we cultivate a habit to see beyond the horizons of our own particular faith and believe that ' religious fellowship is possible we shall be preparing grounds for religious violence The problem of having 'world fellowship is impossible without world peace and disarmament Contemporary political thinking must be transformed and a new kind of politics adequate to the threat of atomic doom should be created Now, at the brink mere life depends on worthy living Even hard headed and eminent political scientist Margenthau asserts that to think conventionally about nuclear weapons is fallacious Then there is the problem of polymorphous, or senseless violence all over the world called terrorist violence But this is irrepressible violence' and we cannot wipe them out by reciting non-violence as a Mantra Subhas Chandra Bose once wrote to Roman Rolland that non-violence cannot be at the pivot of all social action ' What must be at the centre of our concerns is the establishment of a more ' just and humane social order ' ' If non-violence has to take roots it must usher a neo-polity, a new economics and a new culture The root of violence is in the I consciousness or ego the validity of which is accepted by the human race as an authority But because of this 'ego-consciousness all our external structures and their symbols are collapsing—the capitalistic, socialistic, the communistic Mahavira realised it full well and so he asked us to purify our self with all impurities of attachment avarice envy etc We cannot create a just social or economic order on the basis of ego or selfishness Selfishness is subversive of friendship and love Hence, Non-possession (Apar graha) and parting away (Visarjana) with property, assets or ownership must form the foundation of our new economic order It will disarm enemity class-conflict and unhealthy competition Either we must have a 'World Economy or face a World-War The essentials of a religious revolution is its power to create goodwill It must be relevant' to the present needs of the society Experimental verifiability is a must or else it would degenerate into orthodoxy and dogmatism Let the Upasana (devotional) aspect be confined to devotee s wish or faith but we must assert that the days of personal religion

are over and we cannot enter the 21st Century without the conception of a **"Universal Religion"**, Civilisations decline if there is a coprsening of moral fibre, if there is callousness of heart. Similarly, the concept of national sovereignty has become outdated. But in a nuclear world, either we must live together or perish together. National boundaries are becoming irrelevant and a great stumbling block to world peace. We must strengthen the United Nations and pave the way for a **'World Government'.**

Our civilization has been passing through one of its periodic crises. In order to avert it, we need an Ahimsa-culture. We need religious idealism and cooperation and not identification, accomodation to fellowmen and not imitation of them, and toleration and not absolutism. Spiritual evolution is our destiny and therefore the great need of the 21st Century. This is what Sri Aurobindo called "a dynamic recreation of individual manhood in the spiritual type". The new society which science and technology are bringing about is a information society, a power-seeking society, which will have its own conflicts and struggles. We must remember that technology is a creation of human freedom. If technology subordinates man, it becomes anti-civilization. Hence, we have to develop a technology in keeping with the spirit of man. Similarly, growing statism and bureaucratisation must be replaced by humane administration. Today, we have a false conception of greatness, the degradation of the sentiment of justice, the idolization of money and the lack of religious inspiration Our civilization has become sick also because it does not know exactly what place to give to physical labour and to those engaged in it. All these have to be incorporated in the scheme of education. Peace-education is a must for a Peace-Culture or Ahimsa. If the foundation of war is built in the minds of men, strategies of peace will also be built in our mind and heart through education.

□□

—: नियमसार :—

निश्चय प्रायश्चित अधिकार

व्रत, समिति, शील, सयम रूप परिणाम और इन्द्रिय नि ग्रह रूप भाव प्रायश्चित है और वह निरन्तर करणीय है। क्रोधादि स्वकीय भाव के क्षय आदि भावनाओ का निग्रहण और निज गुणो का चितन निश्चय से प्रायश्चित्त कहा जाता है। क्रोध को क्षमा से, मान को निज मादव से, माया को आर्जव से, लोभ को सतोष से—इस प्रकार चतुर्विध कषायो को (योगी) जीतते है। मुनि अपने उत्कृष्ट बोध, ज्ञान चित्त को नित्य धारण करता है, उसके प्रायश्चित होता है। बहुत कहने से क्या अनेक कर्मों का क्षय कारक महर्षियो का सर्व ही उत्कृष्ट तपश्चरण प्रायश्चित जानो। अनतानत भवो द्वारा उपार्जित शुभ अशुभ कम समूह तपश्चरण से नष्ट होते हैं, अत तप प्रायश्चित है।

जीव आत्मस्वरूप के आलबन वाले भावो से सवभावो का परिहार कर सकता है अत ध्यान सवस्वा है। शुभा शुभ वचन रचना और रागादि भावो का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है, उसके नियमत नियम है। कायादि पर द्रव्या मे स्थिर भावो को छोडकर जो निर्विकल्प रूप से आत्मा को ध्याता है, उसके कायोत्सग है। गाथार्थ 113–121

परम समाधि अधिकार

वचनोच्चारण की क्रिया को छोडकर जो वीतराग भाव से आत्मा को ध्याता है, उसके परम समाधि होती है। सयम, नियम और तप से तथा धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, उसके परम समाधि होती है।

समता रहित श्रमण के वनवास, कायक्लेश विचित्र उपवास, अध्ययन, मौन आदि क्या करते है? केवली के शासन मे जो सव सावद्य से विरत है, त्रि गुप्तिका धारक हैं इन्द्रिय निरोधी है उसके सामयिक स्थायी है। जो सवभूतो मे, स्थावरो और त्रसो मे समभावी है, केवली शासन मे उसके सामयिक स्थायी है। जिसके सयम, नियम और तप मे आत्मा निकट हैं केवली शासन मे उसके सामयिक स्थायी है। जिसके राग या द्वेष विकृति उत्पन्न नहीं करते, केवली शासन मे उसके सामयिक स्थायी है। जो आत और रौद्र ध्यान को नित्य वजता है, केवली शासन मे उसके सामयिक स्थायी है। जो पुण्य और पाप के भावो को नित्य वजता है, उसके केवली शासन मे सामयिक स्थायी है। जो हास्य, रति, शोक, अरति को नित्य वजता है, केवली शासन मे उसके सामयिक स्थायी है। जो जुगुप्सा, भय और सर्व वेद को नित्य वजता है, केवली शासन मे उसके सामयिक स्थायी है। जो धम और शुक्ल ध्यान नित्य ध्याता है, केवली शासन मे उसके सामयिक स्थायी है।

गाथाथ 122–133

"परस्परोपग्रहो जीवनाम्" ही सृष्टि का अस्तित्व

☐ प्रवीणचन्द्र छाबड़ा

"जीवो-जीवस्य भोजनम्", प्रकृति की अनक्षरी खुली पुस्तक में ऊपर-ऊपर पढ़ा जाने से प्रकृति भी प्रवृत्ति के लिये आरोपित होकर "मत्स्य न्याय" के लिए मान ली गयी। बड़ी मछली के लिये छोटी मछली के आहार होने को बल से जोड़कर प्रकृति-जन्य मान लेने की मानसिकता ने जीवन-मूल्य ही बदल दिये, जीवन-व्यवस्था को भयाक्रान्त कर शक्ति केन्द्रों के अधीन कर दिया। जिन्दगी जड़ के लिये होकर अपना जीना ही भूल गयी।

सृष्टि की संरचना ही "परस्परोपग्रहो जीवनाम्" को लेकर है, जहा हर जीव परस्पर अनुग्रहीत हुआ रहता है। यह अनुग्रह ही सृष्टि का अस्तित्व है। जीव का जीव आहार होकर भी उपकारी है। सृष्टि की विशालता, व्यापकता, गहनता तथा अस्मिता इसी से है कि प्रकृति में संतुलन है। प्रकृति में कोई तत्व समाप्त होता नही है। वह जैसा होता है, वही रहता है। किसी स्थल या स्तर पर जिसका क्षय अथवा विनाश हुआ दिखता है, वह हमारी सीमित व शंकित दृष्टि है। प्रकृति मे निरन्तरता है, जहां उदय और क्षय साथ है। प्रकृति अपनी व्यवस्था में नित्य-नवीन है। प्रकृति का यह आचरण ही उसका सत्य है। "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तम् सत्" उत्पन्न होना, क्षय होना और निरन्तर हुए रहना ही सत्य है, यही प्रकृति है।

प्रकृति अपनी प्रकृति मे सदैव सदाशयी है। प्रकृति मे प्रवृत्ति भी है, निवृत्ति भी है। उसमें साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति भी है और उनका प्रयोग भी है। पर, यह सब प्रवृत्तिया है, जो विविध रूपों में प्रगट हुई रहती है। जीव व वस्तु ही नही, हर अणु दूसरे अणु से आकर्षित हुआ रहता है और करता भी है। एक-दूसरे को धकेल कर आगे बढने को भी हुआ रहता है। प्रत्येक वस्तु व जीव का अपना कम्पन है, और यही जीवन है। प्रकृति का आचरण विरोधी दिखता हुआ भी ममता लिये हुए है। प्रकृति का यही वैभव है। प्रकृति मे रक्षण है, भक्षण तो कतई नही है। वह वरदान अवश्य हो सकती है, अभिशाप नही। उसका कही छिपाव-दुराव नही है। उसकी दसो दिशाए खुली हुई है। जो है-सो है और वही व्यक्त है। प्रकृति का यह सहज खुलापन ही बुद्धि को भ्रमित किये रहता है। अपनी शंकित और कुण्ठित मानसिकता से ही प्रकृति का हम आकलन किये रहते है।

प्रकृति का यही रहस्य है कि वह वात्सल्यमयी होकर भी भयावह दिखती है। हर स्थल पर संकट है और कल्याण है। प्रकृति मे वेग, तूफान, झंझावात आदि सब है। नदी का वेग उसका सौन्दर्य है, लेकिन प्रवाह में बहने वाले के लिये भयावह है। नदी का वेग मरण के लिये भी हो जाना

ह। यह सब हमसे होता है। सृष्टि को देखने की हमारी दृष्टि देह को लेकर होती है। देह का जहा वही अवसान होता है, मृत्यु-बोध होता है। किसी जीव का कोई जीव आहार बनता है, मृत्यु के लिये कारण हुआ दिखता है। "मत्स्य न्याय" का दर्शन, विचार व धारणा भी भय जन्य संस्कारो के कारण से है। मृत्यु से अधिक मृत्यु का भय भयावह होता है। जीवन दृष्टि ही आक्रान्त हुई रहती है। मत्स्य न्याय ने सुरक्षा के लिये होकर नियन्त्रण की शक्ति लेने का अधिकार दे दिया। शक्ति के लिये होने को ही 'ससार-सार' मान लिया गया। आज मानव जाति की समस्या यह नही कि उसे आर्थिक रूप मे सम्पन्न होना है। परन्तु, यह ह कि वह प्रकृति के साथ अपने सम्बन्धो को कितना स्थायी बना सकता है। "मत्स्य-न्याय" को आधार मान कर उसने सब प्रभुता सम्पन्न होने की समस्त शक्तियो को केन्द्रित कर लिया, लेकिन वह अपने मे केन्द्रित नही हो सका। उसका अपना केन्द्र ही नही रह गया है। प्रकृति स द्रोह करने मे वह स्वयम् असहाय और निरूपाय होकर रह गया है। 'मत्स्य न्याय' प्रणाली के लिये होकर प्रकृति मे पोषण पाने की जगह प्रकृति का दोहन करने को हो गया।

दर्शन और चिन्तन मे विकृत होना अतीव आसान है। 'मत्स्य-न्याय' का दर्शन ऐसा ही है। विवेक बुद्धि का व्यापार अतीव सूक्ष्म होता है। धारणा, विचार, विश्वास, मान्यता, मानसिकता और नैतिक दृष्टिया हमारे आपसी सम्बन्धो को लेकर बनती है। "जीवो जीवस्य भोजनम्" का सूत्र ऐसा ही है, जो मत्स्य न्याय का आधार ही गया। मत्स्य-न्याय व्यवहार ने जीवन-पद्धति को ही स्वामित्व के लिये कर दिया। दुबल को सबल के लिये कर के दास होने को विवश कर दिया। हर जीव व वस्तु उपयोग व उपभोग के लिये हो गयी। प्रकृति से अपने सम्बन्धो में तादात्म्य रहने की अपेक्षा प्रभुत्व के लिते होते गये। नैसर्गिक घटना और जीव की उसकी प्रवृत्ति ही प्रकृति मान ली गयी। निजी सत्ता की स्थापना का प्रारम्भ हो गया।

'मत्स्य न्याय' के दर्शन ने "मैं" को केवल देह बनाकर रख दिया। देह का विस्तार ही "मैं" का विस्तार मान लिया गया। प्रकृति मे "मैं" देह होकर नही है। देह तो वस्त्र है जो पहना जाता है और उतारा जाता है। प्रकृति तत्त्व है, जो सदव है। म देह से अलग इन्द्रियातीत तत्त्व है, यही उसका अस्तित्व है। प्रकृति स्वयम् अस्तित्त्व है, वह नास्ति होती नही है। सोना, कुण्डल मे हो चाहे कगन होकर रहे, सोना वहा हुआ रहता है। देह मरणधर्मा होकर भी अमृतरूपी अशरीरी "मैं" के लिये अधिष्ठान है। मैं, सब लोकालोका, कामनाओ को जानता है। वायु ही समस्त पदार्थों का आश्रय है, वैसे ही "मैं" है।

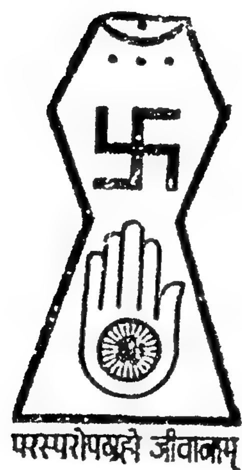
मैं क्या हू, इस समझ लेना ही प्रकृति का समझना है। मैं के अस्तित्व को आज तक कोई भी तर्क-शास्त्र, वैज्ञानिक विधि अथवा क्रिया सिद्ध नही कर सकी ह। पर, मैं हू, इस तथ्य से कोई इन्कार कर नही सकता है। मैं, जिस देह को लेकर प्रगट होता है, वही उसके लिए बनी रहती है। मैं का देह के प्रति व्यामोह ऐसा दुश्चक्र है कि मैं अटका रहता है।

"जीवो-जीवस्य भोजनम्" की यथार्थता के बावजूद हर वस्तु और जीव के बीच कोई ऐसी गहरी एकता है, जो विचारो और घटनाओ को हमारे मनोभाव, भय, आशा और आकाक्षाओ के

माथ जोड़ती और बाधती है। यह ऐसा गुरुत्वाकर्षण है, जो चुम्बकीय शक्ति की तरह प्रत्येक परमाणु की शक्तियों को एक-दूसरे के लिये किये रहता है। देह को प्राणी-विज्ञान वंश से जोडे रहता है।

सागर में तरगे तल पर ही वर्जन-तर्जन करके रह जाती है, भीतर प्रवेश ही नही कर पाती है। "जीवो-जीवस्य भोजनम्" जैसी घटनाएं भी सृष्टि के ऊपरी तल पर हुई रहती है। जिस प्रकार तरंगें स्वयम् विलीन होकर जल मे जल हुई रहती है, वैसे ही तत्त्व भी सृष्टि रूप होकर तत्त्व ही रहता है। पर, सृष्टि को देह की दृष्टि से देखने के कारण मृत्यु- वोध हुआ रहता हैं। मरण का भय ही आंतकिन किये रहता है

'मत्स्य-न्याय' का दर्शन पूर्व स्वीकृत धारणा है, जीवन का यथार्थ—"जो है-सो है, को समझने और इसे जीवन-सूत्र बनाने मे है। जो तू है, वही मैं हूं, यही आत्म-भाव है। यह भाव जहां होता है, प्रकृति खुली पुस्तक होकर "मैं" के लिये हो जाती है। मैं और तुम तदाकार होकर हम हो जाते है, जीवन-तत्त्व जीवन्त हो जाता है। सारी शक्तियां सहकार और प्यार के लिये हो जाती है।



चादनपुर के महावीर

□ कमल किशोर जंन

गभीर नदी के तट के समीप ग्राते-ग्राते 'जगदीश थक चुका था, टूट चुका था, ग्रौर साथ में उसकी पत्नी रामसी के पैरो ने भी उत्तर दे दिया था, वे कई दिन से नाक दडवत करते चादनपुर ग्राम से कोई 20 किलोमीटर दूर से महावीर बाबा के दर्शन कर ग्रपनी मनोतिया मनाने की इच्छा से लगातार चले ग्रा रहे थे ग्रौर उनके मन मे ग्राशा का सचार प्रबल था। तीर्थंकर बाबा के चरणो मे पहुच कर उनका कल्याण हो जायेगा।

जगदीश ग्रौर रामसी जैसे ग्रनेक व्यक्ति विभिन्न स्थानो स कनक दडवत करते प्रतिदिन श्री महावीर जी पहुचते हैं ग्रौर मीलो दूर पेट के बल लेट कर चलते हुए उनका शरीर छिल ही नही जाता, धूलमय भी हो जाता है। उनकी पत्नी पीछे-पीछे होती है ग्रौर ग्रपने पति के चरणो को लेती हुई पति के साथ ग्रागे बढती है। यह दृश्य इस राष्ट्रीय जन तीर्थ पर बहुधा देखने को मिलता है। इसे चाहे ग्रन्धविश्वास कहे या ग्रघी भक्ति परन्तु जाति ग्रौर सम्प्रदाय के भेदभाव से कोसो दूर इस दिगम्बर जन क्षेत्र पर ऐसी ही सच्ची भक्ति, से देश भर से भक्तगण ग्राते हैं। इनकी ग्रटूट श्रद्धा ही इस तीर्थ का बल है। यह इनकी महान तपस्या है।

कहा जाता है कोई चार सौ वर्ष पहले गम्भीर नदी के तट पर चादनपुर के किसी चमकार ग्वाले की गाय का दूध स्वत ही एक टीले पर जब झिरने लगा तो ग्वाले ने पीछा किया—कौन उसकी गाय का दूध चुराता है? जब उसने टीले पर दूध झरने का चमत्कार देखा, तो टीले की खुदाई की। वहा पाषाण की दिगम्बर प्रतिमा प्राप्त हुई ग्रौर यही जैन धर्म के चौबीसवें व ग्रतिम तीर्थंकर भगवान महावीर की ग्रलौकिक प्रतिमा थी। समय के साथ वहा मदिर बना, क्षेत्र का विकास हुग्रा जिसका क्रम ग्रब भी जारी है। तब से यह सभी धर्म ग्रौर सम्प्रदाय के लोगो का तीर्थ है।

गभीर नदी के दूसरी ग्रोर स्टशन के मार्ग पर शाति वीर नगर ग्रौर मदिर है। इसी के सामने कीर्ति ग्राश्रम भी स्थित है। ग्रनेक दानवीरो ग्रौर भक्त लोगो ने धर्मशालाएँ बना कर क्षेत्र के विकास म योग दिया है। ब्रह्मचारिणी कमला बाई का ग्रादर्श महिला विद्यालय ग्रौर छात्रावास एक ग्रनूठी शिक्षा सस्था है। यही पार्श्वनाथ भगवान की मूर्ति के साथ काच का एक कलापूर्ण मन्दिर नए बने मदिरो मे से एक है।

क्षेत्र कमेटी के अन्तर्गत जैन विद्या संस्थान-शोध और संदर्भ के कार्य मे रत है। हस्तलिखित पांडुलिपियो का सूचीकरण कर ग्रंथो के प्रकाशन के कार्य में यह संस्था मूल्यवान योग दे रही है। जैन संस्कृति और साहित्य के विकास और विस्तार में जैनविद्या संस्थान का महत्त्वपूर्ण योगदान उल्लेखनीय है। इसी संस्थान के अन्तर्गत महावीर पुरस्कार, छात्रवृत्ति और विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता देने की योजनाएं भी शामिल है।

लोकहित और लोक कल्याण की दृष्टि से श्री महावीर जी मे अनेक उपयोगी कार्य हुए हैं और संस्थाऐ स्थापित की गई है। एलोपैथिक डिस्पेन्सरी, आयुर्वेदिक औषधालय और होमयोपैथिक दवाखाने के होते हुए भी यहा महावीर योग प्राकृतिक चिकित्सालय और शोध संस्थान की स्थापना 6 बीघा भूमि के क्षेत्र मे की गई है। जैन आचार-विचार से परिपुष्ट इस चिकित्सा पद्धति के यहां आनन्दमय वातावरण मे स्वय पर अनुशासन और संयम रखकर जीवन व्यतीत करने की आदत बनाने का एक अच्छा प्रयास है। इस योजना से महिलाओ और पुरुषों के लिए अलग-अलग व्यवस्था कर लाभ पहुँचाने का कार्यक्रम है। यहां योग और प्राकृतिक चिकित्सा की सभी विधियां, विशेषज्ञो द्वारा उपयोग मे लाई जाती है।

तीर्थंकर प्रतिमा के उद्भव बिन्दु पर एक सुन्दर उद्यान है और मध्य मे संगमरमर से निर्मित महावीर स्तूप। यह भगवान महावीर के 25 सौ वी जयन्ती का एक भव्य स्मारक है। यहीं चरण चिन्ह छतरी है जिसमे महावीर स्वामी के चरण चिन्ह प्रतिष्ठित है। यहां दुग्धाभिषेक की होड सी लगी रहती है। चरण चिन्हो पर चढने वाली सामग्री आज भी उस चर्मकार के वंशज प्राप्त करते है जिन्हें इस प्रतिमा को भूमि से निकालने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस तीर्थ क्षेत्र और इसके मन्दिर के द्वार सभी धर्मों और वर्गो के लोगो के लिए भी खुले है।

लाल और सफेद पाषाण से बने दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी के विशाल मन्दिर की शोभा अद्वितीय है। चतुष्कोण आकार के इस मन्दिर की स्थापत्य कला अद्भुत है। इसके स्वर्ण कलशों से सुशोभित उत्तग तीन धवल शिखर, सम्यक दर्शन, ज्ञान, चरित्र के प्रतीक है। मन्दिर का प्रकोष्ठ दो भागों में विभक्त है और अलग-अलग कक्षो मे कलापूर्ण वेदियां हैं। पार्श्व प्रकोष्ठ के मध्य की तीन शिखर युक्त मुख्य वेदी है, जिनमें मूलनायक रूप मे भूगर्भ मे प्राप्त भगवान महावीर की दिगम्बर प्रतिमा है। बाकी वेदियों में अन्य तीर्थंकरो की पाषाण और धातु की दिगम्बर प्रतिमाऐं प्रतिष्ठित है।

मन्दिर के भीतरी और बाहरी प्रकोष्ठों मे संगमरमरी दीवारो पर बारीक खुदाई से और भित्ति चित्रांकन से मन्दिर की छटा को आकर्षक और प्रभावशाली बनाया गया है। चित्रांकनों मे दिगम्बर जैन शैली के स्वर्णिम तैल चित्र भी हैं। मन्दिर की बाहरी परिक्रमा में श्वेत संगमरमर पर दिगम्बर जैन आख्यानो के कलात्मक भाव उत्कीर्ण किए गए हैं।

मन्दिर के चारो ओर सुविधायुक्त कटला स्थित है। यहीं मन्दिर के प्रवेश द्वार पर प्रांगण में ही धवल संगमरमर पत्थर से निर्मित 52 फिट ऊँचा कलापूर्ण शिखर-युक्त मानस्तम्भ भी बना

हुग्रा है। कटले के चारो ग्रोर यात्रियो के ग्रावास के लिए सुविधापूर्ण कमरे बने हुए हैं। इस तीर्थ-क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी महावीरजी के मूल ग्राम चादन गाव ग्रौर उसके ग्रामवासियों की सुख सुविधा के लिए भी कृतसकल्प है। ग्रब यह कस्बा ग्रच्छी व्यापारिक मण्डी बनता जा रहा है।

वार्षिक मेला

महावीर जयन्ती के ग्रवसर पर यहा प्रति वर्ष चैत्र शुक्ला 13 से वैशाख कृष्णा द्वितीया तक पाँच दिवसीय लक्खी मेला भरता है। ग्रग्रेजी तिथियो के ग्रनुसार यह ग्रप्रेल मे होता है। मेले मे ध्वजारोहण, जयन्ती जुलूस, जलयात्रा, जिनेन्द्र रथयात्रा ग्रौर कलशाभिषेक ग्रादि के सुन्दर कार्यक्रम होते हैं।

मन्दिर, कटला तथा सभी भवनो पर मेले के प्रारम्भ से रात्रि को भव्य रोशनी होती है ग्रौर यह जगमगाहट ही मेले का स्वरूप ग्रलंकित करती है।

राष्ट्रीय स्तर का यह मेला उन विशाल मेलो मे से एक है जिसमे सभी भागो से सभी समुदाय तथा वर्गों के लोग समभाव से सम्मिलित होते हैं। इसमे साम्प्रदायिक राष्ट्रीय एव भावनात्मक एकता के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। भारत मे यह दिगम्बर जैन तीर्थ, ऐसा धार्मिक स्थल है, जहा जैन ही नही, ग्रपितु सभी वर्ग के लोग जिनमे मीणा, गूजर, जाट, ग्रहीर, चमकार ग्रादि भी सम्मिलित हैं, ऐक्य भावना से दर्शन कर भक्ति करते हैं, जय-जयकार करते हैं ग्रौर मनौतिया मनाते हैं। इस वार्षिक मेले का मुख्य ग्राकर्षण वैशाख की प्रतिपदा को जिनेन्द्र रथ यात्रा का कार्यक्रम है। स्वर्ण ग्राभा मे शोभित सुन्दर रथ मे भगवान की प्रतिमा विराजमान होती है। यह प्रतिमा पीत वस्त्रधारी भक्तजन मन्दिर से कटले तक पालकी मे लाते है। रथ का सचालन परम्परानुसार हिण्डौन के उपखण्ड ग्रधिकारी राज्य सरकार के प्रतिनिधि के रूप मे सारथी बन कर करते हैं। इस प्रकार धार्मिक भावनाग्रो से ग्रोत-प्रोत इस मेले को राजकीय प्रतिष्ठा एव मान्यता प्राप्त होती है। रथयात्रा प्रारम्भ होने से पहले चमकार ग्वाले के वशज ग्राज भी सम्मानित किए जाते हैं।

रथयात्रा के जुलूस मे मुख्य रथ के ग्रागे देवराज इन्द्र की ऐरावत हाथी पर सवारी होती है तथा दिगम्बर जैन मूल सघ भट्टारक की पालकी होती है। रथयात्रा के साथ परम्परा रूप से मीणा जाति के लोग मजीरो की झकार के साथ कूदते नाचते हुए नदी तट तक जाते है। रथ के नदी तट पर पहुचने पर भव्य पाण्डाल में विशाल जनसमूह के समक्ष जिनेन्द्र कलशाभिषेक भी होता है। कलशाभिषेक ग्रौर माला होने के बाद वापसी रथयात्रा जुलूस मे मीणो का स्थान गूर्जर जाति के लोग ले लेते हैं।

भगवान महावीर की ग्रलौकिक प्रतिमा वह है, जिसने ग्रधकार मे प्रकाश दिया, पाप को हटाकर पुण्य दिया, ग्रधर्म को दूर कर धर्म दिया ग्रौर निराश्य की भावना को समाप्त कर ग्राशा का सचार किया—इस प्रतिमा की चमत्कारिक प्रतिमा से सर्वत्र ज्ञान ज्योति का सचार हुग्रा है।

द्वितीय खण्ड

कुन्दकुन्द भारती

विशेष : डा. दरबारीलाल कोठिया, पं. बन्सीधरजी व्याकरणाचार्य, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रो. लक्ष्मीचन्द जैन, पं. बालचन्द सिद्धान्तशास्त्री, डा. रमेशचन्द जैन तथा डा. जे.के. जैन के लेख ब्राह्मी कुसुम की कविता ब्र. राकेशजी, पीसनहारी मढ़िया, जबलपुर के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं। (देखें सम्पादकीय)

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका वाङ्मय

☐ डॉ० दरबारीलाल कोठिया

व्यक्तित्व :

भारतीय चिन्तकों और ग्रन्थकारो में आचार्य कुन्दकुन्द का अग्रपंक्ति में स्थान है। उन्होंने अपने विपुल वाङ्मय के द्वारा भारतीय सस्कृतिको तत्त्वज्ञान और अध्यात्मप्रधान विचार तथा आचार प्रदान किया है। भारतीय साहित्य मे प्राकृत भाषा के महापण्डित और इस भाषा मे निबद्ध सिद्धान्त-साहित्य के रचयिता के रूप में इनका नाम दूर अतीत काल से विश्रुत है। मंगलकार्य के आरम्भ में बड़े आदर के साथ इनका स्मरण किया जाता है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम इन्द्रभूति के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्दका मगलरूप मे उल्लेख किया गया है। जैसा कि निम्न पद्य से प्रकट है—

मगलं भगवान् वीरो मगलं गौतमो गणी।
मगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम्॥

इससे अवगत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द एक महान् प्रभावशाली आचार्य हुए है, जो पिछले दो हजार वर्षो मे हुए हजारों आचार्यो मे अद्वितीय एवं असाधारण है। उनके उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों मे उन्हें सश्रद्ध स्मरण किया है। इतना ही नही, शिलालेखो मे भी उनकी असाधारण विद्वत्ता, अनुपम संयम, अद्भूत इन्द्रिय-विजय, प्राप्त ऋद्धि-सिद्धियो आदि का विशेष उल्लेख किया गया है। पट्टावलियो से विदित है कि उन्होने ११ वर्ष की अवस्था मे ही साधु-दीक्षा ले ली थी और समग्र जीवन सयम और तपोनुष्ठानपूर्वक व्यतीत किया था। वे चौरनमे वर्ष तक जिये और इस लम्बे जीवन मे उन्होने दीर्घचिन्तन, मनन एवं ग्रन्थ-सृजन किया।

समय :

इनके समय पर अनेक विद्वानों ने ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विचार किया है। स्वर्गीय पण्डित जुगलकिशोर "मुख्तार" ने[1] अनेक प्रमाणो से विक्रम की पहली शताब्दी इनका समय निर्धारित किया है। मूल संघ की उपलब्ध प्राकृत पट्टावली के अनुसार भी यही समय विक्रम सम्वत ४९ माना गया है। डॉ०ए०एन० उपाध्यायने[2] सभी के मान्य समयो पर गहरा ऊहापोह करके ईस्वी सन् का प्रारम्भ इनका अस्तित्व समय निर्णीत किया है।

1. पुरातन-वाक्य-सूची, प्रस्तावना, पृ. 12, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, 1950 ई.।
2. प्रवचनसार प्रस्तावना, पृ. 10-15, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1935 ई.।

ग्रन्थ-रचना

आ. कुन्दकुन्दने अपनी ग्रन्थ-रचना के लिए प्राकृत, पाली और संस्कृत इन तीन प्राचीन भारतीय भाषाओं में से प्राकृत को चुना, क्योंकि प्राकृत उस समय जन-भाषा के रूप में प्रसिद्ध थी और वे जन-साधारण तक अपने चिन्तन को पहुंचाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम, कषायपाहुड जैसे आप ग्रन्थ प्राकृत में ही निबद्ध होने से प्राकृत की दीर्घकालीन प्राचीन परम्परा भी उन्हें प्राप्त थी। अतएव उन्होंने अपने प्राय सभी ग्रन्थों की रचना प्राकृत भाषा में ही की है। उनकी यह प्राकृत शौरसेनी प्राकृत है। इसी शौरसेनी प्राकृत में दिगम्बर परम्परा के आगम-ग्रन्थों के अलावा अनेक उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थ रचे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृत-साहित्य के निर्माताओं में आचार्य कुन्दकुन्द का सर्वाधिक उच्च एवं मूर्धन्य स्थान है। इन्होंने जितना प्राकृत वाङ्मय रचा है उतना अन्य मनीषी ने नहीं लिखा। कहा जाता है कि कुन्दकुन्द ने ८४ पाहुडों (प्राभृतो-प्रकरण ग्रन्थों) तथा आचार्य पुष्पदन्त-भूतबली द्वारा रचित "षट्खण्डागम" आप ग्रन्थकी परिकर्म नामकी विशाल टीकाकी भी रचना की थी। पर आज यह सब ग्रन्थ राशि उपलब्ध नहीं है। फिर भी उनके जो ग्रन्थ प्राप्त हैं उनसे जैन वाङ्मय ही नहीं, भारतीय वाङ्मय भी समृद्ध एवं देदीप्यमान है। उनकी इन उपलब्ध कृतियों का यहां संक्षेप में परिचय दिया जाता है—

१ प्रवचनसार—इसमें तीन अधिकार हैं—(१) ज्ञानाधिकार, (२) ज्ञेयाधिकार और (३) चारित्राधिकार। इन अधिकारों में विषय के वर्णनका अवगम उनके नामों से ही ज्ञात हो जाता है। अर्थात् पहले अधिकार में ज्ञानका, दूसरे में ज्ञेयका और तीसरे में चारित्र (साधु-चारित्र) का प्रतिपादन है। इस एक ग्रन्थ के अध्ययन से जैन तत्त्वज्ञान अच्छी तरह अवगत हो जाता है। इस पर दो व्याख्यायें उपलब्ध हैं—एक आचार्य अमृतचन्द्र की है और दूसरी आचार्य जयसेन की। अमृतचन्द्र की व्याख्यानुसार इसमें २७५ (९२+१०८+७५) गाथायें हैं और जयसेन की व्याख्या के अनुसार इसमें उससे ४२ अधिक, कुल ३१७ गाथायें हैं। यह गाथाओं की संख्या-भिन्नता व्याख्याकारोंको प्राप्त न्यूनाधिक गाथा-संख्यक प्रतियों के मिलने के कारण हो सकती है। यदि कोई अन्य कारण हो तो वह अनुसंधेय है। ये दोनों व्याख्याएं संस्कृत में निबद्ध हैं और दोनों ही मूल को स्पष्ट करती हैं। इनमें अन्तर यही है कि अमृतचन्द्र की व्याख्या दुरूह एवं जटिल होने के साथ अत्यन्त हृदयस्पर्शी है। पर जयसेन की व्याख्या सरल एवं सुगमसाध्य तथा पूर्वाचार्यों के उद्धरणों की बहुलता से युक्त है।

२ पंचास्तिकाय—इसमें दो श्रुतस्कन्ध (अधिकार) है—१ षड्द्रव्य पंचास्तिकाय, और २ नवपदार्थ। इनमें विषय का वर्णन उनके नामों से स्पष्ट है। इस पर भी उक्त दोनों आचार्यों की संस्कृत में टीकाएं हैं और दोनों मूलको स्पष्ट करती हैं। पहले श्रुतस्कन्ध में १०४ और दूसरे में आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार ६८ तथा जयसेनाचार्य के अनुसार ६९ कुल १७२ या १७३ गाथाएं हैं। हैं। "मग्गप्पभावणट्ट" यह अन्तिम (१७३ संख्यक) गाथा अमृतचन्द्र की व्याख्या में नहीं है, किन्तु जयसेनकी व्याख्यामें है। यह गाथा-संख्याकी न्यूनाधिकता भी व्याख्याकारोंको प्राप्त न्यूनाधिक गाथा-संख्यक प्रतियोंका परिणाम जान पड़ता है।

३ समयसार—इसमें दश अधिकार हैं—१ जीवाजीवाधिकार, २ कर्तृकर्माधिकार, ३ पुण्यपापाधिकार, ४ आस्रवाधिकार, ५ संवराधिकार, ६ निर्जराधिकार, ७ बन्धाधिकार,

८. मोक्षाधिकार, ९ सर्वविशुद्धज्ञानादाधिकार, १०. स्याद्वादाधिकार। इन अधिकारोंके नामसे उनके प्रतिपाद्य विषयोंका ज्ञान हो जाता है। अन्तिम अधिकार व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा अभिहित है, मूलकार आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित नही है। अमृतचन्द्रको इस अधिकारको रचनेकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि समयसार का अध्येता पूर्व अधिकारोंमें वर्णित निश्चय और व्यवहार-नयोंकी प्रधान एव गौण दृष्टिसे समयसारके अभिधेय आत्मतत्त्वको समझे और निरुपित करे। इसीसे उन्होंने स्याद्वादाधिकारमे जैन दर्शन के प्राणभूत स्याद्वादके वाच्य-अनेकान्तका समर्थन करनेकेलिए तत्-अतत् सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयों (दृष्टियों) से आत्मतत्त्वका विवेचन किया है और कलश-काव्योमे प्रत्येक गाथाके अभिप्रायको स्पष्टतया व्यक्त किया है। इस समयसार पर भी उक्त दोनों आचार्योंकी संस्कृत-व्याख्यायें है जो मूलके हार्दको बहुत उत्तम ढगसे स्पष्ट करती हैं। अमृतचन्द्रने कई गाथाओं पर बहुत सुन्दर एव प्रौढ पद्यात्मक कलशकाव्य भी रचे है, जो आचार्य कुन्दकुन्द के गाथा-मन्दिरके शिखरपर चढ़े कलशकी भांति सुशोभित होते है। अनेक विद्वानोंने इन समस्त कलशकाव्योंको "समयसार-कलश" के नामसे पुस्तकारूढ करके अलगसे भी प्रकाशित किया है। समयसार और समयसार-कलश दोनोके हिन्दी आदि भाषाओंमे अनुवाद भी हुए है, जो इनकी लोकप्रियताको प्रकट करते है। इसमे ४१५ गाथाए हैं। यह समयसार (समयप्राभृत) नि.सन्देह तत्त्वज्ञानपूर्ण है।

४. **नियमसार**—इसमे १२ अधिकार और १८७ गाथाएं है। इसपर पद्मप्रभमलधारी-देवकी सस्कृत-टीका है, जो मूलको तो स्पष्ट ही करती है, सम्बद्ध एव प्रसंगोपात्त स्वरचित एव अन्य ग्रन्थकारोके श्लोकोंका भी आकर है। इस ग्रन्थमे भी समयसारकी तरह आत्मतत्त्वका प्रतिपादन है। मुमुक्षुके लिए यह उतना ही उपयोगी और उपादेय है; जितना समयसार।

५. **दंसण-पाहुड**—इसमे सम्यग्दर्शनका २६ गाथाओमे विवेचन है। इसकी कई गाथायें तो सदा स्मरणीय है। यहां निम्न तीन गाथाओंको देनेका लोभ संवरण नहीं कर सकता—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥३॥

सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥४॥

सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥५॥

इन गाथाओं मे कहा गया है कि "जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे वस्तुतः भ्रष्ट (पतित) है, क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट मनुष्यको मोक्ष प्राप्त नही होता। किन्तु जो सम्यग्दर्शनसे सहित हैं और चारित्रसे भ्रष्ट हैं उन्हे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। पर सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट सिद्ध नही होते। जो अनेक शास्त्रोके ज्ञाता है, किन्तु सम्यक्त्व-रत्नसे च्युत हैं; वे भी दर्शनाराधनासे रहित होनेसे इस संसारमे बार-बार चक्कर काटते (जन्म लेते और मरते) है। जो करोड़ों हजार वर्षों तक उग्र तप करते है, किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित है; वे भी बोधिलाभ (मोक्ष) को प्राप्त नहीं होते।

कुन्दकुन्दने "दसरण-पाहुड" मे सम्यग्दर्शनका महत्त्व बतलाते हुए उसकी प्राप्ति के लिए गृहस्थ और साधु दोनोको प्रेरित किया है।

६ चारित्तपाहुड—इसमे ४४ गाथाओ के द्वारा मनुष्य जीवनको उज्ज्वल बनाने वाले एव मोक्षमार्गके तीसरे पाये सम्यक्चारित्रका अच्छा निरुपण है।

७ सुत्तपाहुड—इसमे २७ गाथाए हैं। इनमे सूत्र (निर्दोष वाणी) के महत्त्व और तदनुसार प्रवृत्ति करनेपर बल दिया गया है।

८ बोधपाहुड—इसमे ६२ गाथाए हैं, इनमे उन ११ बातो का निरुपण किया गया है, जिनका बोध मुक्तिके लिए आवश्यक है।

९ भावपाहुड—इसमे १६३ गाथाओ द्वारा भावो-आत्मपरिणामोकी निर्मलताका विशद निरुपण किया गया है।

१० मोक्खपाहुड—इसमे १०६ गाथाए निबद्ध हैं। उनके द्वारा आचार्य ने मोक्षका स्वरूप बतलाते हुए बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन आत्म भेदाका प्रतिपादन किया है।

११ लिंगपाहुड—इसमे २२ गाथाए हैं। इन गाथाओंमे मुक्तिके लिए आवश्यक लिंग (वेष), जो द्रव्य और भाव दो प्रकारका है, का कथन किया है।

१२ सीलपाहुड ४० गाथाओ द्वारा इसमे विषयतृष्णा आदि असील (विकारो) को बन्ध एव दु खका कारण बतलाते हुए जीवदया, इन्द्रिय-दमन, सयम आदि शीलो (सम्यक्वृत्तियो) का निरुपण किया गया है।

इन उपर्युक्त आठ पाहुडोको "अष्टपाहुड" और आरम्भके ६ पाहुडो को 'षट्पाहुड' कहा जाता है। आदिके ६ पाहुडा पर श्रुतसागर सूरिकी सस्कृत-व्याख्या भी उपलब्ध है।

१३ बारस अणुवेक्खा—इसमे वैराग्योत्पादक १२ अनुप्रेक्षाओ (भावनाओ) का ९१ गाथाओंमे प्रतिपादन है।

१४ सिद्धभत्ति—इसमे १२ गाथाओ द्वारा सिद्धाका स्वरूप व उनकी भक्ति वर्णित है।

१५ सुदभत्ति—इनमे ११ गाथाए हैं। इनमे द्वादशाङ्ग श्रुतकी भक्ति प्रतिपादित है।

१६ चारित्तभत्ति—इसमे १० अनुष्टुप गाथाओ द्वारा पाच प्रकारके चारित्रका दिग्दर्शन है।

१७ योगिभत्ति—२३ गाथाओ द्वारा इसमे योगियोकी विभिन्न अवस्थाओका विवेचन है।

१८ आयरियभत्ति—इसमे १० गाथाओं द्वारा आचार्यके गुणोकी सम्स्तुति की गई है।

१९ णिव्वाणभत्ति—इसमे २७ गाथाए हैं और उनमे निर्वाणका स्वरूप एव निर्वाणप्राप्त तीर्थकरोकी स्तुति की गई है।

२०. **पंचगुरुभत्ति**—यह ७ गाथाओंकी लघु कृति है और पांच परमेष्ठियोकी भक्ति इसमें निबद्ध है।

२१. **थोस्सामिथुदि**—इसमें ८ गाथाओं द्वारा ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरोकी स्तुति की गई है।

इन २१ रचनाओंके सिवाय कुछ विदवान् "रयणसार" और "मूलाचार" को भी कुन्दकुन्दकी रचना बतलाते है। पर कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंके साथ उनका मेल नही खाता। अतः हमने यहां उन्हें नहीं लिया है।

कुन्दकुन्द की देन :

कुन्दकुन्दके इस विशाल वाङ्मय का सूक्ष्म और गहरा अध्ययन करने पर उनकी हमे अनेक उपलब्धियां अवगत होती है। उनका यहा अंकन करके उन पर सक्षिप्त विचार किया जाता है। वे है—

१. साहित्यिक उद्भावनाएं, २. दार्शनिक चिन्तन, ३. तात्त्विक विचारणा और ४. लोककल्याणी दृष्टि।

१. साहित्यिक उद्भावनाएं—हम पहले कह आये है कि कुन्दकुन्दकी उपलब्ध समग्र ग्रन्थरचना प्राकृत-भाषामे निबद्ध है। प्राकृत-साहित्य गद्यसूत्रों और पद्यसूत्रो दोनोंमे उपनिबद्ध हुआ है। कुन्दकुन्दने अपने समग्र ग्रन्थ, जो उपलब्ध है, पद्यसूत्रो, गाथाओंमें ही रचे है। प्राकृतका पद्य-साहित्य यद्यपि एकमात्र गाथा-छदमे, जो आर्याछन्दके नामसे प्रसिद्ध है, प्राप्त है, किन्तु कुन्दकुन्दके प्राकृत पद्य-वाङ्मय की विशेषता यह है कि उसमें गाथा-छंदके अतिरिक्त अनुष्टुप् और उपजाति छन्दोका भी उपयोग किया गया है और इस छंदवैविध्यसे उसमें सौन्दर्यके साथ आनन्द भी अध्येता को प्राप्त होता है। अनुष्टुप् छन्दके लिए भाव-पाहुड गाथा ५९, नियमसार गाथा १२६ और उपजाति छन्दके लिए प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकार की "णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण" गाथाएं दृष्टव्य है। यद्यपि षट्खण्डागमके पचम वर्गणाखण्ड के ३६वें "णिद्धस्स णिद्धेण" सूत्रको ही ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थका अग बना लिया है, तथापि छन्दोकी विविधतामे क्षति नही आती; वह स्पष्टतया विद्यमान है।

इसीप्रकार **अलंकार-विविधता** भी उनके ग्रन्थोमे उपलब्ध होती है, जो काव्यकी दृष्टिसे उसका होना अच्छा है। **अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकारके** लिए भावपाहुडकी "ण मुयइ पयडि अभव्वो" (१३७ सम्यक) गाथा, **उपमालकारके** लिए इसी ग्रन्थकी "जह तारयाणचन्द्रो" (१४३ सम्यक) गाथा और रूपकालकार के लिये उसीकी "जिणवरचरणबुरुह" (१५२) गाथा देखिये। इस प्रकार कुन्दकुन्दके प्राकृत वाङ्मयमें अनेक साहित्यिक उद्भावनाये परिलक्षित होती है, जिनसे स्पष्ट अवगत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द केवल सिद्धान्तवेत्ता मनीषी ही नही थे, अपितु वे उच्च कोटिके साहित्यकार भी थे और विविध छदो तथा अलकारोमे कविता करनेकी विशिष्ट प्रतिभा भी उन्हे प्राप्त थी।

दार्शनिक चिन्तन

कुन्दकुन्द का दार्शनिक चिन्तन आगम, अनुभव और तर्क पर विशेष आधृत है। जब भी किसी वस्तुका विचार करते हैं, तो उसमे सिद्धान्तके अलावा दर्शनका आधार अवश्य रहता है। पचास्तिकाय (गा १०) मे कुन्दकुन्दने द्रव्यके दो लक्षण किये हैं। एक यह कि जो सत् है, वह द्रव्य है तथा सत् उसे कहते हैं जिसमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनो युगपत् पाये जायें। जगतकी सभी वस्तुए सत्स्वरूप हैं और इसीसे उनमे प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है। दूसरा लक्षण यह है कि जो गुणो और पर्यायोका आश्रय है। अर्थात् गुण-पर्याय वाला है। पहला लक्षण जहा द्रव्यकी परिणमन शक्तिको प्रकट करता है वहा दूसरा लक्षण द्रव्यको गुणो और पर्यायोका समुच्चय सिद्ध करता है तथा उसमे सहानेकान्त और क्रमानेकात इन दो अनेकान्तोको बतलाकर सभी वस्तुओको अनेकान्तात्मक सिद्ध किया है। कुन्दकुन्दके इन दोना लक्षणोको उत्तरवर्ती आ गृद्धपिच्छ (तत्त्वार्थ सूत्रकार) जसे सभी आचार्योने अपनाया है।

कुन्दकुन्दका दूसरा नया चिन्तन यह है कि आगमोमे जो 'सिया अत्थि" (स्याद् अस्ति-कथचित् है) और "सिया णत्थि" (स्यान्नास्ति-कथचित् नही है) इन दो भगा (प्रकारा) से वस्तुनिरूपण है। कुन्दकुन्दने उसे सात भगो (प्रकारो) से प्रतिपादित किया है तथा द्रव्य मात्रको सात भग (सात प्रकार) रूप बतलाया है, (पचा गा १४)। उनका यह चिन्तन एव प्रतिपादन समन्तभद्र जैसे आचार्योके लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुआ। समन्तभद्रने उनकी इस "सप्तभगी" को आप्तमीमासा, स्वयभूस्तोत्र आदिमे विकसित किया एव विशदतया निरूपित किया है।

तात्त्विक चिन्तन

कुन्दकुन्दकी उपलब्ध सभी रचनाए तात्त्विक चिन्तनमे ओतप्रोत हैं। समयसार और नियमसारमे जो शुद्ध आत्माका प्राय जैसा और जिस प्रकारका विशद और विस्तृत विवेचन है वैसा और उस प्रकारका वह अन्यत्र अलभ्य है। आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदोका (मोक्ष पाहुड गा ४-७) कथन उनसे पहले किसी ग्रन्थमे उपलब्ध नही है। सम्यग्दर्शनके आठ अगोका निरूपण (स सा २२६-२३६), अणुमात्र राग रखने वाला सर्वशास्त्रज्ञ भी स्वसमयका ज्ञाता नही (पचा १६७) जीवको सर्वथा कर्मबद्ध अथवा सर्वथा कर्म-अबद्ध बतलाना नयपक्ष (एकान्तवाद) है और दोनो का ग्रहण न करना समयसार है (स सा १४१-१४३), तीर्थंकर भी वस्त्रधारी हो तो सिद्ध नही हो सकता (द पा २३) आदि तात्त्विक विवेचन कुन्दकुन्दकी अनुपम देन है।

लोक कल्याणी दृष्टि

कुन्दकुन्दकी दृष्टिमे गुण कल्याणकारी है, देह, जाति, कुल आदि नही (द पा २७) आदि निरूपण भी उनकी अनोखी लोक कल्याणी दृष्टिकी देन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आ कुन्दकुन्दने अपने वाङ्मय द्वारा मनुष्य मात्र के हित का मार्ग प्रशस्त किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द और योगविद्या

☐ ब्र० कुमारी कौशल

झाण णिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव ही सव्वादिचारस्स पडिकमणं ।। नि. सा./८३

आचार्य कुन्दकुन्द जैन जगत् के सर्वप्रिय व चर्चित श्रमण है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के उपरान्त बचपन से कौण्डेश नाम से पहिचाने जाने वाले वे उदीयमान द्वितीया के चन्द्र थे। प्रज्ञा की प्रखरता के कारण ये कलिकाल सर्वज्ञ कहलाते थे। इनकी अनेक रचनाओ मे क्रमशः प्रखर व निखरती हुई प्रतिभा की प्रौढ़ता व विषय की सूक्ष्मता एवं विशदता के दर्शन होते है। यद्यपि इन रचनाओं का प्रतिपाद्य विषय आत्मा का त्रिकाल स्वयंसिद्ध अस्तित्व, उसका शुद्ध स्वरूप तथा मुक्ति का उपाय रत्नत्रय ही है, फिर भी उसमे कथन की दिशाओ में विभिन्नता है। उनकी प्रथम रचना पंचास्तिकायमें छः द्रव्यों के माध्यम से, प्रवचनसार मे ज्ञान-ज्ञेय तत्व के माध्यम से, समयसार में सात तत्त्व एवं नव पदार्थो के परिवेश में उसी तत्त्वका विवेचन किया गया है, नियमसार मे त्रिकाल शुद्ध कारण समयसारका अवलबन लेकर शुद्धात्मा के ध्यान का वर्णन है। साधु के पट् आवश्यक कर्मो की व्यवहार से उपयोगिता बताते हुए भी परमार्थ से शुभ-अशुभ परिणति से विरक्त होकर आत्मस्वरुप मे प्रवृतिका वर्णन किया गया है और प्रेरणा दी है। आत्मरति को ही परम सुख व मोक्षमार्ग कहा है। उनके विस्तृत विवेचन व विश्लेषण में दर्शन व धर्म, निश्चय व व्यवहार का समानन्तर कथन एव सन्तुलन है।

१. धर्म का मूल--

आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप को मोक्षमार्ग कहा है। (द.पा /मू /३०, ३२) और भी कहा है, जैसे जहाज चलाने वाला निर्यापक तो ज्ञान है, पवन की जगह ध्यान है और चारित्र जहाज है। इस ज्ञान, ध्यान चारित्र के मेल से भव्य जीव ससार समुद्र से पार हो जाते है। ज्ञान तो प्रकाशक है, तप ध्यान कर्म विनाशक है और चारित्र रक्षक है, इन तीनो के सयोग से मोक्ष होता है। (भ.आ./८१६/८११)

दंसण मूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेंहि सिस्साणं। (द पा /२)

जिन भगवान ने दर्शन को धर्म का मूल कहा है और चारित्र को धर्म का वृक्ष कहा है।

२ धर्म का लक्षण—

चारित्त खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोति णिदिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु सम्मो । (प्र सा /७)

अर्थ-चारित्र ही वास्तव मे धम है, जो धर्म है वह साम्य है और साम्य आत्मा का मोह और क्षोभ से रहित परिणाम है ।

३ आत्मा का लक्षण—

मुख्यत आत्मा उपयोग लक्षण वाला है । इसके अतिरिक्त आत्मा का लक्षण करते हुए कहा हैं

जीवो वि हवदि चेदा उवओग विसेसदो । (प का/२७)

अर्थ आत्मा जीव हैं, चेतयिता है उपयोग विशेष वाला है ।

अरसमरूवमगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द ।
जाण अलिगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठ सठाण ।। (स सा/४७)

अर्थ—जीव रस, रूप व गध रहित है । इन्द्रिय अगोचर, चेतना गुणवाला, शब्द रहित, किसी चिन्ह से ग्रहण न होने वाला और जिसका कोई आकार नही है, ऐसा कहा जाता है । (प का १२७) (प्र सा/१७२) (भा पा/६४) (न सा/५७-६८)

उपरोक्त लक्षण निश्चय नयकी अपेक्षा है । व्यवहार नयकी अपेक्षा जीवका लक्षण इस, प्रकार है—

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसदो पहूकत्ता ।
भोत्ता य देहमेत्तो णहि मुत्तो कम्मसजुत्तो ।।प का/२७

अर्थ—(ससारस्थित) आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोग लक्षित है, प्रभु है, कर्ता है भोक्ता है, देह प्रमाण है, अमूर्त और कम सयुक्त है । (भा पा/१४८)

२ विभिन्न भावों का कर्तृत्व—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सोबधो ।।(प्र सा/१७५)

अर्थ—उपयोगमय जीव विविध विषयो को प्राप्त कर के मोह, राग अथवा द्वेष करता है, वह जीव उनके द्वारा बध रूप है ।

इस प्रकार पर पदार्थों मे राग द्वेष-मोह के कारण जीव स्वचारित्र भ्रष्ट और पर-चारित्र आचरण करने वाला कहा गया है । (प का/१५६) इस भाव को समयसार मे स्व-समय और पर-समय नाम कहा है—

जीवो चरित्त दंसरण णाणट्ठिदो तं हि सवसमय जारण ।
पोग्गल कम्मपदेसट्ठिदं च तं जारण परसमयं ।। (स.सा./२)

अर्थ—जो जीव चारित्र-दर्शन-ज्ञान मे स्थित है, उसे निश्चय से स्वसमय जानो । जो जीव पुद्गल कर्म प्रदेशो मे स्थित है, उसे पर-समय जानो ।

इसी विधि से जीव के शुभ-अशुभ भाव होते है—

जीवो परिणमदि जदा सुहेरण असुहेरण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेरण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ।। (प्र.सा./९)

अर्थ—जीव परिणाम स्वभावी होने से जब शुभ-अशुभ भावरूप परिणमन करता है, तब शुभ या अशुभ होता है । जब शुद्ध भाव रूप परिणामित होता तब शुद्ध होता है ।

शुभ-अशुभ भाव से जीव बधता है और शुद्ध भाव से शुद्धात्मा को प्राप्त करता है । इन्ही राग-द्वेष भावो का निमित्त पाकर कर्म बन्धता है और उसके अभाव से जीवकर्म से छूटता है । (प्र. सा./२४४-२४५)

५. पुद्गल स्वयं कर्म भावापन्न—

सारे लोक में सर्वत्र विविध प्रकार के अनंतानंत सूक्ष्म-बादर पुद्गल भरे पड़े है । (पं. का./६४-६५) वे जीव भावों का निमित्त पाकर स्वयं ही कर्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं ।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्व ।।(स सा /९१)

अर्थ—आत्मा जिस भाव को करता है, उस भाव का कर्ता होता है । उस भाव के होने पर पुद्गल कर्म रूप से स्वय परिणमित होता है । सारांश यह है कि—

रत्तो बन्धदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बन्धसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ।। (प्र. सा./१७९)

अर्थ—रागी आत्मा कर्म बांधता है, राग रहित आत्मा कर्म से छूटता है । यह जीवो का बन्ध सक्षेप से जानो । (पं. का./१४८-१४९) (स सा./३०१-३०३)

६ जीव कर्म का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध—

जीव और कर्म का परस्पर मे ऐसा ही कुछ निमित्त-नैमितिक सम्बन्ध है । जब जीव भाव करता है, तब पुद्गल कर्म आत्म-प्रदेशो से बन्ध को प्राप्त होता है । जैसा कर्म का उदय होता है, वैसा ही जीव का भाव होता है । जबकि वास्तव में दोनों अपने-अपने कर्म के कर्ता है ।

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारण हवदि ।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तार ॥ (प का/६०)

अर्थ—जीव भाव का कम निमित्त है और कम का जीव भाव निमित्त है । जबकि वास्तव म एक दूसरे के कर्ता नही है । कर्ता के बिना होते हैं ऐसा भी नही है ।

समार अवस्था में जीव मिथ्यात्व के उदय मे मिथ्यादृष्टि, अज्ञान के उदय से अज्ञानी, कषाय के उदय से अचारित्रवान होता है । (स सा/१६१-१६३) और भी कहा है—

जो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणावच्छण्णो ।
ससारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्व ॥ (स सा/१६०)

अर्थ—यह आत्मा स्वभाव से सब को देखने-जानने वाला होने पर भी कर्म से लिप्त होता हुआ सब को नही जानता ।

७ मोहित मति—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिण भणदि पोग्गल दव्व ।
बद्धमबद्ध च तहा जीवो बहुभावसजुत्तो ॥ (स सा/२३)

कम से बधा हुआ जीव मोहित मति होता हुआ पर-द्रव्यो मे आत्मबुद्धि करता है और दुखी-सुखी होता है ।

अर्थ—जिसकी मति अज्ञान (मोह) मे मोहित है, और जो मोह, राग द्वेषादि भावो से युक्त है वह कहता है कि "यह शरीरादि बद्ध तथा धन धान्यादि अबद्ध पुद्गल द्रव्य मेरा है । (स सा/२० २१) (प्र सा/१८३)

८ आत्मा केवल भाव का कर्ता—

कुव्व सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स । (प्र सा/१८४)

अर्थ—वास्तव आत्मा अपने भाव को करता हुआ, उसी का कर्ता है, पर द्रव्य का नही ।

९ जीव के कर्म बध नय पक्ष—

जीवे कम्म बद्ध पुट्ठ चेवि ववहारणयभणिद ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठ हवदि कम्म ॥ (स सा/१४१)

अर्थ—जीव कम से बधा है, स्पर्शित है ऐसा व्यवहार नय है । जीव म कम अबद्ध अस्पर्शित है, ऐसा शुद्ध नयका कथन है । जो दोनो को पार कर चुका है, वह समयसार है ।

१० बधन के चिन्तन मात्र से मुक्ति नहीं—

जिस प्रकार बन्धनो से बधा हुआ पुरुष बधो का विचार करके मुक्ति को प्राप्त नही करता, इसी प्रकार कर्म-बन्धो को विचार करके जीव मोक्ष को प्राप्त नही करता (स सा/२१) ।

कर्म व शरीरादि पदार्थ आत्मा से सर्वथा भिन्न है। किन्तु "मैं और मेरा" भाव ही बन्ध है। अज्ञान से जीव पर-पदार्थों में आत्मबुद्धि करता है। इसी कारण अपने अज्ञान भाव का भोक्ता भी होता है, किन्तु, विकारी भावो व शुद्ध उपयोग रूप आत्मा में प्रज्ञा रूप पैनी छैनी से स्वयं को भिन्न पहचाना जा सकता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि विभिन्न रगों के सयोग से रंगीन दिखाई देती है, किन्तु मणि के स्वभाव के निकट जाकर देखने पर रग उसको छू नही गए होते है। इस प्रकार ज्ञानी उपयोग लक्षण रुप कारण समयसार के द्वारा आत्मा को पर-द्रव्यो से सर्वथा भिन्न व शुद्ध अनुभव करता है।

११ भेद विज्ञान की विधि—

पण्णए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ।। (स.सा/२९७-२९९)

अर्थ—प्रज्ञा के द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि जो चेतने वाला और देखने वाला व जानने वाला चेतन स्वरूप आत्मा है, निश्चय से वह मैं हूं, शेष जो भाव है वे मुझ से पर है, ऐसा जानना चाहिये।

इस प्रकार जीव पर-द्रव्य को पर जानकर अर्थात् 'यह पर है' ऐसा जानकर उसकी ओर से लक्ष्य हटाता है। इसी प्रकार आत्मा क्रोधादि विकारो को पर जानकर उपेक्षा करता है और अपने ज्ञान स्वभाव को अधिक जानकर उसमें स्थिर होता है। (स. सा./३५-३७) ज्ञान और ज्ञेय में भेद करके ज्ञेयो को मात्र जानता है और साम्यता को प्राप्त होता है।

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सयारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणु मेत्तं पि ।। (स.सा/३८)

अर्थ—स्वरूप सचेतन के समय आत्मा जानता है, कि निश्चय से मैं एक हू, शुद्ध हूं, दर्शन ज्ञानमय हूं, सदा अरुपी हू, किंचित मात्र भी अन्य पर द्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है, यह निश्चय है। ऐसा चिन्तन नही अपितु अनुभव करता है।

विकारो से संश्लिष्ट होने पर भी उसमे केवल शुद्ध उपयोग मात्र का लक्ष्य करने का नाम ही भेद विज्ञान है। जिस प्रकार विविध मसालों से मिश्रित व्यजन मे लक्षण भेद से उपयोग में प्रज्ञा रूप छैनी के द्वारा लवण को भिन्न पहिचाना जाता है, इसी प्रकार से विविध विकारी भावो मे चमकती ज्ञानरूप ज्योति के विवेक द्वारा ज्ञाता-दृष्टा रहकर भिन्न अनुभव किया जाता है। जो चिद्‌ज्योति मात्र ज्योति है। विकारो से अस्पर्शित होने के कारण बन्धादि उपाधियों से रहित तथा सदा शुद्ध है। यथा—

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव ।। (स.सा./६)

अर्थ—जो ज्ञायक भाव है वह न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है। इसे शुद्ध कहते हैं। जो ज्ञायक रूप से जानने वाले के रूप मे ज्ञात हुआ, वह तो वही है, अन्य कोई नही है।

वह आत्म सवेदन किस प्रकार किया जाता है, इसका कथन करते हुए आ अमृतचन्द्र कहते है–प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञान स्वभाव आत्मा का निर्णय करके फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धी के लिए पर-पदार्थ की प्रसिद्धि का कारण भूत इन्द्रियो द्वारा और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियो को मर्यादा मे लेकर जिसने मतिज्ञान तत्व को आत्म सन्मुख किया है, तथा जो नाना प्रकार के नयपक्ष के अवलम्बन मे होने वाले अनेक विकल्पो के द्वारा आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धियो को भी मर्यादा मे लेकर, श्रुतज्ञान तत्व को आत्म सन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल निज रस से ही प्रगट होता हुआ, आदि मध्य और अन्त से रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानो तैरता हो, ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन, परमात्मा रूप समयसार का अनुभव करता है। तब उसी समय सम्यक्तया दिखाई देता है और ज्ञात होता है। (स सा टी १४४)

१२ अचक्षुदर्शन ही आत्म ग्राहक है—

विश्व मे जो भी अनुभव होता है, वेदन होता है, उसमे विकल्प नही होता। और निज का अर्थात् आत्मा का अनुभव तो इन्द्रिय और मन से सर्वथा रहित होने से पूर्ण निर्विकल्प और स्वसवेदन प्रत्यक्ष है। ज्ञान पर-पदार्थों को तो पृथक् रहकर प्रकाशित करता है, किन्तु स्वय को ऐसे प्रकाशित नही करता। आत्मा और ज्ञान पृथक वस्तु नही है। अत स्वय तो आत्मा प्रकाशित होता है अथवा सवेदन किया जाता है। इसलिए सम्यग्दर्शन मे कोई विकल्प नही है। आत्मा का लक्षण उपयोग किया गया है। वह उपयोग दर्शन व ज्ञान रूप है। सम्यग्दर्शन वास्तव मे आत्म सचेतन रूप होने के कारण दर्शनोपयोग का विषय है। कहा है—

अत्र चतुष्टयमध्ये मानसचक्षुदर्शनमात्म ग्राहक भवति। (प प्र टी २ ३४ १५४)

अर्थ—चारो दर्शना मे से मानस अचक्षुदर्शन आत्मग्राहक है।

सामान्य विशेष रहित नही होता। उस स्थिति मे दर्शनोपयोग की अवस्था मे ज्ञान भी है। कहा है -

स्वसवित्याकारेण सविकल्पमपीन्द्रिय मनोजनित रागादि।
विकल्प ज्ञान रहितत्वेन निर्विकल्पम् (द्र स/टी/५-६)

अर्थ—स्वसवेदन आत्मा के आकार मे सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न विकल्प से रहित होने के कारण निर्विकल्प है (प ध ५ १ १६) उक्त विषय के समर्थन मे कहा है कि चू कि आत्मा मे पूर्ण विश्व झलकता है, इसलिए व्यवहार से केवली भगवान जगत् को जानते है। वास्तव म अपनी आत्मा को ही जानते देखते हैं।

जाणदि पस्सदि सव्व ववहारणएण केवली भगव।
केवलणाणी जाणादि परस्सदि णियमेण अप्पाण॥ (नि सा/१५६)

आत्म अनुभव के लिए चिन्तन नही ध्यान की आवश्यकता है। बौद्धिक विचार नही, अपितु पर-द्रव्यो से स्वय को भिन्न देखने व अनुभव की आवश्यकता है। चिन्तन परोक्ष का होता है अनुभव प्रत्यक्ष का। चिन्तन शब्दात्मक है, जबकि दर्शन व अनुभव निर्विकल्प। विचार भटकाता

है. तोड़ता है, जबकि दर्शन अखण्डका होता है। इसलिए कहा है, वचन वाचन है, स्वाध्याय है, अनुभव नही। अनुभव मौन तटस्थ दर्शन व ध्यान से होता है। ध्यान से ही कर्म निर्जरा होती है। निर्विकार व रूकी हुई ज्ञानवृत्ति ही ध्यान है। अत. आत्मध्यानी की सभी क्रियायें सार्थक है। अन्य सभी क्रियाये शुभ और अशुभ कर्म के बन्धकी कारण होती है। इसलिए ध्यान का अभ्यास करो।

१३. आत्मध्यानी ही अंतरात्मा है—

जो धम्मसुक्क झाणिम्ह परिणदो सोवि अंतरंगप्पा।
झाण विहीणो समणो वहिरप्पा इदि विजाणोहि ॥ (नि सा/१५१)

अर्थ - जो धर्म और शुक्ल ध्यान मे परिणत है वह अन्तरात्मा है। ध्यान विहीन श्रमण वहिरात्मा है। (नि सा./१५०) आर्त-रोद्र अशुभध्यान है, इन्हे छोड़ो (मू आ. ३९४)।

ध्यान के प्रसग मे कहा है कि जो पर-द्रव्यो से अपने उपयोग को हटाकर अपने मे स्थापित करता है, उसको कर्म का वन्ध कैसे सम्भव है।

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहि सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥ (प्र सा/१५१)

अर्थ—जो इन्द्रियादिका विजयी होकर उपयोग मात्र आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मो के द्वारा रजित नही होता। उसे प्राणो का सम्वन्ध कैसे हो सकता है। (स सा ७३) और कहा है— "अन्य पर-द्रव्यो मे मैं मध्यस्थ होता हुआ, शुभ-अशुभ उपयोग रूप नही होता हुआ, मै ज्ञानात्मक आत्मा को ध्याता हू। (प्र सा टी १५१)

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठि ॥ (प्र सा/१९४)

अर्थ—शरीर, धन, शत्रु, मित्र तथा सुख, दु ख, ध्रुव नहीं है, ध्रुव तो एक उपयोगात्मक आत्मा है। ये सव सयोग आते है और चले जाते है। (प्र सा १९३) ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ जो परम-आत्मा का ध्यान करता है—

ततोऽनन्तशक्ति चिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसंचेतन लक्षणं ध्यानं स्यात।
(प्र.सा./टी./१९४)

अर्थ—इसलिए अनत शक्ति वाले चिन्मात्र परमात्मा का एकाग्र सचेतन लक्षण ध्यान होता है। वह साकार हो अथवा निराकर मोह दुर्ग्रथि का क्षय करता है। (प्र.सा. १९५-१९८)

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरूंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि आदा ॥ (प्र.सा/१९६)

अर्थ—जो मोह मलका क्षय करके, विपय से विरक्त होकर, मनका निरोध करके स्वभाव मे अवस्थित है, वह आत्मा का ध्यान करने वाला है, तथा अनिन्द्रियातीत और इन्द्रियातीत होता हुआ परम सौख्य रूप आत्मा का ध्यान करता है। (प्र. सा. १९८)

१४ कर्म निर्जरा का हेतु मात्र ध्यान है—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोग परिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमम्रो जायदे अगणी ।। (प का /१४६)

अर्थ—जिसे मोह, राग, द्वेष नहीं है, तथा मन-वचन-काय योगों का सेवन नही है अर्थात् उनके प्रति उपेक्षा है, उसे शुभाशुभ को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि प्रगट होती है ।

ज्ञानी देह, मन, वाणी से अपने आत्मा का उपयोग लक्षण के द्वारा भिन्न करता हुआ अर्थात् उनको साक्षी भाव से देखता हुआ, पर-द्रव्यों का कर्ता-अनुमन्ता आदि नहीं होता है । (प्र सा १७६) (स सा ५०-६२) केवल अपने ज्ञान में प्रवर्तित अन्वय और चिद्विवर्तों का मात्र ज्ञाता होता है । कहा है—

जो जाणदि अरहंत दव्वगुणत्त पज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं । (प्र सा /८०)

अर्थ—जो अरहंतको द्रव्य गुण-पर्यायपने जानता है, वह अपने आत्माको जानता है। उसका मोह अवश्यक्षय होता है । जैसे मोतियोको (गुणोको) झूलते हुए हारमें अन्तर्गत माना जाता है, उसी प्रकार चिद्विवर्तोंको चेतनमें ही अन्तर्गत करके, तथा विशेषण विशेष्यताकी वासनाका अन्तर्धान होनेसे-जैसे सफेदीको हारमें अन्तर्हित किया जाता है, उसी प्रकार चैतन्यको चेतनमें ही अन्तर्हित करके, जैसे मात्र हारको जाना जाता है, उसी प्रकार केवल आत्माको जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षणमें कर्ता-कर्म-क्रियाका विभाग क्षयको प्राप्त होता जाता है । वह निष्क्रिय चिन्मात्र भावको प्राप्त होता है, और इस प्रकार मणिकी भांति जिसका निर्मल प्रकाश अकम्प रूपसे प्रवर्तमान हैं, ऐसे उस (चिन्मय भावको प्राप्त) जीवके, मोहान्धकार निराश्रयता के कारण अवश्यमेव प्रलयको प्राप्त होता है। यह है अन्तरंगमें मात्र साक्षी भावसे दर्शनकी विधि। जिससे अन्तर्चित्तमें चिद्विवर्तोंको तटस्थ भावसे देखकर वीतरागी हो आत्म भावको प्राप्त होता है ।

१५ आत्मध्यानके अतिरिक्त अन्य क्रियायें विकल्प है—

वयणमय पडिकमण वयणमय पच्चखाण णियम च ।
आलोयण वयणमय त सव्व जाण सज्झाउ । (नि सा /१५३)

अर्थ—वचनमय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान नियम आलोचना-येसब स्वाध्याय है। ऐसा जानो ।

१६ विकल्प मात्र ससार हेतु—

विकल्प चाहे शुभ हो अथवा अशुभ, किंतु विकल्पवान आत्मअवश नहीं होता ।

द्रव्यगुणपज्जायाण चित्त जो कुणइ सोवि अण्णवसो ।
मोहांधकारववगय समणा कहयति एरिसय । (नि सा /१४५)

अर्थ—जो द्रव्य गुण-पर्यायोमें अपना मन लगाता है, वह भी अन्यवश है । शुभसे मोक्ष मानने वाला अज्ञानी है, चाहे वह शास्त्र ज्ञाता ही क्यों न हो ।

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो ।
हवदि त्ति दुक्खमोक्खं पर समयरदो हवदि जीवो । (पं.का./१६५)
जस्स हिदएणुमेत्तं वा परदव्वाम्मि विज्जदे रागो ।
सो ण विजाणदि समयं समस्स सव्वागम धरो वि । (पं. का./१६७)

अर्थ—शुद्ध संप्रयोग (भक्ति भाव) से जो जीव मोक्ष मानता है तो वह अज्ञानी पर समयरत जीव है । आत्म संवेदनके अभावमे जिसे पर द्रव्यके प्रति अणुमात्र भी राग हृदयमे वर्तता है, वह भले सर्वागमधर हो, तथापि स्वकीय समयको नही जानता । (नि. सा./१४३, १४४)

१७. विकल्पातीत ध्यान मुक्तिका हेतु—

वास्तवमे विकल्प शुभ हो अथवा अशुभ वह मात्र विकल्प होनेसे दुख व बन्ध का कारण है । स्व से भिन्न पर द्रव्यात्मक आधार के होने के कारण वह अन्यवश है । (नि. सा./१४४) अतः स्वानुभूति शुभाशुभसे अतीत है, और आत्मध्यान ही मुक्तिका कारण है । (स. सा./३०६-३०७)

जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं ।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि । (पं.का./१६२)

अर्थ—जो आत्मा अनन्यमम आत्माको आत्मासे आचरता है, जानता है, देखता है, वह आत्मा ही चारित्र-ज्ञान दर्शन है, क्योकि तीनो एक आत्मा है । ऐसा निश्चित है । अतः आत्माका ध्यान ही रत्नत्रय है ।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव बिहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु । (स.सा./४१२)
अप्पाणमप्पणा रुंधिदूण दोपुण्णपाव जोगेसु ।
दंसण णाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि । (१८७)
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणा अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं । (२८८)
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमदूओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं । (३८९)

अर्थ—हे भव्य जीव ! तू मोक्षमार्गमे अपने आत्माको स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसीको चेत, उसी का अनुभव कर, और उसीमें विहार कर, अन्य द्रव्यो में विहार मत कर ।

आत्माको आत्माके द्वारा पुण्य-पापसे रोककर, दर्शन-ज्ञानमे स्थित होता हुआ, और अन्य की इच्छासे विरक्त होता हुआ, अपने आत्माको आत्माके द्वारा ध्याता है । कर्म तथा नोकर्म नहीं ध्याता । चेतयिता होनेसे एक ही का चिन्तन व अनुभव करता है । वह आत्मा को ध्याता हुआ, दर्शन ज्ञानमय और अनन्यमय होता हुआ, कर्मो से रहित आत्माको प्राप्त करता है ।

१८. व्यावहारिक क्रियाओंकी उपयोगिता—

व्यवहार से किये जाने वाले षडावश्यकादि कर्म अशुभसे बचनेके लिए उपयोगी है । इन क्रियाओं से रहित साधक भ्रष्ट माना गया है । क्योकि वह जीव शुद्धोपयोगी तो है नहीं, शुभोपयोगको

त्याग देता है, फिर तो वह अशुभ मे ही जायेगा। मुमुक्षुको चाहिये कि वह अशुभको छोडकर शुद्ध का लक्ष्य करके शुभ क्रियाओंका आलम्बन ले।

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासय कुज्जा। (नि सा/०४८)

अर्थ—आवश्यक रहित श्रमण चरण से प्रभ्रष्ट है और इसलिए पूर्वोक्त क्रमसे शुभके आश्रयसे स्वात्माश्रित ऐसे निश्चय धर्म व शुक्ल ध्यान रूप आवश्यक कर्म को करना चाहिये।

१९ आत्मध्यान ही अवश कर्म है—

निश्चयसे आत्मा ही रत्नत्रय व प्रत्याख्यान आदि है। अन्य सब साधन मात्र है।

आदा हु मज्झ णाण आदा मे दसण चरित्त च।
आदा पच्चक्खाण आदा मे सवरो जोगो। (स सा/२७७)

अर्थ — निश्चयसे मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही सवर और योग (समाधि, ध्यान) है। (नि सा/१००)

आत्म साधनाकी सभी क्रियाए ध्यान साधनाके लिए साधन है। ध्यान ही धर्म निर्जराका कारण है। ध्यान ही मे सब आवश्यक गर्भित हो जाते है।

मोत्तूण सयल जप्पमणागयसुहमसुहवारण किच्चा।
अप्पाण जो झायदि पच्चक्खाण हवे तस्स। (नि सा/९५)

अर्थ—समस्त जल्पको छोडकर और अनागत शुभाशुभका निवारण करके जो आत्माको ध्याता है उसे प्रत्याख्यान है।

"केवल ज्ञान दर्शन-सुख व शक्ति स्वभावी मैं हू", ऐसा ज्ञानी देखता है। "जो निजभावको नही छोडता, किंचित भी पर भावको ग्रहण नही करता, मात्र सबको जानता देखता है वह मैं हू", ज्ञानी ऐसा चिंतवन करता है। (नि सा/९-६९७)

णोकम्मकम्मरहिय विहावगुण पज्जएहिं वदिरित्त।
अप्पाण जो झायदि समणस्सालोयण होदि। (१०७)

अर्थ—नोकर्म और कर्मसे रहित तथा विभाव गुण पर्यायसे रहित आत्माको जो ध्याता है, उस श्रमणको आलोचना है।

अप्पसरुवालबण भावेण दु सव्वभाव परिहार।
सक्कदि काउ जीवो तम्हा झाण हवे सव्व। (००९)
सुहअसुहवयणरयण रायादी भाव वारण किच्चा।
अप्पाण जो झायति तस्स दु णियम हवे णियमा ॥०२०॥

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं ।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिविअप्पेण ॥१२१॥
वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयराय भावेण ।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥१२२॥
संयमणियमतवेणण दु धम्मज्झाणे सुक्क झाणेण ।
जो झायइ अप्पाण परमसमाही हवे तस्स ॥१२३॥

अर्थ—आत्म स्वरूप जिसका अवलम्बन है, ऐसे भावसे जीव सर्व भावों का परिहार कर सकता है, इसलिए ध्यान सर्वस्व है ।११९। शुभ-अशुभ वचन रचनाका और रागादि भावोंका परिहार करके जो आत्माको ध्याता है, उसे निश्चित रूपसे नियम है ।१२०। कायादि परद्रव्यमें स्थिर भाव छोडकर जो आत्माको निर्विकल्प रूपमें ध्याता है उसे कायोत्सर्ग है ।१२१। वचनोच्चारण की क्रियाका परित्याग कर वीतराग भावसे जो आत्माको ध्याता है उसे परम समाधि है ।१२२। संयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान में जो आत्माको ध्याता है, उसे परम समाधि है ।१२३।

जो आर्त-रौद्र ध्यानको छोडकर आत्मस्थित होता है, उसे ही सामायिक है ।

जो दु धम्मं सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे । (नि.सा./१३३)
सठवावि अप्पा भावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्ति जुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो । (१३८)
जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।
कम्मविणासण जोगो णिव्वुदि मग्गो त्ति पिज्जुत्तो ॥१४१॥
परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मल सहावं ।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्म भणंति आवासं ॥नि सा/१३३,१३८,१४१,१४६

अर्थ—जो धर्म और शुक्ल ध्यानको नित्यशः ध्याता है उसे सामायिक स्थायी है। (१३३) जो साधु सर्व विकल्पोंके अभावमें आत्माको लगाता है अर्थात् आत्माको आत्मामें जोड़कर सर्व विकल्पों का अभाव करता है वह योग भक्ति वाला है। दूसरेको छोडकर अथवा विपरीता-भिनिवेश का परित्याग कर आत्माको आत्मामें लगाता है, उसे योग भक्ति है। नि. सा. (१३८, १३९) जो अन्यवश नहीं है उसे आवश्यक कर्म कहते हैं। कर्मका विनाश करने वाला योग वह निर्वाणका मार्ग है (१४१) जो परभावको परित्यागकर निर्मल स्वभाव वाले आत्माको ध्याता है वह वास्तवमें आत्मवश है, और उस जीवको आवश्यक कर्म है, ऐसा जिन भगवान कहते हैं।

२०. ध्यान ही सर्वोपरि है—

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वादिचारस्स पडिकमणं ॥नि सा/९३॥

अर्थ—ध्यानमें लीन साधु सर्व दोषोंका परित्याग करते हैं, इसलिए ध्यान ही सर्व अति-चारका प्रतिक्रमण है।

२१ ऋषभादि तीर्थंकरों ने योग किया था—

उसहादिजिणवरिंदा एव काऊण जोगवरभत्ति ।
णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरू जोगवर भत्ति ॥नि-सा-/१४०॥

अर्थ—वृषभादि जिनवरेन्द्र इस प्रकार योगभक्ति (उपरोक्त प्रकार) करके निवृति सुखको प्राप्त हुए। इसलिए योगकी उत्तम भक्तिको तू धारण कर।

२२ ध्यान श्रद्धाकी प्रेरणा—

जदि सक्कदि कादु जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमय ।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहण चेव कायव्व ॥नि सा-/१५४॥

अर्थ—यदि किया जा सके तो अहो! ध्यानमय प्रतिक्रमणादि कर। यदि तू शक्ति विहिन है तो तब तक श्रद्धान ही कर्तव्य है।

२३ ध्यानके लिए सयम आवश्यक—

सयम, नियम और तप पूर्वक ही ध्यान साधना सम्भव है। समस्त इन्द्रियोंके व्यापारका परित्याग सो सयम है। निजात्माकी आराधनामें तत्परताको नियम है। जो आत्माको आत्मामे आत्मासे धारण करता है वही अध्यात्म व तप है। ध्यान ध्याता व ध्येय और ध्यानका फल आदिके विविध विकल्पोंसे मुक्त अन्तमु खाकार, समस्त इन्द्रिय समूहके अगोचर, निरजन, निजतत्वमे अविचल स्थिति रूप निश्चय शुक्ल ध्यान है। (नि सा/१२३)

२४ मौलिक सीख—

मोक्खपहे अप्पाण ठवेहि त चेय झाहि त चेव ।
तत्थेव विहर णिच्च मा विहरसु अण्ण दव्वेसु ॥स सा-/४१२॥

अर्थ—हे भव्य! तू मोक्षमार्गमें अपने आत्माको स्थापित कर, उसी का ध्यानकर, उसीका चेतन, अनुभवकर, और उसीमें निरन्तर विहारकर, अन्य द्रव्योमे विहार मत कर।

समयसारकी रचना में आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि

☐ वंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना

समयसारका आलोडन करने से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि उसकी रचना आचार्य कुन्दकुन्द ने इस दृष्टि से की है कि सम्पूर्ण मानवसमष्टि इसे पढकर इसके अभिप्राय को समझें और उस अभिप्राय के अनुसार अपनी जीवन प्रवृत्तियोंको नैतिक रूप देने का दृढ संकल्प करें जिससे वह जीवन के अन्त तक सुखपूर्वक जिन्दा रह सके।

इस प्रकार अपनी जीवन प्रवृत्तियो को नैतिकरूप देने वाली मानव समष्टि में से जो मानव जितने परिणाम मे अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक स्वावलम्बनता का अपने में विकास कर ले, उतना वह आध्यात्मिक (आत्म-स्वातन्त्र्यके) मार्ग का पथिक बन सकता है।

जीव के भेद —

जैन शासन में जीवो के संसारी और मुक्त दो भेद बतलाये गये है। (देखो त सू अ २ का "संसारिणो मुक्ताश्च" सू० १०)

इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि संसार की समाप्ति का नाम ही मुक्ति है और जो जीव संसार से मुक्त हो जाते है, वे ही सिद्ध कहलाते है। जैन शासन के अनुसार कोई भी जीव अनादिसिद्ध नही है जैसा कि अजैन दार्शनिको ने माना है।

संसारी जीवों के भेद —

जैन शासन के अनुसार संसारी जीव भी भव्य और अभव्य दो प्रकारके है। इनमें से भव्य जीव वे है जिनमें संसार से मुक्त होने की स्वभावसिद्ध योग्यता विद्यमान हो और अभव्य जीव वे है जिनमें उस स्वभावसिद्ध योग्यता का सर्वथा अभाव हो।

भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकार के जीव अनादिकाल से पौद्गलिक कर्मोंसे बद्ध होने के कारण उन कर्मोंके प्रभाव से अनादिकाल से ही यथायोग्य नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार गतियों में परिभ्रमण करते आये है और अपनी स्वावलम्बन शक्ति को नष्ट कर यथासम्भव मानसिक, वाचनिक और कायिक परावलम्बनता की स्थिति मे रहते आये है, तथा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के प्रभाव मे मिथ्या दृष्टि गुणस्थानमें रहते हुए सतत मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक अनैतिक (मिथ्या) आचरण करते आये है। ऐसे जीवो को समयसार गाथा १२ से लेकर गाथा २३ तक

अपने से भिन्न पदार्थों मे अहंबुद्धि और ममबुद्धि होने के कारण अप्रतिबुद्ध प्रतिपादित किया गया है। तथा, ये जीव अप्रिबुद्ध क्यो हैं ? इस बात को समयसार गाथा २४ और २५ मे आगम और तर्क के आधार पर सिद्ध किया गया है।

यद्यपि नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन सभी गतियो मे जीव इस प्रकार से अप्रतिबुद्ध हो रहे हैं, और सभी गतियो के बहुत से जीव इस अप्रतिबुद्धता को समाप्त कर प्रतिबुद्ध भी हो सकते हैं परन्तु जीवो को मुक्ति की प्राप्ति मनुष्य गति मे ही हो सकती है। इसलिए समयसार मे जो विवेचन किया गया है वह मानव समष्टिको लक्ष्य मे रखकर ही किया गया है।

जैन शासन के अनुसार भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकार के जीव मुक्तिके मार्गमे प्रवेश कर सकते हैं, क्योकि न तो भव्य जीव अपनी भव्यता की पहिचान कर सकते हैं और न अभव्य जीव अपनी अभव्यताकी पहिचान कर सकते हैं, इसलिए भव्य जीवोंके समान अभव्य जीव भी अपनेको भव्य समझ कर मुक्ति के मार्गमे प्रवृत्त होते है। समयसार गाथा १७५ मे बतलाया गया है कि अभव्य जीव भी भव्य जीव के समान मोक्ष के मार्गभूत धर्म (व्यवहारधर्म) मे आस्था रखता है, उसको समझता है, उसमे रुचि रखता है और उसमे प्रवृत्त भी होता है। इतनी बात अवश्य है कि उसका वह धर्माचरण मुक्ति का कारण न होकर यथायोग्य सासारिक सुख की वृद्धि का ही कारण होता है।

तात्पर्य यह है कि भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकार के जीव मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के प्रभाव मे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे रहते हुए भी यथायोग्य चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, पचम गुणस्थानवर्ती और षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवो के समान धर्माचरण करते हैं। और इस प्रकार धर्माचरण करते हुए अभव्य जीव भी भव्य जीवोंके समान अपनमे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियो का विकासकर लेते हैं जिनके प्रभाव मे वे नवम ग्रैवेयिक तक स्वर्ग मे भी उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु वे भव्य जीवोके समान आत्मविशुद्धि को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप नही बना सकते हैं, क्योकि जैन शासन मे बतलाया गया है कि उसी जीव की आत्मविशुद्धि सम्यग्दर्शन रूप होती है जिसने दर्शन मोहनीय कर्म की तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियो का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम किया हो। इसी प्रकार आत्मा की विशुद्धि देशव्रत रूप उसी जीव की होती है जिसने उक्त दर्शन मोहनीयकर्म की तीन और अनन्तानुबन्धी कषाय की चार इन सात प्रकृतियो के उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम के साथ अप्रत्याख्यानावरण कषाय की चार प्रकृतियो का क्षयोपशम किया हो तथा आत्मा की विशुद्धि महाव्रत रूप उसी जीव की होती है, जिसने उक्त दर्शनमोहनीय कर्म की तीन अनन्तानुबन्धी कषाय की चार इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम के साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम किया हो।

इसका भाव यह है कि मिथ्यात्व गुणस्थान मे मोहनीयकर्म की उक्त प्रकृतियो का यथा सम्भव उपशम, क्षय व क्षयोपशम उसी जीवो मे होता है, जो भव्य हो। तथा, उस जीव मे वह उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम तभी होता है, जब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि हो जाता है। वह सातिशय मिथ्यादृष्टि तभी कहा जाता है जब वह करणलब्धि को प्राप्त करता है अर्थात् क्रमश अध करण,

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामो को प्राप्त होकर मोहनीयकर्म की उक्त प्रकृतियों का यथायोग्य उपशम, क्षय और क्षयोपशम करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। उसे करणलब्धिकी प्राप्ति तभी होती है जब वह समयसार मे प्रतिपादित भेदविज्ञान को प्राप्त कर लेता है। वह उक्त भेद-विज्ञान को तब प्राप्त होता है जब वह क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियों को प्राप्त कर लेता है। वह इन चार लब्धियो को तब प्राप्त करता है, जब वह नैतिक आचरण के रूप मे अथवा नैतिक आचरणके साथ देशव्रत के रूप मे अथवा नैतिक आचरणके साथ सर्वव्रत के रूप मे मन, वचन और कायके समन्वयपूर्वक आगम मे वर्णित व्यवहार धर्म को अगीकार करता है।

यहा यह ज्ञातव्य है कि अभव्य जीव भी उक्त प्रकार के व्यवहार धर्म को अंगीकार कर क्षयोपशम, विशुद्ध, वेदना और प्रयोग्य इन लब्धियो को प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह अपनी अभव्यता के कारण उक्त भेदविज्ञान को प्राप्त नही होता है। समयसार गाथा १७५ का यह अभिप्राय है।

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि उन भव्य और अभव्य जीवो को उक्त चार लब्धियों की प्राप्ति नही होती है जो उक्त प्रकार के व्यवहारकर्मो का अगीकार तो करते है, परन्तु मन, वचन और काय के समन्वयपूर्वक नही अगीकार करते है।

इस विवेचन से निर्णीत होता है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती भव्य जीवको ही उपर्युक्त क्रम मे भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है, अभव्य जीवो को नही।

समयसार की बेजोड व्याख्या करने वाले आचार्य अमृतचन्द्र के कलश पद्य १२८, १२९, १३०, १३१ और १३२ से यही निर्णीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की रचना में मुमुक्षु जीव के लिए मुक्ति की प्राप्ति मे भेदविज्ञान को प्रमुख स्थान दिया है। यहां उन कलश पद्यों को उद्धृत किया जाता है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या,
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः।
अचलितमखिलान्यद्द्रव्यदूरे स्थितानां,
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥ १२८ ॥

अर्थ—जो जीव निजमहिमामे रत है अर्थात् उस महिमा के जानकार हैं उन जीवों को भेदविज्ञान के आधार पर नियम से शुद्ध अर्थात् स्वतन्त्र स्वरूप का उपलम्भ (ज्ञान) होता है। तथा जीवों के अन्य द्रव्यों से सर्वथा दूर हो जाने पर अर्थात् पर-पदार्थों मे अहम्बुद्धि और ममबुद्धि की समाप्ति हो जाने पर कर्मों का स्थायी क्षय हो जाता है।

संपद्यते संवर एव साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यं ॥ १२९ ॥

अर्थ—शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान हो जाने पर साक्षात् संवरका संपादन होता है। वह शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान भेदविज्ञान के आधार पर होता है, इसलिए जीवो को भेदविज्ञान की प्राप्ति का अभ्यास करना चाहिये।

अपने से भिन्न पदार्थों मे अहबुद्धि और ममबुद्धि होने के कारण अप्रतिबुद्ध प्रतिपादित किया गया है। तथा, ये जीव अप्रतिबुद्ध क्यो हैं ? इस बात को समयसार गाथा २४ और २५ म आगम और तर्क के आधार पर सिद्ध किया गया है।

यद्यपि नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव इन सभी गतियो के जीव इस प्रकार से अप्रतिबुद्ध हो रहे हैं, और सभी गतियो के बहुत से जीव इस अप्रतिबुद्धता को समाप्त कर प्रतिबुद्ध भी हो सकते हैं, परन्तु जीवो को मुक्ति की प्राप्ति मनुष्य गति मे ही हो सकती है। इसलिए समयसार मे जो विवेचन किया गया है वह मानव समष्टिको लक्ष्य मे रखकर ही किया गया है।

जैन शासन के अनुसार भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकार के जीव मुक्तिके मार्गमे प्रवेश कर सकते हैं, क्योकि न तो भव्य जीव अपनी भव्यता की पहिचान कर सकते हैं और न अभव्य जीव अपनी अभव्यताकी पहिचान कर सकते है इसलिए भव्य जीवोके समान अभव्य जीव भी अपनेको भव्य समझ कर मुक्ति के मार्गमे प्रवृत्त होते है। समयसार गाथा १७५ मे बतलाया गया है कि अभव्य जीव भी भव्य जीव के समान मोक्ष के मार्गभूत धर्म (व्यवहारधर्म) मे आस्था रखता है, उसको समझता है, उसमे रुचि रखता है और उसमे प्रवृत्त भी होता है। इतनी बात अवश्य है कि उसका वह धर्माचरण मुक्ति का कारण न होकर यथायोग्य सासारिक सुख की वृद्धि का ही कारण होता है।

तात्पर्य यह है कि भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकार के जीव मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के प्रभाव मे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे रहते हुए भी यथायोग्य चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, पचम गुणस्थानवर्ती और षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवो के समान धर्माचरण करते हैं। और इस प्रकार धर्माचरण करते हुए अभव्य जीव भी भव्य जीवोके समान अपनेमे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियो का विकासकर लेते हैं जिनके प्रभाव से वे नवम ग्रैवेयक तक स्वर्ग मे भी उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु वे भव्य जीवोके समान आत्मविशुद्धि को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप नही बना सकते हैं, क्योकि जैन शासन मे बतलाया गया है कि उसी जीव की आत्मविशुद्धि सम्यग्दर्शन रूप होती है जिसने दर्शन मोहनीय कर्म की तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियो का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम किया हो। इसी प्रकार आत्मा की विशुद्धि देशव्रत रूप उसी जीव की होती है जिसने उक्त दर्शन मोहनीयकर्म की तीन और अनन्तानुबन्धी कषाय की चार इन सात प्रकृतियो के उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम के साथ अप्रत्याख्यानावरण कषाय की चार प्रकृतियो का क्षयोपशम किया हो, तथा आत्मा की विशुद्धि महाव्रत रूप उसी जीव की होती है, जिसने उक्त दर्शनमोहनीय कर्म की तीन अनन्तानुबन्धी कषाय की चार इन सात प्रकृतियो के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम के साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम किया हो।

इसका भाव यह है कि मिथ्यात्व गुणस्थान मे मोहनीयकर्म की उक्त प्रकृतियो का यथा सम्भव उपशम, क्षय व क्षयोपशम उसी जीव मे होता है, जो भव्य हो। तथा, उस जीव मे वह उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम तभी होता है, जब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि हो जाता है। वह सातिशय मिथ्यादृष्टि तभी कहा जाता है जब वह करणलब्धि को प्राप्त करता है अर्थात् क्रमश अध करण,

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों को प्राप्त होकर मोहनीयकर्म की उक्त प्रकृतियों का यथायोग्य उपशम, क्षय और क्षयोपशम करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। उसे करणलब्धिकी प्राप्ति तभी होती है जब वह समयसार मे प्रतिपादित भेदविज्ञान को प्राप्त कर लेता है। वह उक्त भेद-विज्ञान को तब प्राप्त होता है जब वह क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियों को प्राप्त कर लेता है। वह इन चार लब्धियों को तब प्राप्त करता है, जब वह नैतिक आचरण के रूप मे अथवा नैतिक आचरणके साथ देशव्रत के रूप मे अथवा नैतिक आचरणके साथ सर्वव्रत के रूप मे मन, वचन और कायके समन्वयपूर्वक आगम मे वर्णित व्यवहार धर्म को अगीकार करता है।

यहा यह ज्ञातव्य है कि अभव्य जीव भी उक्त प्रकार के व्यवहार धर्म को अगीकार करके क्षयोपशम, विशुद्ध, वेदना और प्रयोग्य इन लब्धियों को प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह अपनी अभव्यता के कारण उक्त भेदविज्ञान को प्राप्त नही होता है। समयसार गाथा १७५ का यही अभिप्राय है।

यहा यह भी ज्ञातव्य है कि उन भव्य और अभव्य जीवो को उक्त चार लब्धियो की प्राप्ति नही होती है जो उक्त प्रकार के व्यवहारकर्मो का अगीकार तो करते है, परन्तु मन, वचन और कायके समन्वयपूर्वक नही अगीकार करते है।

इस विवेचन से निर्णीत होता है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती भव्य जीवको ही उपर्युक्त क्रम से भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है, अभव्य जीवो को नही।

समयसार की बेजोड़ व्याख्या करने वाले आचार्य अमृतचन्द्र के कलश पद्य १२८, १२९, १३०, १३१ और १३२ से यही निर्णीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की रचना मे मुमुक्षु जीव के लिए मुक्ति की प्राप्ति मे भेदविज्ञान को प्रमुख स्थान दिया है। यहां उन कलश पद्यों को उद्धृत किया जाता है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या,
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः।
अचलितमखिलान्यद्द्रव्यदूरे स्थितानां,
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः॥ १२८॥

अर्थ—जो जीव निजमहिमामे रत है अर्थात् उस महिमा के जानकार है उन जीवो को भेदविज्ञान के आधार पर नियम से शुद्ध अर्थात् स्वतन्त्र स्वरूप का उपलम्भ (ज्ञान) होता है। ऐसे जीवों के अन्य द्रव्यो से सर्वथा दूर हो जाने पर अर्थात् पर-पदार्थों मे अहम्बुद्धि और ममबुद्धिकी समाप्ति हो जाने पर कर्मो का स्थायी क्षय हो जाता है।

संपद्यते संवर एव साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यं॥ १२९॥

अर्थ—शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान हो जाने पर साक्षात् संवरका संपादन होता है। वह शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान भेदविज्ञान के आधार पर होता है, इसलिए जीवों को भेदविज्ञान की प्राप्ति का अभ्यास करना चाहिये।

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ।। १३० ।।

अर्थ—उस भेद विज्ञान का अच्छिन्न धारा से तब तक अभ्यास करना चाहिये, जब तक वह जीवपर से च्युत होकर अर्थात् पर मे अहंकार और ममकार समाप्त करके ज्ञान मे प्रतिष्ठित होता है।

भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।। १३१ ।।

अर्थ—जो कोई जीव सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए है और जो कोई जीव बद्ध हैं वे भेदविज्ञान के अभाव से ही बद्ध हैं।

भेदाज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भात्,
रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
बिभ्रत्तोषं परममलालोकमम्लानमेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ।। १३२ ।।

अर्थ—जीवको भेदविज्ञानकी प्राप्ति होनेपर शुद्धतत्त्वका उपलम्भ अर्थात् ज्ञान होता है और इसप्रकार राग समूहका विनाश हो जाने से कर्मोंका संवर होनेपर तोषको प्राप्त उत्कृष्ट अमलप्रकाशवाला निर्दोष, अद्वितीय ज्ञान नियमसे उदित होकर शाश्वत प्रकाशमान होता है।

समयसारकी रचनामे जो क्रम पाया जाता है उससे भी यही भाव प्रगट होता है। जो निम्नप्रकार है—

प्रथम गाथामे आचार्य कुन्दकुन्दने जो सिद्धोंको नमस्कार किया है उससे मुमुक्षु जीव के अपने लक्ष्यका निर्धारण होता है। दूसरी गाथामे यह बतलाया है कि जो जीव अभेददृष्टिसे अपने अखण्ड स्वभाव भूत ज्ञानमे और भेददृष्टिसे दर्शन ज्ञान और चारित्रमे सतत स्थिर रहते, उन्हे स्वसमय कहा जाता है। तथा, जो जीव पुद्गलकर्मप्रदेशोंमे स्थित अर्थात् पुद्गलकर्मोंसे बद्ध होने के कारण पर पदार्थोंमे अहंबुद्धि और ममबुद्धि करते है, वे परसमय कहलाते है। तीसरी गाथामे यह शंका उठाई गई है कि लोकमे जितने पदार्थ है वे सब अपने अखण्ड एक स्वभावमे रहकर ही सुन्दरताको प्राप्त हो रहे हैं, इसलिए जीवके विषयमे बन्धकी कथा विसंवादपूर्ण हो जाती है। चतुर्थ गाथामे इस शंका का इसप्रकार समाधान किया गया है कि सम्पूर्ण जीवोंको काम, भोग और बन्धकी कथा सुनने मे आई है देखनेमे आई है और अनुभूत भी है परन्तु उसके अखण्ड एक स्वरूपका ज्ञान होना उसे सुलभ नहीं है। इसी तरह आचार्य कुन्दकुन्दने पांचवी गाथामे आत्माके उस अखण्ड एक स्वरूपको समयसारमे स्पष्ट करने की प्रतिज्ञा की है। तथा छठी गाथामे आत्माके उस अखण्ड एक स्वरूपको स्पष्ट कर दिया गया है। इसके पश्चात् गाथा १३ मे आचार्य श्री ने आध्यात्मिक मार्गमे उपयोगी जीव, अजीव, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष को जैसे हैं उसी रूप मे जिस जीव ने जाना है, उसे सम्यग्दृष्टि बतलाता है। इससे निर्णीत होता है कि उक्त पदार्थोंको उनके

पृथक्-पृथक् स्वरूपके आधारपर जान लेना ही भेदविज्ञान है। इसके आगे आचार्य कुन्दकुन्दने इसी जीवाधिकारमे जीव के स्वरूपका, अजीवाधिकारमे अजीवके स्वरूपका, कर्तृकर्माधिकारमे जीव और अजीवके विषय मे कर्ता और कर्म की व्यवस्थाके निषेधका, पुण्यपापाधिकारमें पुण्य और पापका, आस्रवाधिकारमे आस्रवका, सवराधिकारमे सवरका, निर्जराधिकारमे निर्जराका, बन्धाधिकारमे बन्धका और मोक्षाधिकारमे मोक्षका जो पृथक्-पृथक् स्वरूपविवेचन किया है, वह भेदविज्ञान का पोषण करनेके लिए किया है। और, अन्तमे सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारमे आत्माके स्वतंत्र स्वरूपका विवेचन किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की रचनामे मुमुक्षु जीवोको प्रथमत: भेदविज्ञानी बननेका ही उपदेश मुख्यता से दिया है। निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि भव्य और अभव्य के भेद से मिथ्यादृष्टि ससारी जीवो के जो दो प्रकार आगममे निश्चित किये गये है वे दोनों ही एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञीपन्चेन्द्रिय और सज्ञीपन्चेन्द्रिय के भेदसे छह प्रकारके है। इनमेसे एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपन्चेन्द्रिय तकके जीवोमे केवल कर्मफलचेतना पाया जाती है, अर्थात्, ये सब जीव कर्मफलका मात्र सुख-दु:ख रूप अनुभव ही कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त जो सज्ञी पन्चेन्द्रिय भव्य और अभव्य जीव है, वे सतत् अपने अभिलषित की सम्पन्नता के लिए सकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करते हैं और उनका वह पुरुषार्थ असीमित भोग और सग्रह का होता है। तथा, उनकी प्राप्तिके लिए वे हिंसा, असत्य भाषण और चोरीका भी पुरुषार्थ करते है और ऐसे पुरुषार्थ में उन्हें हमेशा हर्ष होता है, विषाद कभी नही होता। यही कारण है कि उनका ऐसा पुरुषार्थ अनैतिक आचरण के रूप मे संकल्पी पाप माना गया है। इस सकल्पी पापका सद्भाव उन जीवोमे जब तक रहता है, तब तक वे मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हैं। तथा, इनमेंसे जो जीव उक्त संकल्पी पापोंका सर्वथा त्यागकर अशक्ति या आवश्यकता के आधारपर जिन पापोमे प्रवृत्त होते हैं उनके वे पाप अशक्तिवश और आवश्यकतावश होने के कारण आरम्भी पाप कहलाते हैं। इसप्रकार आरम्भी पापोंमे प्रवृत्त वे भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव अविरत कहे जाते है। और जो भव्य और अभव्य उस अविरति का एक देश त्याग कर देते है वे देशविरत मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं; तथा जो भव्य अभव्य उक्त आरम्भी पापोंका यथायोग्य सम्पूर्ण रूपमे त्याग कर देते है वे सर्वविरत मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं। ये ये भव्य और अभव्य दोनो जीव ही उक्त प्रकार अविरत, देशविरत और सर्वविरत होकर क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धियोंको भी प्राप्त कर लेते हैं। इतनी बात अवश्य है कि अभव्य जीव उक्त लब्धियोंको प्राप्त करके भी अपनी अभव्यता के कारण भेदविज्ञानी नही बन सकते है। भव्य जीव ही अपनी भव्यताके आधारपर भेदविज्ञानी बन सकते है।

कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टिमें नयों का विवेचन

☐ डॉ पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

वस्तु स्वरूप का अधिगम—ज्ञान, प्रमाण और नय के माध्यम से होता है। प्रमाण जो वस्तु मे रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है और नय व वस्तु मे रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मों मे से एक को प्रमुख और दूसरे को गौण कर ग्रा नुसार क्रम से ग्रहण करता है। जिस प्रकार मनुष्य दो पैरो से चलता है, एक से नही और ए दोनो से नही, किन्तु जब एक को आगे बढाता है तब दूसरे को पीछे कर लेता है, उखाड क फेंकता है इसी प्रकार नय, जब वस्तु गत एक धर्म का ग्रहण करता है तब दूसरे धम को ग देता है, अस्तित्वहीन नही करता और दोनो नयो के प्रतिपाद्य धम को एक साथ नही कहता, नही सकता, एक साथ कहने की दृष्टि मे वस्तु स्वरूप अवक्तव्य हो जाता है।

नय वचनात्मक पदाथ श्रुत ज्ञान के भेद हैं अत वक्ता, श्रोता के उपयोग की स देख कर ही उनका प्रयोग करता है। सल्लेखना मे बैठा क्षपक, यदि भूख प्यास की बाधा से ि होता दिखायी देता है तो आचाय उसे नित्यनय का अवलम्बन लेकर आत्मा को अजर-अमर का प्रतिपादन करते हैं, पर्यायदृष्टि से होने वाले विनाश को गौण कर देते हैं और सासारिक मे निमग्न मानव को विरक्ति की ओर ले जाने के लिये अनित्यनय का उपदेश देते हैं। नीला विलय देख वृषभदेव ने सासारिक विभूति और भोगोपभोग को विनश्वर समझा, नित्यवाद क कर दिया। नित्य वाद के अवलम्बन से विरक्ति की ओर प्रगति नही हो सकती। किसे मुख्य जाय और किसे गौण, यह वक्ता की इच्छा और तात्कालिक परिस्थिति पर निर्भर होत समन्त भद्र स्वामी ने कहा है—'विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षा न निरात्मकस्ते'। जिसकी विवक्षा की जाये वह मुख्य है और जिसकी विवक्षा न की जाय, वह गौण है, परन्तु अभावात्मक नहीं होता।

नयों का निरूपण करने वाले आचार्यों ने उनका शास्त्रीय आगमिक और आध्यात्मि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि से नय के दो भेद उपलब्ध हैं—द्रव्यार्थिक और पर्याय प्रत्येक वस्तु, द्रव्य पर्याय अथवा सामान्य विशेष रूप है अतः उसका सर्वाङ्गीण विवेचन करने द्रव्य और पर्याय—दोनों पर दृष्टि देना आवश्यक होता है। शास्त्रीय दृष्टि कार्य सिद्धि के लि कारण अथवा निमित्त नैमित्तिक पर दृष्टि रखती है। यह दृष्टि अंकुर की उत्पत्ति मे जिस बीज रूप उपादान पर दृष्टि रखती है उसी प्रकार मिट्टी पानी रूप निमित्त कारण की ओर भ दृष्टि रखती है। निमित्त और उपादान में से किसी को छोड़ नहीं जा सकता। समन्तभद्र स्व

स्पष्ट कहा है—'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेय कार्येषु ते द्रव्यगात स्वभाव.' अर्थात् कार्य की उत्पत्ति मे बाह्य और आभ्यन्तर कारणों की समग्रता-पूर्णता का होना द्रव्यगत स्वभाव है।

शास्त्रीय दृष्टि मे जीव की शुद्ध-अशुद्ध, स्वभाव विभाव, भेद-अभेद आदि सभी दृष्टियो का विवेचन है यदि जीव की कर्मोदयजनित अवस्था को स्वीकृत न कर सर्वथा सिद्धरूप शुद्ध अवस्था को ही स्वीकृत किया जाय तो मोक्ष प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करना व्यर्थ ठहरता है। शास्त्रीय दृष्टि निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये देव शास्त्र गुरु की प्रतीति तत्वज्ञान तथा पञ्चपाप के परित्याग रूप देश चारित्र और सकल चारित्र को स्वीकृत करती है।

आध्यात्मिक दृष्टि मे आत्मतत्व को लक्ष्य में रखकर वस्तु का विवेचन किया जाता है 'आत्मनि इति अध्यात्म तत्रभवं आध्यात्मिकम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार समग्र प्रयत्न आत्मतत्व पर केन्द्रित किया जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि मे नयो के दो भेद हे—१ निश्चय नय और २ व्यवहार नय। निश्चय नय, आत्मा के यथार्थ शुद्ध स्वरूप को दिखलाता है और व्यवहार नय पर निमित्त जन्य विभाग भावो से सहित अपरमार्थ स्वरूप को दिखलाता है इसी अभिप्राय को लेकर कुन्दकुन्द स्वामी ने निश्चय नय को भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा है—ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो दसियो य सुद्धणयो'।

कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार और नियमासार मे आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का प्रतिपादन है अतः इनमे निश्चय और व्यहार भेद ही उपलब्ध होते है पर पञ्चास्तिकाय और प्रवचन सार मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के माध्यम से आत्म स्वरूप का विवेचन उपलब्ध होता है। नयो के संदर्भ मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शास्त्रीय दृष्टि और आध्यात्मिक दृष्टि परस्पर के विरोधरूप नही है मात्र प्रयोजनवश उनके विवेचन मे भेद परिलक्षित होता है। शास्त्रीय दृष्टि का प्रयोजन वस्तु के सर्वाङ्गीण स्वरूप का दर्शन कराना है और आध्यात्मिक दृष्टि का प्रयोजन पर से निवृत्त कर शाश्वत सुख का प्राप्त कराना है।

यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने निश्चयनय के शुद्ध निश्चय नय, अशुद्ध निश्चय नय, परमशुद्ध निश्चय नय तथा व्यवहार नय के सद्भूत, असद्भूत, उपचारित् अनुपचारित आदि अनेक भेद किये है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने इन भेदो के चक्र मे न पडकर मात्र निश्चय और व्यहार ये दो भेद ही माने है। अपने गुण पर्यायो से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को उन्होंने निश्चय नय का विषय माना है और कर्म के निमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को व्यवहार नय का विषय कहा है। निश्चय नय, आत्मा के काम क्रोधादि विकारी भावो को आत्मा के नही मानता है। क्योंकि वे पुद्गल के निमित्त से होते है अत: पुद्गल के है। इसी तरह गुणस्थान मार्गणा, पर्याप्ति आदि जीव के स्वभाव नही है कर्म सापेक्ष होने से विभाव रूप है। ये रागद्वेष आदि विभाव यद्यपि जीव मे ही होते है पुद्गल मे नही पर जयसेन आदि आचार्यों ने उन्हे अशुद्ध निश्चय नय से आत्मा के कहे है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने उन्हे व्यवहार का ही विषय माना है। अमृतचन्द्र सूरि ने भी कुन्दकुन्द देव का ही अनुसरण किया है।

यद्यपि वर्तमान मे जीव की यह स्पष्ट दशा है और इसमें काम क्रोधादि विकारी भाव इसमें प्रतिक्षण मे प्रतीत हो रहे है तथापि निश्चय नय जीव की शुद्ध स्वरूप और इसके [illegible]

[illegible] [illegible] का [illegible] करता है। [illegible] का आत्म स्वभाव प्रकट करने का [illegible] है। [illegible] आत्मा के स्वभाव नहीं है। यदि [illegible] पुरुषार्थ कभी जागृत नहीं हो [illegible]। [illegible] चले जाने पर अन्य लोगों से [illegible] अपने आपको निर्मुक्त नहीं समझता, [illegible] दृष्टि से जीव को रागीद्वेषी नहीं मानता। [illegible] का पुरुषार्थ पञ्चमगुणस्थान से [illegible] करता है। निश्चयनय का [illegible] है कि हे [illegible]! [illegible] कणिका को अपने स्वभाव में [illegible]।

[illegible] दृष्टि [illegible] को स्वीकृत करता है वह चातुर्गतिक [illegible] कर उन्हें दूर करने का उपदेश देती है। जिस प्रकार [illegible] स्वीकार कर उसे दूर करने का पुरुषार्थ करता है उसी प्रकार [illegible] कर उसे दूर करने का पुरुषार्थ करता है। जब तक [illegible] किया जाता तब तक उसे निर्मल बनाने का भाव उत्पन्न नहीं होता। [illegible] दृष्टि में जो [illegible] का वर्णन किया गया है वह जीव की वर्तमान दशा का चित्रण है और जो [illegible] का वर्णन है वह जीव के क्रमिक पुरुषार्थ का वर्णन है। रागद्वेष मेरे नहीं है, यह श्रद्धा, जीव चतुर्थगुणस्थान में करता है पश्चात् उन्हें नष्ट करने के लिये हिंसादिक पाच पापों का एक देश और सर्वदेश त्याग करता हुआ अन्त में वीतराग दशा को प्राप्त करता है।

निश्चयनय से यद्यपि द्रव्य, गुण और पर्यायों का अभिन्न-अखण्ड पिण्ड है तथापि व्यवहार [illegible] अस्तित्व बतलाने के लिये उनमें भेद भी स्वीकृत करता है कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचन[illegible] और [illegible] में निश्चय तथा व्यवहार – दोनों का आलम्बन लेकर मोक्षमार्ग का वर्णन किया है। [illegible] आलोचना, व्यवहार आलोचना, निश्चय प्रतिक्रमण, व्यवहार प्रतिक्रमण और [illegible] प्रत्याख्यान का वर्णन कर नियमसार में जहा इन्हें दैवसिक कार्यों में [illegible] है वहाँ [illegible] दृष्टि से इन्हे विषकुम्भ प्रतिपादित किया गया है, तात्पर्य [illegible] यथार्थ स्वरूप समझकर आत्मतत्व को शुद्ध-निर्दोष बनाने [illegible] चाहिये।

[illegible] वस्तु तत्त्व को समझने के लिये साधन मात्र है साध्य [illegible] निश्चय और व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक और [illegible] है।

[illegible]

सीलं मोक्खस्स सोवाणं

☐ ले. विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया
एम ए, पी एच.डी., डी.लिट्

जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा निसृत वाणी 'जिनवाणी' कहलाती है। किसीभी लौकिक अथवा आध्यात्मिक कार्य के प्रारम्भ करते ही जिनका नाम स्मरण किया जाता है, उसे मंगलकी संज्ञा दी गई है। मंगल, वह जिससे कल्याणकी कामना सम्पन्न होती है। जिनवाणीमे चार मंगलो की चर्चा की गई है।

मंगलं भगवन् वीरो, मंगलं गोदमो गणी।
मंगलं कोण्ड कुंदाई, जेण्ह धम्मोत्थु मंगलं॥

अर्थात् पूजनीय तीर्थंकर महावीर स्वामी मंगल स्वरूप है। उनके गणधर प्रमुख ऋषिवर गौतम जिनके द्वारा द्वादशाग वाणी की रचना हुई है, जो प्रभुवर महावीर की दिव्य ध्वनिके श्रुत-वाहक माने जाते है, वे मगलात्मक है। इस विद्या-विभूति आचार्य-परम्पराके परिपोषक आचार्य कुन्दकुन्द साक्षात् मंगलमय हैं। जिनधर्म, विश्व की तमाम आत्माए जिनके सहारे कल्याण मार्गको प्राप्त करती हैं, सर्वथा मगलात्मक है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं मंगलात्मक हैं। उन्होंने अनेक ग्रंथो की रचना की है; जिनमें पाहुड अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते है। दसण पाहुड, चारित्त पाहुड सुत्त पाहुड, बोध पाहुड, भाव पाहुड, मोक्ख पाहुड, सील पाहुड तथा लिंग पाहुड मिलकर अष्ट पाहुड की संज्ञा प्रदान करते हैं। अष्ट पाहुड के रचयिता है आचार्य कुन्दकुन्द।

प्राण एक शाश्वत तत्त्व तथा द्रव्य है। जब प्राण पर्याय धारण करता है; तब वह प्राणी कहलाता है। प्राणधारियों में मनुष्य एक श्रेष्ठ पर्याय मानी गई है। इसे पाकर प्राणी स्व और पर को पृथक्-पृथक् समझ और सोच सकता है। जीव अनादिकालसे कर्म-बंधमें जकड़ा हुआ है। भोग भूमिमें वह अपने कर्मोंका भोग भोगता रहा। जब कर्मयुगका प्रवर्तन हुआ तब लोकमें कर्म करने का प्रारम्भ हुआ। कर्म कौशलके पुरस्कर्त्ता है आदिनाथ तीर्थंकर, उन्होंने 'कर्मवाद' का प्रवर्तन किया। कर्म का प्रवर्तन कर भगवान् स्वयं निष्कर्म हो गए। कर्म के बिना कर्म का काटना सम्भव नहीं। कर्म कटे बिना निष्कर्म होना सम्भव नहीं।

कर्मवाद ने मनुष्य को चार पुरुषार्थों से सम्पन्न किया। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष नामक पुरुषार्थों का धारी ही पुरुष कहलाने का अधिकारी कहलाता। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन पुरुषार्थों को

इस प्रकार सजोया कि काम और अर्थ का मूल्यांकन धर्म और मोक्ष के आगे व्यथ हो गया। रौद्र और आर्त ध्यान की सम्भावना अर्थ और काम पुरुषार्थों के सम्पादन मे की जाने लगी जबकि धर्म ध्यान धर्म पुरुषार्थ के लिए आवश्यक समझा गया। सिद्धान्त जब प्रयोग मे आता है, तब वह धर्म था जाता है। धर्मका प्रयोग कालान्तर मे शुक्ल ध्यान की सज्ञा प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार गे ध्यान म राग-द्वेष का सवथा अभाव होता है। जहा ध्यान राग और द्वेष से मुक्त होता है वहा वीतराग हो जाता है। इस प्रकार शुक्ल ध्यान का परिणाम वीतरागता है।

यह तय है कि जीव कर्म-बध मे जकडा है। कर्म जब उदय मे आते हैं तब उनका जो परिणाम होता ह उस जीव भोगता है। भोगते समय जो जिसका ध्यान होता है पुन वह उसी कर्मबध मे बधा करता है। भोग प्रक्रिया मे कर्मबध सक्रिय होते हैं। इस प्रकार भोग और भव भ्रमण की कहानी लम्बी है।

इन बधनो से मुक्त होना ही भव-भ्रमण से मुक्त होना है। इस मुक्ति के अनेक माग स्थिर हुए हैं। जिनधर्म मे जिस माग का प्रवतन किया गया है वह सर्वसाधारण के लिए सुलभ है। उस माग पर चलकर कोई भी प्राणी अतत प्रभु बन सकता है। यहा व्यक्तिउदय है, वग उदय है जो अन्य धार्मिक मान्यताओ मे भी सम्भव है परन्तु अतिरिक्त विशेषता यहा यह है कि सर्वोदय का सुयोग है।

दर्शन सम्यक्, ज्ञान सम्यक् और चारित्र सम्यक् एकमेव होकर जिस माग का प्रवतन करते हैं उसे मोक्ष माग कहा गया है। बात शास्त्रीय है। विचार कीजिए, जीव अथवा प्राण जब वसु कर्मों के पाश मे बधता गया तो उसका अरूप रूप पा गया। रूप रूपायित होता गया। बोधित होता गया। उसका ओज भी प्रच्छन्न होता गया। अब बधनो की गाठे खुले तब कही जीव उससे निकल सके। बधा हुआ खुले, तब वह मुक्त हो। यह जो जीव का रूपायण हुआ है उस मे वह सब इकट्ठा हो गया है जो मूलत उसका है नही। इसी को परिग्रह कहा गया है। परिधि तक जा पहुचा ऐसी स्थिति मे केन्द्र तक पहुचना हो नही सकता। परिग्रह पोषण कुशील कहलाता है और अपरिग्रह-वादिता होती है शील। अपरिग्रही सदा निराकार होता चलता है। जिसका जितना कम आकार होता है वह बधनो से उतनी ही आसानी स बाहर हो सकता है। अच्छी तरह से वही बध पाता है जिसका आकार पुष्ट होता है। आचाय कुन्दकुन्द ने कहा कि शील प्राणी को परिग्रह से अपुष्ट करता है। आत्मा अपने मौलिक रूप मे आए अर्थात् अरूपी हो पाए तो उसका वही मुक्त होना है। इस दिशा मे शील का योगदान उल्लेखनीय है।

आचाय कुन्दकुन्द न शील के स्वरूप की चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा है कि भाव से स्वभाव प्रच्छन्न हुआ करता है। मात्र ज्ञान से भाव की निमलता नही हो पाती। भाव निर्मलता के लिए मोह मुक्ति अर्थात् राग और द्वेष का अभाव आवश्यक होता है। मोहका अभाव भाव को निमल बनाता है। भावो की निमलता ही शील कहलाती है। शील से ही जीव का कल्याण होता है। यथा

जह णाणेण विसोहा सीलेण विणा बुहेहिंणिद्दिट्ठो।
दस पुव्विस्स य भावो ण कि पुण णिम्मलो जावो ॥ सील पाहुड, गाथांक ३१॥

जीव तत्त्व रागादि भावो का निमित्त पाकर कर्मों से सुयुक्त हो जाता है। ज्ञानी ऐसे भावो से वियुक्त रहने के लिए तप करता है, संयम साधता है, और शील को स्वीकारता है इसका परिणाम होता है कि बंधगति मंथर होती है। रुकती है। स्थित कर्मपरमाणुओं की निर्जरा होती है। इस प्रकार कर्म और आत्मा पृथक्-पृथक् हो जाते है। आचार्य कुन्दकुन्द सहज भाव से कह देते है कि तप, विनय, दान आदि से युक्त होने प्रर भी यदि मोह की महिमा निरतेज नही होती तो शील का मुखर होना नही हो सकता और ऐसी दशा में प्राणी का मुक्त होना सम्भव नही। यहा शील की आवश्यकता पर बल दिया गया है। यथा

उदधी व रदणभरिदो तवविणयंसीलदाणरयणाणं।
सोहेतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तर पत्तो ॥ सील पाहुड, गाथांक २८ ॥

शील के अभाव मे मनुष्य के समस्त अगो की शोभा नि.स्सार है। यही कारण है कि विवेकी पुरुष शील की ओर अपना लक्ष्य रखते है। शील का अर्थ आत्मा का वीतराग स्वभाव है। वीतराग अर्थात् जिसके सारे राग बीत गए हैं। आत्मा का निर्मल अवस्था जब हो जाती है। विषय कषाय, मोह माया मिलकर रागको जन्म दिया करते है। संयम और तपश्चरण द्वारा जो प्राणी इन से सर्वथा अलग-थलग रखता है और अपना सम्यक्त्वको जगाते हुए निर्दोष रखता है, वह आज नही तो कल अन्ततोगत्वा एक दिन अवश्य मुक्त हो जाता है।

जिस प्राणी के उत्तम शीलका उदय होता है, उसका अन्तरग जीवदया इन्द्रियसयम आदि उदात्त गुणो से स्वयमेव भर जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द इसीलिए स्पष्ट घोषित करते है कि जिस प्राणी से शील अर्थात् समताभाव प्रकट होता है; उसके द्वारा तप, दर्शन और ज्ञानकी शुद्धता स्वयमेव मुखरहो उठती है। ऐसा प्राणी समग्र विषयोको सहजमे ही क्षय कर लेता है। शील वस्तुतः विशुद्ध तप है, शील दर्शनकी विशुद्धि है, शील ज्ञान की विशुद्धि है, शील विषयो का सक्षम शत्रु है और शील मोक्ष की सीढी है। यथा

सीलं तवो विसुद्धं दंसण सुद्धि य णाण सुद्धीय।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं ॥ सील पाहुड, गाथांक २०॥

इस प्रकार हमारा जीवन शील स्वभावसे सम्पन्न होना चाहिए। जागतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब हमारा जीवन शीलसे सम्पन्न हो। प्राणी मात्रके प्रति समभाव की भावना उभरनी चाहिए। नर मनुष्य को मनुष्य वध करे यह तो पराकाष्ठा है जीव विनाशकी परिकल्पना भी नही की जा सकती। आज आचार्य कुन्दकुन्द और उनका पाहुड वाङ्मय कितना उपयोगी प्रमाणित हो सकता है, इसके लिए हमें किसीकी संस्तुति की आवश्यकता नही है। प्रत्येक पुरुष पाहुड पाठी बने तभी उसका जीवन निर्मलतासे सम्पन्न हो सकता है। निर्मलताही सच्चा आनन्द अनुभूत कर पाता है।

संगम कसेरा,
394, सर्वोदय नगर,
आगरा रोड, अलीगढ़-202 001

Date and Domicile of Acharya Kundakunda

Dr Jyoti Prasad Jain

After the Nirvana of Vardhamana Mahavira (599 527 B C) the last of the twenty-four Tirthankaras Sri Kundakunda carya is one of the most celebrated names in the ecclesiastical as well as literary history of Jainism He was not only the most zealous pioneer of the Sarasvati movement started before the close of the second century B C for the redaction of the canonical knowledge which had been flowing by word of mouth through a succession of authorised masters but was also perhaps the earliest and the greatest Jaina author of the post-Mahavira centuries His very name acquired an auspicious significance and he has been regarded as the fore-most leader of the Moola-samgha the original Order as organised by the last Tirthamkara himself His own lineage the Kundakundanvaya with its many branches and sub branches subsequently spread far and wide In fact to trace their spiritual lineage from Kundakunda has been looked upon as a proud privilege by Jaina monks of the Digambara section as many as three major Samghas of early mediaeval times are known to have claimed this lineage He is also reputed to have established the superiority of Jaina scriptural knowledge and made it popular all over the Bharatakshetra

This great master is believed to have written eighty-four treatises (Pahudas or Prabhratas) based on different portions of the original canonical knowledge which had survived till then But at present only about twenty of his works are extant and they seem to include all his major and more important creations Many later authors have been highly indebted to him and very often quoted from his works to give authenticity to their own assertions Moreover most of Kundakunda s utterances are above sectarianism and his Samayasara in particular is studied with devotion by the adherents of different Jaina sects and even by some non-Jainas for its superb spiritual mysticism or Adhyatma vidya Kundakunda wrote his works in an archaic form of Prakrit, but the texts have subsequently been translated and commented upon in Sanskrit Kannada Hindi Gujarati, Marathi and English by eminent scholars past and present and most of them have been published

This great master has been remembered with reverence in numerous epigraphical records and literary works, which attribute to him several surnames or aliases and a number of miraculous powers which also find mention in the

traditional biographical accounts relating to him. But, they are all of a rather legendary character and are hardly creditable. He himself gives but little information. Only at the end of one of his many works, the Baras Anuvekkha, he mentions his name, i.e. Kundakunda, and at the end of another work, the Bodha-pahuda, he tells us that he was the disciple of Bhadrabahu. One of his Sanskrit commentator, Jayasena, gives the name of Kundakunda's guru as Kumaranandi. There is no doubt that the Bhadrabahu mentioned above was none else but the second guru of that name, who was 27th in succession after Mahavira, was the custodian of nine or eight of the twelve Angas of the original canon, and whose pontificate lasted from 37 to 14 B.C. As regards Kumaranandi, a guru of this name has been mentioned in an early Mathura inscription of about the beginning of the Christian era. Dr. G. G. Bhandarkar describes Kundakunda as one of the earliest Digambara authors whose works are referred to by subsequent writers, and Peterson styles him as a teacher of great antiquity and renown. A long standing popular tradition states that Kundakunda succeeded to the pontifical seat, or raised to the status of an Acharya, in Vikrama Samvat 49 (or 8 B C.) at the age of 33, enjoyed that status for 52 years, and passed away in 44 A.D. at the age of 85.

Yet, his date has been made a subject of controversy by a number of modern scholars who discussed it and variously fixed it between the fourth century B.C. and the sixth century A.D. He seems to have been a contemporary of Bhadrabahu II, Lohacharya and Arhadbali. The dates of these gurus are slightly different in different Pattavalis, and the upper and lower limits come to 53 B.C. and A.D. 66, respectively. Kundakunda certainly seems to have lived not only before the schism of A D. 79, which finally separated the Svetambaras from the Digambaras, but also before the division of the Mool-sangha into its Nandi, Sena, Simha and other branches (*circa* 66 A D.), as also before the redaction of the canon, at least by Dharasena and Bhutabali (*circa* 75 A D.). In literary as well as epigraphical tradition, he is invariably placed before Umasvati (*circa* 40-90 A.D.) and Samantbhadra (*circa* 140-185 A D.). Pujyapada Devanandi (*circa* 464-524 A.D.) who is the well known and earliest commentator of Umasvati's Tattvartha-Sutra, and who mentions and quotes from Samantabhadra, also quotes from Kundakunda. The dates of prominent Jaina gurus and authors who came after Kundakunda make it almost a certainty that the latter must have lived prior to A D. 50. Prof A.C. Chakravarti assigns him to the first century A D., and Dr A.N. Upadhye also, after a thorough discussion of the different views and available evidence arrives more or less at the same conclusion. The Prakrit dialect used by Kundakunda in his works also corroborates the same view. A Kumaranandi finds mention in an early Mathura inscription of the year 87, another reading 67, and as there is nothing in it to connect it with the Kushana period, it might well have been dated in

the Earlier Saka Era of 66 B C which would place this Kumaranandi in A D 1-21 i e about the beginning of the Christian era It is likely that he was one of the sponsers of the Sarasvati movement who met Kundakunda during the latter's tour of northern India and inspired him to take the initiative of writing down his treatises on the basis of the traditional canonical knowledge In fact, Kundakunda alludes to no previous author or work, obviously because there were none He leaves no doubt as to his place in relation to the Jaina canon and always refers to it in general terms Moreover the traditional aspect of his compositions is clear from the fact that they contain some verses common with the texts of the Shvetambara canon being common property in early days they seem to have been preserved by both the sections independently All this leads one to infer that Kundakundacarya may safely be assigned to the early part of the 1st century A D to be exact to 8 B C—A D 44

As regards his place of birth, there is no doubt that this great master hailed from South India The numerous epigraphical records from that region which refer to him generally use the form Konda-Kunda This name form itself appears to be Dravidian and looks like the name of some Kannada town or village The personal use of such pen-names was regular in the Dravidian area and several Jaina gurus are known to have borne such names e g , Tumbaluracarya after the village of the name of Tumbalura Later writers, of the 10th to 12th century A D specifically mention that the Acarya belonged to the town of Kondakunda and there still exists a village of this name some six to eight Km from the Guntakal railway station which is associated with his life—he is said to heve practised penance in the nearly cave A similar tradition connects him with the Nandi hill of the same region In the traditional history of the ancient Tamil literature too this master is found associated with the activities of the early Sangamas in particular with the composition of the world famous Tirukural Kundakunda is obviously the Sanskrit or north-Indian form of the Dravidian name Kondakunda Thus in all probability the Acarya originally hailed from some place lying near the junction of the Tamil Telegu and Kannada speaking regions that is of the present Tamilnadu Andhra and Karnataka states of the Indian Union *

* For a detailed discussion and the numerous references involved in it please see—

Dr Jyoti Prasad Jain s Sources of the History of Ancient India, first ed 1964 published by M/s Munshiram Manoharlal, Oriental Booksellers and Publishers New Delhi, chapters VI & VII and Shodhadarsha No 1 (Feb 1986) Lucknow pp 3 9

श्री कुन्दकुन्दाचार्य का समय-निर्धारण : (गणितीय परम्परा के आधार से)

☐ प्रोफेसर लक्ष्मीचंद्र जैन,
सूर्या एम्पोरियम, 677 सराफा, जबलपुर

भारतीय गणित इतिहास में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जहां किये गये अनेक विध आविष्कारों को गुरुपरम्परा से प्राप्त उल्लेखित किया गया है। विशेषकर दिगम्बर जैन दक्षिण आचार्य अखंड ज्ञान-धारा की अवशेष परम्परा में कर्म सिद्धान्त विषयक ग्रंथों में ऐसा पाया गया है। केवल धवल टीका में वीरसेनाचार्य ने अपनी युक्ति, बुद्धि, बल से जो सिद्ध कर बतलाया उसका तो कथन मिलता है। सिद्धान्त ग्रंथों में पाये जाने वाले गणित में विशेषकर दसार्हा पद्धति का उपयोग, अर्थात् 1 के आगे शून्यादि रखने पर विशेष विशेष दश, शत, सहस्रादि संख्याओं को प्राप्त करना, और उनका इस प्रकार लेखन, वास्तव में विश्व का एक महान आविष्कार माना जाता है। सम्पूर्ण विश्व में यह आविष्कार ईसा से कुछ वर्षों पूर्व किन्हीं पूर्वीय देशों में से किसी एक में हुआ माना जाता है। क्या वह भारत का दक्षिण द्राविड़ संघ ही था जिसमें हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने इस लेखन प्रणाली का आविष्कार कर षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम तीन भागों पर परिकर्म नामक गणितीय टीका लिखी जिसमें उन्होंने अनेक गणितीय तथ्यों को प्रकाशित किया? क्या यह सत्य है? तो स्वभावतः यह सभी को विदित होगा कि कुन्दकुन्दाचार्यादि और उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की सही तिथियों को निर्धारित करना अधिक कठिन कार्य न होगा और न वह इतना विवादास्पद होगा जितना कि विगत साहित्यकारों ने उनके सम्बन्ध में खोजबीन की है।

अभी तक जिन विद्वानों ने आचार्य कुन्दकुन्द के समय का निर्धारण किया है, उसका मुख्य सार निम्न प्रकार है जो प्रोफेसर डा. आदिनाथ उपाध्याय ने अपनी प्रवचनसार की प्रस्तावना में दिया है : देखिये पं. कै. शास्त्री, कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह, शोलापुर, 1960, पृ. 14 आदि।

(1) परम्परागत मत : नंदि गण की पट्टावली के अनुसार कुंदकुंदाचार्य विक्रम संवत् 49 अर्थात् ईसा से 108 वर्ष पूर्व पट्ट पर बैठे। पट्टावली की विभिन्न प्रतियों में कहीं-कहीं अन्तर भी है। डा. हार्नले द्वारा इंडियन एंटीक्वेरी, वाल्यु. 21 में प्रकाशित तीन दिगम्बर पट्टावलियों में से 'ए' में समय वि.स. 149 अर्थात् ई. पूर्व 8 दिया गया है। विद्वज्जनबोधक में दिये श्लोक के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी को समकालीन बतलाकर वि. स. 300 अर्थात् ईस्वी सन् 143 बतलाया है। किन्तु जैन परम्परागत मत ईसा से 108 वर्ष पूर्व का है।

(2) श्री नाथूरामजी प्रेमी का मत जैन हितैषी भाग 10 मे कई दशक पूर्व प्रेमी जी का मत इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार पर आधारित प्रकाशित हुआ था जिसमे उन्होने कुन्दकुन्दाचार्य को विक्रम की तीसरी शताब्दी के अन्तिम चरण, अर्थात् ईसा की प्राय द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध मे बतलाया गया था। यह अनुमान इस बात पर भी आधारित था कि ऊर्जयन्त गिरि पर कुन्दकुन्दाचार्य का श्वेताम्बर आम्नाय से कथित विवाद हुआ था। यह सुत्त पाहुड से भी ज्ञात है कि जैन परम्परा मे श्वेताम्बर दिगम्बर भेद हो गया था और इसका समय देवसेन के दर्शनसार के अनुसार विक्रम सवत् 136 अर्थात् ई पूर्व 21 मे हुआ होगा। प्रेमी जी ने 136 को शक सवत् मानकर 271 विक्रम सवत् निर्धारित किया जिससे कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईस्वी सन् 114 उनके मत मे स्पष्ट हुआ। यह मत बाद मे सुधारा भी गया था।

(3) डॉ पाठक का मत जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था से प्रकाशित समय प्राभृत की भूमिका मे डॉ के बी पाठक के मतानुसार कुन्दकुन्दाचार्य वि स 585 अर्थात् ईस्वी सन् 428 मे हुए। इस मत की पुष्टि मे उन्होंने शक स 719 एव 724 के ताम्रपत्रो का उल्लेख किया था जिसमे अभिप्राय यह था कि कोण्डकोन्दान्वय के तोरणाचार्य नाम के मुनि इस देश मे शाल्मली नामक ग्राम मे आकर रहे और उनके शिष्य पुष्पनन्दि और शिष्य के शिष्य प्रभाचन्द्र हुए।

(4) डॉ ए चक्रवर्ती का मत यह मत पचास्तिकाय की प्रस्तावना मे प्रोफेसर हार्नले द्वारा सम्पादित नन्दि सघकी पट्टावलियो के आधार पर निर्णीत किया गया है जिसमे कुन्दकुन्दाचार्य को ईसा की प्रथम शताब्दी का विद्वान् माना गया है। प्रो चक्रवर्ती ने इस तथ्य का आलम्बन लिया है कि कुन्दकुन्दाचार्य द्रविडसघ के थे जिसका आधार मन्त्रलक्षण पुस्तक का एक श्लोक है। तदनुसार उनका नाम एलाचार्य था जिन्होने विश्व प्रसिद्ध तमिलग्रथ कुरल की 10 और 10 ही श्लोको मे प्रत्येक समन्वित विषय पर श्लोक लिखकर अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को दिया जिन्होंने उसे मदुरा सघ को भेट कर दिया। यथा

"दक्षिणे देशे मलये हेमग्रामे मुनिमहात्मासीत।
एलाचार्यो नामा द्रविलगणाधीशो धीमान्॥"

एलाचार्य का दूसरा नाम एलाल सिंघ था। एलालसिंह को तिरुवल्लुवर का साहित्यिक सरक्षक भी माना जाता है। निष्पक्षरूप से देखा जाये तो तिरुकुरल मे अनेक तथ्य जैनधर्म के हैं तथा बारह वर्ष के दुष्काल को देखते हुए वर्षा एव कृषि की महिमा की ओर सकेत करने वाले हैं। यह ग्रथ विश्व विख्यात दृष्टि से लिखा गया जिसमे दश की समाप्ति पर एक का प्रारम्भ इगित करता है कि कुन्दकुन्दाचार्य ही सम्भवत इस लेखन पद्धति के जन्मदाता हुए होंगे, अन्यथा मगलकार क्यो लिखता

'मगल भगवान् वीरो मगल गौतमो गणी।
मगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मगल॥"

हो भी सकता है कि यह मंगल तदनुसार उमास्वामी कृत हो क्योंकि यह संस्कृत में है और प्रत्यक्ष रूप से उनके गुरु हेतु ही है।

दसाह्रा पद्धति विश्व के लिए विगत दो हजार वर्षों में अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुई और सम्पूर्ण विश्व ने उसे तत्काल अपनाया होगा जैसे ही वह दक्षिण के जैन संघ से बाहर आई होगी और हो सकता है वह प्रथम समुद्री रास्ते चीनादि पहुँची हो। इस सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे।

एलाचार्य और कुन्दकुन्द की एकरूपता कुरल को ईसा की प्रथम शताब्दी में होना इंगित करती है क्योंकि कुरल तो दक्षिण के शिलप्पदिकारम् एवं मणिमेखला से भी प्राचीन है। इससे चक्रवर्ती ने डा. पाठक के मत का निराकरण किया है क्योंकि स्कन्द और कुमार एकार्थक हैं। ईसा की प्रथम सदी में पल्लव नरेश संभवतः जैन धर्म के पाठक अथवा संरक्षक रहे हों और संभवतः वे शिवकुमार न होकर शिवस्कन्द ही रहे हो। उनके लिए ही संभवतः कुन्दकुन्दाचार्य ने प्राकृत ग्रंथ रचे हों।

(5) पं. जुगलकिशोर मुख्तार का मत : यह मत रत्नकरंड श्रावकाचार, (बम्बई) में प्रकाशित 'समन्तभद्र' नामक निबन्ध में उन्होंने लिखा है। उनके अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य के काल का प्रारम्भ वीर निर्वाण से 703 या 713 अथवा ईस्वी सन् 187 होता है। उन्होने कुन्दकुन्द के एलाचार्य नाम को अमान्य किया है और शिवमृगेश वर्मा के साथ पल्लव नरेश शिवस्कन्द वर्मा के समीकरण को उचित बतलाया है। कुन्दकुन्दाचार्य को उन्होने द्वितीय भद्रबाहु का शिष्य स्वीकार तो किया पर उनका समय वि. सं 4 अथवा ईसा पूर्व 153 नही माना है।

(6) डा. ए. एन. उपाध्ये का मत : डा. उपाध्ये ने जिन बातों को विचारणीय रखा है, वे क्रमश. इस प्रकार है :

(अ) श्वेताम्बर दिगम्बर भेद होने के पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य हुए।

(ब) कुन्दकुन्द भद्रबाहु के शिष्य थे।

(स) इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार दोनो सिद्धान्त ग्रंथों का ज्ञान गुरु परम्परा से कुन्दकुन्दपुर में पद्मनन्दि को प्राप्त हुआ और उन्होंने षट्खण्डागम के आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रंथ लिखा।

(द) जयसेन एवं बालचन्द्र की टीकाओं के उल्लेखानुसार कुन्दकुन्दाचार्य शिवकुमार महाराज के समकालीन थे।

(इ) कुन्दकुन्दाचार्य तमिलग्रंथ तिरुकुरल के रचयिता थे। उपर्युक्त के गम्भीर परिशीलन के पश्चात् डा. ए. एन. उपाध्ये, श्री प्रेमीजी, मुख्तार जी, डा. हीरालाल जैन तथा पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री ने यह मान्यता दी है कि कुन्दकुन्दाचार्य का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी का पूर्वार्ध अथवा ईसा की दूसरी शताब्दी का उत्तरार्द्ध समुचित है।

अब हम दसाह्रा पद्धति पर आधारित उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का अवलोकन करें, जिसके बिना षट्खण्डागम ग्रंथों पर विशद व्याख्या का लेखन, अंक संदृष्टियों एवं अर्थ संदृष्टियों के

बिना ग्राह्य होना अत्यन्त कठिन हो सकता था। धवला टीका में तो मुख्यत अंक संदृष्टियों का आलम्बन लिया गया है। और उसी प्रकार तिलोय पण्णत्ती ग्रंथ में भी उनका बाहुल्य है। महाबन्ध मे वाक्याशो के आगे शून्य रखते हुए अभिप्राय प्रदर्शित किया गया है कि उनके द्वारा पूर्ण का ग्रंथ ग्रहण कर लिया जाये। यह भी उल्लेखनीय है कि अंक संदृष्टियों और अर्थसंदृष्टियों का उपयोग मुख्यत सिद्धान्त ग्रंथ की दक्षिण भारत मे प्राप्य धवलादि टीकाओं में उपलब्ध है जिसका पूर्ण रूप केशवचन्द वर्णी कृत गोम्मटसारादि की कर्णाटकी वृत्ति म देखने योग्य है।

अखिल विश्व मे ईसा से अनेक वर्ष पूर्व से संख्याएँ लिखने की अनेक विधियाँ थी किन्तु शून्य का उपयोग करते हुए किसी अंक के आगे उसे रखने पर प्राप्त उसका मूल्य देने वाली दशमलव पद्धति कही भी नही थी। यहा दो वस्तुओ की ओर ध्यान देना है। एक तो शून्य के चिन्ह का बिन्दी रूप मे उपयोग और उसे किसी अंक के आगे रख देने पर उसका मान प्राप्त करना। इसी प्रकार संख्याओ के लेखन की विधि के आविष्कारक का नाम आज तक कोई ज्ञात नहीं कर सका है, जैसा तिरुकुरल के रचयिता का नाम। यह तथ्य भी ध्यान मे रखने योग्य है कि ऐसी लेखन पद्धति की उस आविष्कारक को आवश्यकता रही होगी, और उस प्रतिभा सपन्न व्यक्तित्व के पूर्व यह लेखन प्रणाली विश्व मे कही भी प्रचलित न थी। शून्य द्वारा वाक्यांशों को पूरा करने का अभिप्राय एव उपयोग केवल भूतबलि आचार्य के महाबंध मे देखने म आया है। उस समय तक बिन्दी द्वारा ऐसा उपयोग विश्व के किसी भी भाग मे देखने मे नही आता है। इस समय का निर्धारण प्रोफेसर डा ए एन सिंह ने लगभग ईसा से 200 वर्ष पूर्व का आकलित किया है जिसे उन्होंने भारत मे निम्नलिखित तथ्यों पर आधारित किया है —(देखिये उनका, 'हिस्ट्री आफ हिन्दू मेथमेटिक्स", बम्बई, 1962, पृ 86 आदि)

(1) The earliest palaeographic record of the use of the place-value system belongs to the close of the sixth century, A.D

(2) The earliest use of the placevalue principle with the word numerals belongs to the second or the third century A D It occurs in the Agni-Purana, the Aakhshali Manuscufor and the Paulisa siddhanta

(3) The carliest use of the place ealue principle with the letter numerals is found in the works of Bhaskara I about the beginning of the sixth century A D

(4) The carliest use of the place value system in a mathematical work occurs in the Bakhshali Manuscupt about 200 A D (?) It occurs in the Aryabhatiya composed in 499 A D and in all later works without exception

(5) References to the place value system are found in literature from about 100 B C Three references ranging from the second to the fourth century A D are found in the Purannas

(6) The use of a symbol for zero is found in Pingala s Chandah sutra as early as 200 B C

उपर्युक्त तथ्यों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने मत बनाया है

"The reader will observe that the literary and non-mathematical works give much earlier instances of the use of the place-value system than the mathematical works. This is exactly what one should expect. The system when invented must have for some time been used for writing big numbers... . ... In Europe and in Arabia it is still possible to find mss. Copies of works using the old numerals or a misuse of old numerals with the new place-value numerals, but in India absolutely no traces of any such work exists. In Europe, the first definite traces of the place-value numerals are found in the tenth and eleventh centuries, but the numerals came into general use in mathematical text books in the seventeenth century As the literary evidence also takes us to that period, we may be certain that the place-value system was known in India about 200 B. C. Therefore we shall not be much in error, if we fix 200 B. C. as the probable date of invention of the place-value system and zero in India.

डॉ. सिंह का यह अनुमान हमें महाबन्ध की लेखन शैली और षट्खण्डागम के तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रंथ की ओर आकर्षित करता है जो दक्षिण भारत में लेखन रूप में प्रकट हुए। उनके पूर्व आचार्य धरसेन ने यह ज्ञान आचार्य पुष्पदंत एवं भूतबलि को मौखिक रूप से दिया था, तथा लेखन हेतु प्रेरित करने के पूर्व उक्त आचार्यों की हीनाक्षरी और घनाक्षरी विद्या देवियों की सिद्धि करने हेतु परीक्षा भी ली थी। यह भी तथ्य है कि शक संवत् और विक्रम संवत् का झमेला प्राय. 135 वर्ष का अन्तर डाल रहा है। अतः यदि हम ईसा से प्राय: 100 या 200 वर्ष पूर्व षट्खण्डागम ग्रंथों की रचना और उन पर बाद में परिकर्म ग्रंथ लिखा जाना निश्चित करते हैं तो कुन्दकुन्द का समय स्वाभाविक रूप से ईसा की पूर्व की प्रथम शताब्दी में निर्धारण कर सकते हैं जैसा कि प्रोफेसर ए. चक्रवर्ती का भी अभिमत है।

अब हम दशाङ्का पद्धति सम्बन्धी अभिमत पाश्चात्य गणित इतिहासकारों की ओर से प्रस्तुत करेंगे। चूंकि यदि माना जाय कि यह पद्धति दक्षिण भारत में कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा अथवा उनके गुरु द्वारा ईसा की पूर्व की प्रथम शताब्दी के लगभग आविष्कृत हुई होगी, उसे सिद्धान्त ग्रंथों से बाहर जाने में कई वर्ष तो अवश्य ही लगे होंगे। दूसरी बात 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है', ("Necessity is the mother of invention") के अनुसार उस समय की सही आवश्यकता केवल कुन्दकुन्दाचार्य को परिकर्म लेखन में अनुभूत हुई होगी जबकि विश्व में यह सत्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं थी। स्थानाङ्का तो रही भी होगी पर उसमें शून्य का प्रयोग कहीं भी उपलब्ध नहीं है। शून्य का पहिला उपयोग वाक्यांशों के आगे रखकर "Fill up of gaps" का विचार इससे हो [illegible] आचार्य कुन्दकुन्द को दशाङ्का पद्धति की ओर ले गया हो तो आश्चर्य नहीं क्योंकि द्रव्यप्रमाणानुगम में संख्याओं के लेखन हेतु नवीन पद्धति होना नितान्त आवश्यक अनुभूत होना अस्वाभाविक नहीं है। लगभग यही समय पश्चिम ज्योतिष के उदय का माना जाता है। [illegible] के [illegible] में [illegible] के पश्चात् एक के आगे शून्य रखकर [illegible] के विचार को [illegible] में भी [illegible] हुआ। पश्चिम ज्योतिष की सर्व सिद्धान्त के [illegible] के रूप में ही सो [illegible] हुआ [illegible] और आचार्य [illegible] भी [illegible] सहा [illegible] में [illegible] है। [illegible] [illegible] में है जिसके [illegible], [illegible] के [illegible] और [illegible] रूप से [illegible] पर [illegible]।

यह भी समुचित नहीं होगा कि हम किसी बडी घटना के लिए जो युग और इतिहास तथा समाज को क्रांतिकारी ढग से बदल दे, उसके समय का निर्धारण केवल भारत के कथित विवादास्पद एव सभ्रम उत्पादक साहित्य के आधार पर ही करें और युग परिवर्तनकारी घटना से उत्पन्न विश्व के विभिन्न क्षेत्रों के लेखबद्ध साहित्य से तुलना करने से वंचित रह जायें। इस सम्बन्ध में लेखक की महावीराचार्य कृत, 'गणित सार सग्रह—शोलापुर, 1963" पुस्तक मे विस्तृत प्रस्तावना को अवश्य ही देख लिया जाये जहा विश्व के सभ्यता के केन्द्रो मे हुई वर्द्धमान महावीरकालीन एव उनके पश्चात् हुई विश्व की गणित विज्ञान क्रांति का थोडा सा उल्लेख किया गया है। हम चाहते हैं कि अब इस बुदबुद द्विसहस्राब्दी समारोह पर विश्व इतिहास की मुख्यत गणित विज्ञान मे हुई ईस्वी पूर्व के लगभग की क्रांतिपूर्ण घटनाओ की उलझी हुई गुत्थियो को सुलझाने का एक महान प्रयास हो जाये। परिकर्म के उद्धरण साक्षी हैं कि वह लिखा गया और कालवश लुप्त हो गया, पर उसके उद्धरण उसके लेखन पद्धति की गहराई की ओर इगित करते हैं और दसार्हा पद्धति के उसमे हुए निश्चित उपयोग की सम्भावना को भी व्यक्त करते हैं जैसा धवल टीका से प्रकट है। अब हम विवेचन से परे होकर, पाश्चात्य गणित इतिहासकारो के शोधपूर्ण वाक्य प्रस्तुत करते हैं जो इस दसार्हा पद्धति के ईस्वी पूर्व मे हुए आविष्कार से सम्बंधित हैं —

सर्वप्रथम हम दक्षिण भारत से लगे हुए समुद्री किनारे के देशो और का पयूशस के चीन की ओर चलें जहा के हाल के ग्रथ 'साइस एण्ड सिविलिजेशन इन चाइना" के खड 1, 2, 3, द्रष्टव्य हैं जो 1954 से लगातार केम्ब्रिज वि वि के प्रोफेसरो जोजेफ नीधम और वैगलिंग ने निर्मित किये हैं।

(1) पृष्ठ 10 (k)

"W E Clark (1), Datta & Singh (1), Vol 1, pp 75 ff (foot note) Two different things are involued here, though so closely connected Place value could and did exist without any symbol for zero as in China from the late Chou Onwards But the zero symbol as part of the numeral system, never existed, and could not have come into being, without place-value It seems to be established that place-value was known to, and used by, the author of the Paulisa Siddhanta in the early years of the +5th Century, and certainly by the the time of Aryabhata and Varaha Mihira (C +500) And this was the decimal place-value of earlier China, not the sexagesimal place-value of earlier Babylonia It may be very significant that the older literary Indian references simply use the word Sunya, 'emptiness, just as if they were describing the empty spaces on Chinese counting boards The earliest zero symbol used in computation the dot (bindu) occurs in the Bakhshali MS, but this cannot now be dated earlier than the +10th cntury (Renou & filliozat (1), Vol 2, pp 175, 679, Cajori (2), pp 85, 89 (3), p 77) Better evidence for the use of the dot comes from the +6th century poem Vasavadatta of Subandhu (Renou & Filliozat (1), p 703) This remains the earliest reference The dot is still used in the Sarada Script of Kashmir"

(2) पृष्ठ (10–11) :

"From the tables in which ancient Indian numerals have been assembled,e it can be seen that from the time of king Asoka on wards (—3rd Century) there was a steady development of forms akin to 'Hindu-Arabic' numerals of today. It is worth noting that in all these systems the first three integers are written in just the same way as the Chinese; some of the ancient systems,f also have a × for 4 (Cf. Table 22, Cols. I, J.)б But in nearly all of them h there were separate symbols (containing no 'place-value component')t for 10 and multiples of 10, 20, 30, 40, 100, etc , and so long as any such practice prevailed place-value arithmetic could not exist.

While the first epigraphic evidence for the zero in India is, as has just been mentioned, of the late +9th century j, it has been discovered about two hundred years earlier in Indo-China and other parts of south-east Asia. This fact may be of much significance. The literary and epigraphic evidence for the antiquity of place-value in India has been conflicting. While the former pointed to a date well before +500 for the developmet of place-value and the zero concept, it was never entirely convincing because of the certain chronology of Indian history and the difficulty of dating documents. Kaye (1), in his critical examination of the dated inscriptions, could not take plnce-value back before the+8th century at the earliest. But Coede's (2) has showrn that Indo-Chinese inscriptions use place-value much earlier (Cambodia +604, Champa +609, Tava +732). They employed a system of 'symbolic words', i. e., names of things which were universally known to be associated with a given numerical value.a Thus in an inscription at Phnom Bayan in Combodia for +604, the 526th year of the saka era was expressed as the year (designated by) the (five) arrow, the (two) Asvins, and the (six) tastes.s Now it is soon after this period that the first inscriptions appear showing the zero (simultaneously in Cambodia and Sumatra, +683; and on Banka island, +686). The 605 th year of the Saka era is represented as @. E, using a dot (bindu), and the 608th as ϑOV. showring the modern zero itself. c The Indian numerals, without the zero, and encumbered with separate signs for the multiples of ten, were no improvement at all on the Greek and Hebrew alphbeticai screpts Yet Indo-China would seem at first sight a rather unlikely place for such a revolutionery discovery as that of the essential liberating element."

उक्त विवरण के साथ ही साथ निम्न विवरण भी हमारे मत की पुष्टि करते हैं —

(3) पृष्ठ (11) :

"Coede's does not believe that the South-east Asian incriptions indicate an east Asian origin for the symbolic word spstem (as kaye had hinted might be possible), but rather the Hinduising settlers of south-east Asia already had symbolic words and the old numerals when they first went there, or at any rate

ware soon followed by them d So for so good, but we are free to consider the possibility (even probability) that the written zero symbol and the more reliable calculations which it permitted, really originated in the eartern zone of Hindu culture where it met the southern zone of the culture of the Chinase ■

उपयुक्त मीघा हमे कुदकुद के अशदानो की ओर मे दक्षिण भारत से लगे देशो मे यह पद्धति पहुचन का इशारा करती है। और भी आगे देखिये—जो प्रश्न अब उपस्थित किये गये हैं—

(4) पृष्ठ (11–12)

"What ideograpic stimulus could it have received at that interface ? Could it have adopted an encircled vacancy from the empty blanks left for zeros on the Chinese counting boards ? The essential point is that the Chinese had possessd long before the time of the Sun Tzu Suan Ching (late +3rd century) a fundamentally decimal place value system ■ It may be, then, that the 'emptiness of Taoist mysticism b no less than the 'void of Indian philosophy, contributed to the invention of a symbol for sunya i e, the zero d It would seem, indeed that the finding of the first appearence of the zero in dated inscriptions on the borderline of the Indian and Chinese culture areas can hardly be a coincidence

और फिर शून्य ने इस प्रकार समस्त विश्व को इस पद्धति की लपेट मे ले लिया। नोट करें कि अपनी अपनी देश की लेखन पद्धति म उस समय, जबकि इस पद्धति का आविष्कार हो चुका था। निस्सन्देह सिद्धान्त ग्रथो की परिकर्मादि टीकाओ का अब प्राप्त न होना इस बात का साक्षी है कि किसी विध्वसकारी शक्ति ने इस साहित्य को ईर्ष्या, द्वेष वश नष्ट किया होगा जिसके इतिहास मे अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। वह छिपाकर लिखा गया और छिपाकर सरक्षित रखने मे कही कोई त्रुटि रह गई, जो धवल टीका लिखे जाने के पश्चात् हो सकती है। इस प्रकार ईसा से पूर्व कुदकुद आचार्य एव आचार्य पुष्पदत भूतबलि को ले जाने हेतु न केवल तिरुकुरल विषयक रचना है, न केवल शिव स्कद की समकालीनता है, न केवल विक्रम एव शक सवत् का सभ्रम है, न केवल इन्द्रनन्दि का श्रुतावतार है, वरन् डा ए एन सिंह का गणितीय सिद्धात का आधार है कि यह आविष्कार सभवत किसी भारतीय ऋषि मण्डल द्वारा ईसा से प्राय 200 वर्ष पूर्व हुआ। उपयुक्त विवरण से और भी स्पष्ट है कि यह आविष्कार दक्षिण भारत मे ही हुआ और वह षट्खडागम के परिकर्म के लेखन से सबधित था, तथा षट्खडागम विषयक अनेक गणितीय राशि सिद्धान्त (set theory), अर्द्धच्छेदादिगणन (logarithums), अनन्तो के गणित (theory of transfinite numbers) आदि से सम्बधित था तथा उसमे जो बल था वह असाधारण, अप्रतिम, अद्वितीय था। और भी अनेक गणितीय तथ्य उपरोक्त पुष्टि हेतु लिखे जा सकते हैं किन्तु केवल उपरोक्त ही सकेत, आशा है, इतिहासकारो को विश्व की इस महान् घटना के आविष्कार का नाम और समय निर्धारण की ओर षट्खडागम, परिकर्मादि टीकाओ के परिप्रेक्ष्य मे अवश्य ही पुन प्रयत्नशील होने हेतु आकृष्ट करेगा। यह भी आशा है कि यहा कुन्दकुन्दाचार्य की द्विसहस्राब्दी समारोह के प्रेरक पू आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के आशीर्वाद से उपरोक्त ऐतिहासिक सभावनाओ को विश्व के भारतीय-विज्ञान-केन्द्रो तक ले जा सकेगी। □□

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका मुक्ति मार्ग

□डा० कु. राका जैन, मैनपुरी

भगवान महावीर और उनके प्रमुख शिष्य गौतम गणधर के उपरान्त श्रुतरूप जैन आगम को लीपिबद्ध करने वाले सर्व प्रथम आचार्य कुन्द-कुन्द का नाम जैन साहित्य और दिगम्बर आम्नाय में विश्वश्रुत एवं प्रमुख है। उनकी महत्ता का ख्यापक यह मंगलाचरण—

"मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्द कुन्दाद्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्।

इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सभी जैनाचार्यों मे आचार्य कुन्दकुन्द सर्वोपरि, सर्व-शिरोमणि एवं सर्व प्रमुख आचार्य हैं। जैन शिलालेखो मे जैन परम्परा के उत्तरवर्ती आचार्य स्वयं को कुन्दकुन्दान्वय का अनुवर्ती मानने मे गौरवान्वित होते है। एक कवि ने आचार्य का यशोगान करते हुए स्पष्टतः लिखा है—

"शुद्धबुद्धि-वृद्धिदा प्रसिद्ध रिद्धि-सिद्धिदा,
हुए हैं न होहिंगे मुनिन्द कुन्द कुन्द से।"

कवि का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी अध्यात्म ज्ञान-धारा को जिस प्रकार अजस्रगति से प्रवाहित करके आत्म साधना में रत, स्व-पर भेद प्रकाशक, प्रत्येक तत्वज्ञान के जिज्ञासु साधक जीव को आप्लावित करते हुए उसका उद्धार किया है, वह स्पष्ट है। उनकी रचनाओं मे वर्णित आध्यात्मिक ज्ञान एवं तत्व का यथार्थ निरूपण जिस रूप में दृष्टिगत होता है, उस प्रकार का अन्यत्र सुलभ नहीं है। उन्होंने समयसार नियमसार, प्रवचनसार, प्राभृत संग्रह, अष्टपाहुड, पञ्चास्तिकाय आदि रचनाओं मे जिन तत्वों का विवेचन किया है, वे शाश्वत है। प्रत्येक मुमुक्षु जीव को मोक्ष प्राप्ति के लिए साधक के रूप मे उन शाश्वत तत्वों का ज्ञान करना अपेक्षित है। इन तत्वों के चिन्तन-मनन निदिध्यासन के बिना योग या आत्मोद्धार सम्भव नहीं है। इसी शाश्वत सत्य की दृष्टि से मुक्ति के आधारभूत निमित्त इन तत्वों का सम्यक्‌रूपेण दर्शन एवं ज्ञान आवश्यक हो जाने से इन तत्वों की शाश्वतता भी निश्चित हो जाती है। वस्तु के यथार्थ दर्शन और ज्ञान के लिए जिन तत्वों का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक रहता है और जिनके आलोकित ही स्व-पर भेद विज्ञान जागृत होने पर मोक्ष दशा बनती है, उन सभी

विवेच्य दार्शनिक विषयो का विवेचन आचार्य ने अपने सभी ग्रन्थो मे वर्णित किया है। इन विविध प्रतिपाद्य विषयो मे आत्मनिरूपण, आत्मज्ञ ही सर्वज्ञ, स्व-पर प्रकाशकता, आत्मा और ज्ञान मे अभेद चारित्र, सत्ता द्रव्य गुण पर्याय, अथ पदार्थ-तत्वाथ, निश्चय और व्यवहार नय, निश्चय नय की भूताथता और उपादेयता, पुण्य-पाप और शुभोपयोग, श्रमण परम्परा आदि का समायोजन करना आचाय का प्रमुख ध्येय रहा है। इन विषयो पर एक स्थूल दृष्टिपात यहा प्रस्तुत है, जो उनके तात्विक एव दार्शनिक ज्ञान का परिचायक है और इनसे शाश्वत तत्वो की सिद्धि होती है।

दार्शनिक ग्रन्थ समयसार मे आचार्य कुन्द-कुन्द का निश्चय और व्यवहार नय से प्रतिपादित आत्मा का निरूपण अद्वितीय है। इस ग्रथ के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो मे भी इस आत्म तत्व का निरूपण करना आचार्य का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय रहा है। उन्होंने मोक्ष प्राभृत मे आत्मा के तीन भेद-बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा किये हैं। इसमे बहिरात्मा को छोडकर अन्तरात्मा द्वारा परमात्मा का ध्यान करने का उपदेश दिया गया है—

तिपयारो सो अप्पा परमतरबाहिरो हु देहीण।
तत्थ परो झाइज्जइ अतोवाएण चइवि बहिरप्पा॥
अष्ट० मोक्ष पा०, गा०-4

इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त तथा शरीर को ममत्वपूर्वक आत्मा मानने वाला बहिरात्मा है, जो शरीर से भिन्न तथा राग-द्वेष मोह जन्य विकारीभावो मे अलिप्त आत्मा को ही आत्मा मानता हुआ भेद-विज्ञानी हैं वह अन्तरात्मा है तथा अष्टकर्म कलक मुक्त आत्मा परमात्मा है।

उनकी दृष्टि मे आत्मा तो रस, रूप, गन्ध और स्पर्श रहित हैं। वह इन्द्रियो से गोचर नही होता तथा चेतन उस आत्मा का गुण है। समयसार मे आचाय ने स्पष्ट उद्घृत किया है—

अरसमरूवमगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द।
जाण अलिगग्गहण जीवमणिद्दिद ट्ठसठाण॥
—समय०, गा० 49

यह आत्मा शब्दरहित किसी चिह्न द्वारा अग्राह्य और निराकार है। इस ग्रन्थ मे आत्मा का यथाथ स्वरूप निरूपण करते हुए इसमे तथा सभी अन्य ग्रन्थो मे उन्होने जीव सम्बन्धी अनेक मतिविभ्रमो का निरास करके जीव का यथार्थ रूप प्रतिपादित किया है। ज्ञानी अन्तरात्मा के अन्त करण मे हुई दृढ प्रतीति का उल्लेख करते हुए उन्होने लिखा है कि-मैं एक हू, शुद्ध हू, दशन ज्ञानमय सदा अरूपी हू। अन्य परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नही है—

"अहमेक्को खलु सुद्धो दसणणाणमइओ सदारूवी,
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्ण परमाणुमेत्त पि।"
—समय० गा० 38

आचार्य ने आत्मज्ञ को सर्वज्ञ कहा है। नियमसार में शुद्धोपयोगाधिकार में उन्होंने स्पष्ट किया है कि निश्चयनय से केवली आत्मा को जानता-देखता है और व्यवहार नय से सब को जानता है—

जाणदि पस्सदि सव्वं व्वहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥
—नियम॰ गा॰ 159

चूंकि निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का प्ररूपक है और अध्यात्म में आत्म द्रव्य की प्रधानता है अतः यथार्थ में केवली आत्मदर्शी हैं। जो आत्मदर्शी है वही सर्वज्ञ है, क्योंकि जो एक आत्मा को जानता है वही सबको जानता है और जो एक आत्मा को नही जानता वह सबको भी नही जानता है। इस तरह आत्मज्ञ की सर्वज्ञता स्पष्ट हो जाती है।

सर्वज्ञता की व्याख्या करते हुए आचार्य ने प्रवचनसार के प्रथम ज्ञानाधिकार में शुद्धोपयोग के फल निरूपण में आत्मा के सर्वज्ञ होने की चर्चा की है। उन्होने लिखा है कि घातिकर्म के नाश होने के पश्चात् ज्ञान के विकसित होने एवं साथ ही अनन्तशक्ति के प्रकट होने पर वह स्वयम्भू आत्मा इन्द्रियातीत होकर स्वयं ज्ञान और सुख रूप परिणमन करता है।

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो।
जादो अदिदिओ सो णाणं सोक्खं परिणमदि॥
—प्रवचन॰ गा॰ 19

आगे पुनः सर्वज्ञता को व्याख्यायित करते हुए आचार्य ने प्रवचनसार की गाथा 21 में स्पष्ट किया कि आत्मा के केवल ज्ञानरूप परिणमन करते ही सब द्रव्य और पर्यायें प्रत्यक्ष हो जाती हैं। अतः वह उन्हें अवग्रह ईहा आदि के द्वारा नही जानता। इसी सन्दर्भ में उन्होंने आगे इसी ग्रन्थ की गाथा 26 में लिखा है कि भगवान ऋषभदेव अर्थात् जिनेश्वर ज्ञानमय हैं और ज्ञानमय होने से वे सब लोकालोक में व्याप्त हैं। जगत् के सभी पदार्थ उनके ज्ञान के विषय होने से उनके अन्तर्गत कहे जाते हैं। उन्होंने केवली के ज्ञान और दर्शन को सूर्य के ताप और प्रकाश के समान युगपत् अवस्थित बताया है—

"जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयर पयासतावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं॥
—नियम॰ गा॰ 160

ज्ञान और दर्शन दोनों ही स्व-पर प्रकाशक हैं तथा केवली में दोनों की सत्ता रहती है। दर्शनावरण कर्म के क्षय से दर्शन प्रकट होता है तथा ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

आत्मा और ज्ञान मे अभेदता बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट किया है कि व्यवहार दृष्टि से आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणो मे भेद सम्भव है, किन्तु निश्चय दृष्टि से उनमें कोई भेद नही है। जो ज्ञाता है वही आत्मा है। प्रवचनसार मे उन्होंने ज्ञान तत्व प्रज्ञापन मे 35वी गाथा मे स्पष्ट किया है कि जो जानता है वही ज्ञान है, ज्ञान के योग से आत्मा ज्ञाता नही है। आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणामन करता है। ज्ञान के द्वारा आत्मा के व्यापकत्व को प्रकट करते हुए उन्होंने इसी ग्रन्थ की 23वी गाथा मे सकेत दिया है कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है। लोक और अलोक सभी ज्ञेय है, अत ज्ञान सवगत है। चूंकि आत्मा ज्ञान प्रमाण है, अत आत्मा भी सवगत है। इस तरह आत्मा और ज्ञान का अभेदपना तथा सर्वगतत्व और सवज्ञत्व भाव सिद्ध किया है।

आचाय कुन्दकुन्द ने मूलभूत आत्मा तत्व एव दशन के विवेचन के अतिरिक्त चारित्र तत्व का भी अपने ग्रन्थो मे यथाथ निरूपण किया है। "दसणमूलोधम्मो" लिखकर उन्होंने जहा सम्यग्दशन को धम का मूल कहा है वही प्रवचनसार की गाथा 7 मे "चारित्त खलु धम्मो" लिख कर चारित्र को भी धर्म कहा है। दशनपाहुड मे सम्यक् दशन के विवेचन के साथ ही चारित्र पाहुड मे भी उन्होने चारित्र विवेचना मे उसे दो प्रकार का बताया है—सम्यक्त्वाचरण चारित्र तथा सयमाचरण चारित्र। मोक्ष-प्राप्ति हेतु नि शकितादि अष्ट गुणो से सवंधित विशुद्ध सम्यग्दर्शन का सम्यक ज्ञानपूर्वक पालन करना सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। सयमाचरण चारित्र सागार और अनगार के भेद से दो प्रकार का है। दाशनिक आदि ग्यारह प्रतिमायें सागार चरित्र के भेद हैं। पाच अणुव्रत तीन गुणाव्रत एव चार शिक्षाव्रत ये वारह व्रत हैं। वस्तुत ये ग्यारह प्रतिमाएँ तथा द्वादशव्रत श्रावक का मूलधम है। इस प्रकार उन्होन गृहस्थ धम के मूलभूत व्रतो का मात्र नामोल्लेख किया है।

द्वितीय चारित्र अनगार धर्म (मुनिधम) का विषय विवेचन प्रमुखत उन्होने प्रवचनसार के अन्तिम भाग में किया है, जिसमे दीक्षा लेने की विधि से लेकर अट्ठाईस मूलगुणो का विवेचन है। मुनिधम के प्रति उनका अत्यन्त वात्सल्य भाव था। इस ग्रन्थ मे तृतीय अधिकार "चरणानुयोगसूचक चूलिका" के अन्तगत श्रमण स्वरूप के विवेचन मे लिखा है कि जो श्रमण आगम का ज्ञाता नही है अर्थात् आगमहीन है, उसे स्व पर का ज्ञान नही है और जिसे स्व-पर का ज्ञान नही, वह कर्मों का क्षय किस प्रकार कर सकता है—

"आगम हीणो समणो णेवप्पाण पर वियाणादि,
अविजाणतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ।।"
—प्रवचन० गा० 233

दिगम्बरत्व को मोक्षमाग इंगित करते हुए सूत्रपाहुड मे गाथा 23 मे आचार्य ने मुनिधम के प्रति अपनी भावना व्यक्त की है। उन्होने लिखा है कि—जिन शासन मे वस्त्रधारी भले ही, तीथकर भी क्यो न हो, किन्तु मोक्ष प्राप्त नही कर सकता दिगम्बर रूप धारण करने पर ही मोक्ष सम्भव है। वस्तुत नग्नता ही मोक्षमाग है शेष सभी उन्मार्ग हैं। प्रवचनसार की गाथा 246 मे उन्होंने श्रमण के दो भेद किये हैं—शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी। गाथा म स्पष्ट किया है

कि शुद्धोपयोगी श्रमण निरास्रव तथा शेष शुभोपयोगी आस्रव सहित होते हैं। इससे स्पष्ट है कि आचार्य को वीतराग चारित्र की तरह सराग चारित्र भी मान्य है। वह शुभोपयोगपूर्वक शुद्धोपयोग को भी मानते हैं, किन्तु वह शुभोपयोग निश्चयोन्मुख होना चाहिए।

इसी अनगार धर्म की महत्ता को समझते हुए ही आचार्य ने प्रायः अपने ग्रन्थो की रचना श्रमणों को लक्ष्यगत करके की है। बिगडती हुई तात्कालिक श्रमण संस्कृति को सुरक्षित रखने एव उसे यथार्थ निर्ग्रन्थ का स्वरुप प्रदान करने मे उनका महान योगदान रहा है। प्रवचनसार के प्रारम्भ मे मंगलाचरण की गाथा 5 में उन्होने लिखा है कि उन अर्हंत, सिद्धादि पच परमेष्ठियो के विशुद्ध दर्शन ज्ञान प्रधान आश्रम को प्राप्त करके मै साम्यभाव को धारण करता हूं। वस्तुत. इस उक्ति मे आत्म व्याज से आचार्य ने ज्ञान-दर्शन प्रधान श्रमणों को साम्यभाव रूप वीतराग चारित्र को धारण करने की प्रेरणा देते हुए अन्त तक उसे ही उपादेय सिद्ध किया है। इसी ग्रन्थ में ज्ञानाधिकार की गाथा 91,92 में उन्होने लिखा है कि जो जीव श्रमणावस्था में सत्तासयुक्त (अस्तित्व वाले), सविशेष (भेदादि सहित) पदार्थो का श्रद्धान नही करता, वह श्रमण नही है और जो मोह दृष्टि का घात करके आगम मे कुशल है, वीतराग चरित्र के प्रति उद्यत है वह महात्मा श्रमण है तथा धर्मरूप है। प्राभृतों मे सूत्रप्राभृत, भाव प्राभृत और मोक्ष प्राभृत मुनियो की शिक्षा-दीक्षा से ओत-प्रोत है। इसी तरह चारित्र प्राभृत और बोध प्राभृत मे भी इन्ही मुनिजनो के चरित्र तथा प्रव्रज्या का विशेष उल्लेख है। उन्होने स्पष्ट किया है कि निवृत्ति प्रधान जैन धर्म मे मोक्षमार्गावलम्बी मुनिधर्म प्रमुख है। गृहस्थ धर्म की उपयोगिता भी आदर्श मुनिधर्म धारण करने में सहायक होने पर ही सिद्ध होती है। मोक्षपाहुड मे उनकी साधुता के लिए दी गई व्यवस्था दर्शनीय है, जिसमे स्पष्ट किया है कि परिग्रह विहीन, स्वजनपरिजन की मोह ममता से रहित, बाईस परीषहों को सहन करने वाले, क्रोधादि कषाओ के विजेता, सभी पाप और आरम्भ रहित साधु ही मोक्षमार्ग के अधिकारी है—

"णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥"
—मोक्ष पा० गा० 80

आचार्य की अन्य शाश्वत तत्वानुचिन्तन मे सत्ता, द्रव्य, गुण, पर्याय पुण्य-पाप, शुभोपयोग तथा निश्चय-व्यवहार नय विवेचना के विषय रहे हैं। उनकी दृष्टि मे सत् का भाव ही सत्ता है, जिसे अस्तित्व भी कहते है। वह सामान्य एवं विशेष के भेद से दो प्रकार की है। सत्ता सामान्य को महासत्ता (सादृश्य अस्तित्व) तथा सत्ता विशेष को अवान्तर सत्ता (स्वरूपास्तित्व) भी कहते हैं। किसी वस्तु में वर्तमान सत् धर्म को सामान्य रूप से जानना महासत्ता (सादृश्य अस्तित्व) और उसी वस्तु के धर्म को विशेष धर्म के रूप मे जानना अवान्तर सत्ता (स्वरूपास्तित्व) है। द्रव्य दृष्टि से देखने पर वस्तु की जो सत्ता महासत्ता रूप दृष्टिगोचर होती है, वही पर्याय दृष्टि से देखने पर अवान्तर सत्ता के रूप में दृष्टिगत होती है।

आचार्य ने सत्ता को सप्रतिपक्ष बताते हुए वस्तुविज्ञान का सबसे सुन्दर पञ्चास्तिकाय में सर्वांगपूर्ण विवेचन किया है—

"सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया ।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥"
—पंचास्ति० गा० 9

उन्होंने स्पष्ट किया है कि अवान्तर सत्ता महासत्ता की प्रतिपक्षी तथा महासत्ता अवान्तर सत्ता की प्रतिपक्षी है, क्योंकि जब वस्तु को महासत्ता की अपेक्षा "सत्" कहा जाता है, उस समय वह वस्तु अवान्तर सत्ता की अपेक्षा असत् या अभावरूप है। इसी प्रकार जिस समय वह वस्तु अवान्तर सत्ता की अपेक्षा "सत्" है उस समय महासत्ता की अपेक्षा वह असत् या अभावरूप है। अत महासत्ता की दृष्टि मे अवान्तर सत्ता असत्, प्रतिपक्षी है और अवान्तर सत्ता की दृष्टि से महसत्ता असत्, प्रतिपक्षी है। इस प्रकार जगत् मे जो सत् है वह किसी अपेक्षा असत् भी है। कोई वस्तु सर्वथा सत् या असत् न होकर सदसदात्मक है।

इसी ग्रन्थ मे आचार्य ने सत्ता के सन्दर्भ मे द्रव्य का लक्षण गाथा 9 एव 10 मे किया है। उन्होंने लिखा है कि 'उन-उन सद्भावपर्यायो को जो द्रवित होता है—प्राप्त होता है, उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।" जो सत् रूप तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह द्रव्य है—

'दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥"
—पंचास्ति० गा० 10

प्रवचनसार मे ज्ञेयतत्व प्रज्ञापन मे गाथा 98 में भी उन्होंने स्पष्ट किया है कि द्रव्य स्वयं सत् है और उसका जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित परिणाम है, वह पदार्थ का स्वभाव है। सत्ता और द्रव्य में भिन्नता न होकर गुण गुणी सम्बन्ध है। द्रव्य से भिन्न गुण एव पर्याय का कोई अस्तित्व नही है। जैसे स्वर्ण से उसका गुण "पीतत्व" तथा पर्याय "कुण्डलादि" अभिन्न है, उसी प्रकार द्रव्य से उसकी गुण एव पर्याय भिन्न नही है।

आचार्य ने स्पष्ट किया है कि द्रव्य का स्वभाव उत्पाद व्यय-ध्रौव्य रूप है। उन्होंने प्रवचनसार मे लिखा है कि वस्तु मे प्रतिसमय पूर्व पर्याय का विनाश, उत्तर पर्याय का उत्पाद तथा वस्तुत्व का ध्रौव्य होता है और इन्ही तीनो की एकता से द्रव्य सत्ता स्थिर रहती है—

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभव विहीणो
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ।
—प्रवचन० गा० 100

वस्तु के द्रव्यपर्यायात्मक होने के कारण उस वस्तु को देखने की दृष्टियाँ भी दो हैं—द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक। आचार्य ने नियमसार की गाथा 15 मे पर्याय के विभाव पर्याय और स्वभाव पर्याय ये दो भेद किए हैं, जिसमे स्पष्ट किया है कि कर्मोपाधिरहित अन्य निरपेक्ष परिणमन

"स्वभाव पर्याय" तथा अन्य सापेक्ष परिणमन मनुष्य, नारक, तिर्यंच तथा देवरूप पर्यायें "विभाव पर्याय" हैं। जीव-पुद्गल के अतिरिक्त अन्य चार द्रव्यों धर्म-अधर्म-आकाश-काल में विभाव पर्याय नहीं है। जीव-पुद्गल में स्वभाव और विभाव दोनों पर्याय हैं। उन्होंने प्रवचनसार की गाथा 127 मे द्रव्य के दो भेद-जीव और अजीव करते हुए चैतन्य उपयोगमय द्रव्य को जीव तथा अचेतन जड द्रव्य को अजीव कहा है।

द्रव्य की विवेचना के अतिरिक्त आचार्य ने समयसार आदि प्रमुख दार्शनिक ग्रथो मे अर्थ, पदार्थ और तत्वार्थ का विवेचन करते हुए व्यक्त किया है कि यद्यपि अर्थ, पदार्थ और तत्वार्थ एकार्थक है, तथापि उनमे दृष्टि भेद भी है। जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छ' द्रव्य है। जीव-अजीव-आश्रव-बन्ध-सवर-निर्जरा-मोक्ष-पुण्य-पाप ये नौ पदार्थ तथा पुण्य-पाप से प्रथक करने पर शेष सात तत्व हैं।

इन विषयों के प्रस्तुतीकरण में आचार्य ने दो प्रकार की पद्धति अपनाई है—व्यवहारनय तथा निश्चय नय। पंचास्तिकाय मे मोक्षमार्ग का कथन इन्ही दोनो दृष्टियों मे हुआ है। इस ग्रन्थ मे गाथा 160 मे उन्होने धर्मादि का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, ग्यारह अंग चौदह पूर्व का ज्ञान तथा तप में सम्यक् चेष्टा, को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। आगे निश्चय मोक्षमार्ग के सन्दर्भ मे लिखा है कि जो आत्मा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र से समाहित होता हुआ अर्थात् त्रिविध द्वारा एकाग्र होता हुआ तद्रूप हो जाता है, अन्य कुछ भी न करता और न छोड़ता है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है—

"णिच्छयणएण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ॥"
—पंचास्ति० गा० 161

निश्चयनय तथा व्यवहारनय में उन्होने साध्य-साधक भाव कहा है। निश्चयनय साध्य और व्यवहारनय साधन है। ये दोनों ही नय मोक्षमार्ग प्रतिपादन की कथन शैली है। साधन के बिना साध्य सम्भव नहीं, अतः प्रारम्भ में व्यवहार का अवलम्बन लेकर निश्चय की प्राप्ति सम्भव है, परन्तु यह तभी हो सकता है जबकि लक्ष्य निश्चय की ओर होगा। यदि कोई निश्चय लक्ष्य को भूलकर व्यवहार को ही साध्य मानते हुए उसमे रह जाता है तो उसका वह व्यवहार निश्चय का साधक नहीं होता। जो निश्चय पर लक्ष्यगत होकर उसी की प्राप्ति हेतु उसमें तन्मय होता है, अन्यगति से बचने हेतु व्यवहार को अंगीकार करता है, उसका वह व्यवहार निश्चय का साधन होता है।

आचार्य ने नियमसार में नियम का कथन भी इन्ही दोनो दृष्टियो से किया है। प्रवचनसार में एक स्थान पर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का निर्देश है, किन्तु अन्यत्र इन्ही दोनों का उल्लेख करते हुए निश्चयनय को "शुद्धनय" तथा व्यवहारनय को "अशुद्धनय" कहा है। निश्चयात्मक दृष्टि से वस्तु के स्वरूप कथन का मूल अभिप्राय शुद्ध आत्मोपलब्धि को प्रकट करने का होता है, जबकि व्यवहार दृष्टि से वस्तु [illegible] शुद्धात्मोपलब्धि की

दृष्टि से मिथ्या तथा व्यवहारिक दृष्टि से सत्यरूप प्ररूपित किया जाना है। वस्तुत दोनो नयो द्वारा वस्तु का निरूपण उसके अध्यात्मिक पक्ष को उजागर करने की दृष्टि से किया जाता है, इसी लिए अध्यात्मग्रन्थो मे यह वर्णन दृष्टिगोचर होता है।

निश्चय-व्यवहार के अतिरिक्त इसी प्रकार पुण्य पाप का विवेचन करना भी आचार्य को अभिप्रेत रहा है। समयसार मे उन्होने "पुण्य पापाधिकार" नामक अधिकार में इसका विस्तृत विवेचन करके जीव की भ्रमात्मक प्रवृत्ति को सुधार करके उसे सम्यक् दृष्टि दी है। इस ग्रन्थ म पुण्य और पाप का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है कि शुभ और अशुभ कर्म जीव को बांधने वाली क्रमश स्वर्णशृंखला तथा लोह शृंखला के समान है—

"सोवण्णिय णियल बधदि कालायस पि जह पुरिस।
बधदि एव जीव सुहमसुह वा कद कम्म॥
—समय० गा० 146

अत बन्धरूप होने के कारण ससार के कारणभूत पुण्य पाप दोनो ही भाव त्याज्य है। प्रवचनसार मे आचार्य ने इन्ही पुण्य पाप भावो के समान शुभोपयोग को, जो उपयोग का ही भेद है, तथा उससे होने वाले पुण्य कर्म को भी त्यागनेयोग्य कहा है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे गाथा 9 मे परिणामस्वभावी जीव के आश्रव से उपयोग को तीन प्रकार का कहा गया है—शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग। इनमे से प्रत्येक के फल निरूपण मे उन्होंने ग्रन्थ की गाथा 11–12 मे स्पष्ट किया है कि यदि धर्म रूप परिणत हुआ आत्मा शुद्धोपयोग से युक्त होता है, तो वह मोक्ष प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोग मे युक्त होता है, तो स्वर्ग सुख अनुभव करता है, किन्तु अशुभोपयोग से युक्त होने पर वह आत्मा कुमनुष्य तिर्यच और नारकी होकर ससार परिभ्रमण करता है। पुण्य पाप भी क्रमश इन्ही शुभोपयोग एव अशुभोपयोग के फल हैं।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने विविध तत्वो का विश्लेषणात्मक विस्तृत विवेचन अपने विविध ग्रन्थो मे वर्णित किया है। उनका यह सम्पूर्ण आगम साहित्य जहाँ जैन धर्म और दर्शन मे तत्वो की शाश्वतता, यथार्थता एव उपयोगिता को अभिव्यक्त करता है, वही वह उत्तरवर्ती के लिए उपजीव्य रहा है। साहित्य रूप म आचार्य का अगाध ज्ञान सागर सदैव मुमुक्षजनो को आप्लावित करता हुआ मुक्त होने मे लाभप्रद एव श्रेयस्कर रहेगा।

69 A Saraogiyan
Main puri
Pin 205001

उपनिषदों और आचार्य कुन्दकुन्द का अध्यात्म दर्शन

☐ डॉ० रमेशचन्द जैन
जैन मन्दिर के पास, बिजनौर उ.प्र.

'उपनिषद्' शब्द उप और नि उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु में क्विप प्रत्यय लगाकर बना है। 'सद्' धातु का अर्थ है नाश, गति और शिथिल करना। 'उप' का अर्थ है समीप और 'नि' का अर्थ है निश्चय पूर्वक। वह विद्या या शास्त्र या विषय या पुस्तक जिसकी प्राप्ति से अविद्या का निश्चित रूप से नाश हो; जो मोक्ष की इच्छा करने वाले को ब्रह्म या विद्या के समीप ले जाकर उसका साक्षात्कार करा दे और जो संसार के बन्धनों को शिथिल कर दे, ये सभी अर्थ उपनिषद् शब्द से निकलते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मज्ञान सबसे पहले क्षत्रियों में था और बाद में उसे ब्राह्मणों ने प्राप्त किया। आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं विशेषकर समयसार में क्षत्रिय तीर्थंकरों से चली आयी इस आत्मविद्या का प्रौढ रूप में चिन्तन अभिव्यक्त हुआ है। आचार्य आत्मतत्त्व की गहराई को उसके अपने पूरे वैभव के साथ दिखलाना चाहते हैं। आत्मा का वैभव अनन्त और बहुभागवाणी के अगोचर है। अतः कुन्दकुन्द भी कहते हैं कि उस एकत्वविभक्त आत्मा का कथन अपने स्वर्वैभव से करूंगा तथापि यदि मैं कहीं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण मत कर लेना। इससे आचार्य की निरभिमानता और आत्मतत्त्व की महानता की उनकी अनुभूति और आदरभाव व्यक्त होता है।

उपनिषदों को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि जनता वेदवाद और यज्ञवाद से ऊब गई थी, अतः उनके स्थान पर ब्रह्मविद्या और आत्मविद्या की प्रतिष्ठा होने लगी थी और लोग इस विद्या को अधिक महत्त्व देने लगे थे। मुण्डकोपनिषद् में दो प्रकार की विद्यायें कही गई हैं—1. पराविद्या और 2 अपराविद्या। इन दोनों में से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये अपराविद्या के अन्तर्गत हैं तथा जिससे अविनाशी ब्रह्म या आत्मा (अक्षर) वास्तविक रूप से जाना जाता है, वह परा विद्या है।[1] आचार्य कुन्दकुन्द को इस पराविद्या से विशेष

1. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डकोपनिषद् 1/1/5

अनुराग है। इसके प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व से जिसकी एकता है, उसकी प्रशसा आचार्य ने कितने अच्छे ढग से की है—

एयत्तणिच्छयगदो समग्रो सत्वत्थ सु दरो लोए।

—समयसार-3

अर्थात् जो जीव के एकत्व के साथ निश्चित रूप से एक होकर रहता है वह लोक मे सब ठौर सु दर है।

ईशावास्योपनिषद् मे कहा है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विभाजनत ।

तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥

जिस स्थिति मे जानते हुए समस्त प्राणी आत्मा ही हो चुपते हैं, उस अवस्था मे एकता का निरन्तर साक्षात् करने वाले पुरुप के लिए कौनसा मोह और कौनसा शोक रह जाता है। इसी अभिप्राय को आचाय कु दकु दे ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है—

जो आदभावणमिए णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।

सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि अचिरेण कालेण॥

जो मुनि या तपोधन तत्परता के साथ इस आत्मभावना को स्वीकार करता है वह सम्पूर्ण दु खो से थोडे ही काल मे मुक्त हो जाता है।

उपनिपदो मे ब्रह्म का आत्मा के रूप मे उल्लेख अनेक स्थानो पर है। केनोपनिपद् मे ब्रह्म की जो स्थिति कही गयी है वही स्थिति प्राय जैन धम मे आत्मा की है। केनोपनिपद् मे कहा गया है—

किसके द्वारा सत्तास्फूर्ति पाकर और सचालित होकर मन अपने विपयो मे गिरता है—किसके द्वारा नियुक्त होकर अन्य सबसे श्रेष्ठ प्राण चलता है, किसके द्वारा क्रियाशील की हुई इस वाणी को लोग बोलते हैं और कौन प्रसिद्ध देव नेत्रेन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय को नियुक्त करता है अर्थात् अपने अपने विपयो के अनुभव मे लगाता है। जो मन का मन अर्थात् कारण है, प्राण का प्राण है वाक् इन्द्रिय का वाक् है श्रोत्रेन्द्रिय का श्रोत है और चक्षु इन्द्रिय है। वह ही इन सबका प्रेरक ब्रह्म है। धीर उसे जानकर, जीव मुक्त होकर इस लोक से जाने के बाद अमर हो जाते हैं। वहा (उस ब्रह्म तक) न तो चक्षुरिन्द्रिय पहुच सकती है, न वाक् इन्द्रिय पहुच सकती है, न मन ही। जिस प्रकार इस ब्रह्म के स्वरूप को बतलाया जाय कि वह ऐसा है इस बात को न तो हम स्वय अपनी बुद्धि से जानते हैं, न दूसरो से सुनकर ही जानने हैं, वह जाने हुए पदाथ समुदाय से भिन्न ही है और मन इन्द्रियों द्वारा न जाने हुए (जानने मे न आने वाले) से भी ऊपर है। यह बात अपने पूर्वाचार्यों के मुख से सुनते आए हैं, जिन्होंने हमे उस (ब्रह्म) का तत्त्व भली भाति व्याख्या करके समझाया था।

'जो वाणी के द्वारा नही बतलाया गया है बल्कि जिससे वाणी बोली जाती है अर्थात् जिसकी शक्ति से वक्ता बोलने मे समथ होता है, उसको ही तू ब्रह्म जान। वाणी के द्वारा बतलाने वाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह (ऐकान्तिक रूप से) ब्रह्म नही।

'जिसको मन से नही समझा जा सकता, अपितु जिससे मन जाना हुआ हो जाता है, ऐसा कहते है, उसको ही तू ब्रह्म जान । मन और बुद्धि के द्वारा जानने में आने वाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं (ऐकान्तिक रूप से) यह ब्रह्म नही है । जिसको कोई भी चक्षु के द्वारा नहीं देख सकता, अपितु जिससे अपने विषयो को देखता है, उसको ही तू ब्रह्म जान । चक्षु के द्वारा देखने मे आने वाले जिस दृश्यवर्ग की लोग उपासना करते हैं, यह ब्रह्म नही है । जिसको श्रोत्र के द्वारा नहीं सुन सकता, बल्कि जिससे यह श्रोत्र इन्द्रिय सुनी हुई है, उसको ही तू ब्रह्म जान । श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा जानने मे आने वाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते है, यह ब्रह्म नही है । जो प्राण के द्वारा चेष्टायुक्त नही होता, अपितु जिससे प्राण चेष्टायुक्त होता है, उसको ही तू ब्रह्म जान । प्राणों की शक्ति से चेष्टायुक्त जिस तत्त्व समुदाय की लोग उपासना करते हैं (एकान्त से) यह ब्रह्म नही है ।'[1]

इसी अभिप्राय को आचार्य कुन्दकुन्द ने निम्नलिखित गाथा में व्यक्त किया है—

अरसम रूवमगंध अव्वत्त चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं ।। समयसार–54

शुद्ध जीव तो ऐसा है, जिसमें न रस है, न रूप है, न गंध ही है और न इन्द्रियों के गोचर हैं, केवल चेतना गुण वाला है । शुद्ध रूप भी नही है, जिसका किसी भी चिन्ह द्वारा ग्रहण नही हो सकता और जिसका कोई निश्चित आकार भी नही है ।

कठोपनिषद् मे कहा है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।। 1/3/15

जो शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, रस रहित और बिना गन्ध वाला है तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि अनन्त और महतत्त्व से श्रेष्ठ सर्वथा सत्य तत्त्व है, उसे जानकर मृत्यु मुख से छूट जाता है ।

आचार्य कुन्दकुन्द तो और भी अधिक गहराई मे चले जाते हैं—

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो णवि रसो ण विय फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ।।
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि ।।

1. केनोपनिषद्—2-8

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाण ण मग्गणट्ठणाया केई ।।
णो ठिदि वंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ।।
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाण य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ।।

—समयसार 50-55

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप तथा संस्थान और संहनन ये जीव के स्वभाव नहीं हैं। राग, द्वेष, मोह मिथ्यात्वादि प्रत्यय तथा कर्म, नोकर्म ये जीव के स्वभाव नहीं हैं। वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यवसायस्थान, अनुभागस्थान ये भी जीव के स्वभाव नहीं हैं। कोई भी योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान और मार्गणास्थान ये सब जीव के स्वभाव नहीं हैं। स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी तथा जीवस्थान और गुणस्थान ये सब भी जीव के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु ये सब पुद्गल द्रव्य के संयोग से होने वाले परिणाम हैं।

ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो मनुष्य अविद्या की उपासना करते हैं (वे) अज्ञान स्वरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो मनुष्य विद्या में रत हैं अर्थात् ज्ञान के मिथ्याभिमान में रत मत्त हैं वे उससे भी अधिकतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा को ग्रहण करने हेतु विद्या के स्थान पर पण्णा (प्रज्ञा) शब्द दिया है, जो विवेक ज्ञान को द्योतित करता है। कोई शिष्य प्रश्न करता है कि—

कह सो घिप्पदि अप्पा?
शुद्धात्मा कैसे ग्रहण किया जाता है?
आचार्य उत्तर देते हैं—
पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।। समयसार-328
आत्मा प्रज्ञा से ग्रहण किया जाता है, इसके विषय में वे बताते हैं—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहंतु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा 297 ।।

अर्थात् जो चेतनावान् है, सो नियम से मैं हूं, उसके सिवा जितने भी भाव हैं। वे सब मेरे से भिन्न हैं, इस प्रकार प्रज्ञा (विवेकबुद्धि) से शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिए।

इन्द्रियज्ञान की अपनी सीमा है, अतः उसके द्वारा ब्रह्म का स्वरूप किंञ्चित् ही जाना जा सकता है। इस विषय में स्याद्वाद दृष्टि अपनाना ही श्रेयस्कर है कि संसारी जीवों को ब्रह्म या

---

1 अन्धं तमः प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।। ईशावास्योपनिषद्-9

आत्मा का किञ्चित् प्रत्यक्ष है, सर्वथा प्रत्यक्ष नही है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए केनोपनिषद् में कहा है—

मैं ब्रह्म को भली भांति जान गया हूं, यों नहीं मानता और न ऐसा ही मानता हूं कि नही जानता (क्योंकि) जानता भी हूं। (किन्तु यह जानना विलक्षण है)। हम शिष्यों मे से जो कोई भी उस ब्रह्म को जानता है, (वही) मेरे उक्त अभिप्राय को जानता है कि मैं जानता हूं और नहीं जानता, ये दोनों ही सर्वथा नही है।[1]

मनुष्य में ज्ञातापन का अभिमान नही होना चाहिए। जिसका यह मानना है कि ब्रह्म जानने में नही आता, उसका तो वह जाना हुआ है और जिसका यह मानना है कि ब्रह्म मेरा जाना हुआ है, वह नही जानता; क्योंकि जानने का अभिमान रखने वालों के लिए वह (ब्रह्मतत्व) जाना हुआ नहीं है और जिनमे ज्ञातापन का अभिप्राय नही है, उनका वह ब्रह्मतत्त्व जाना हुआ है अर्थात् उनके लिए वह अपरोक्ष है।[2] उपर्युक्त प्रतिबोध से उत्पन्न ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है; क्योंकि उससे अमरता को मनुष्य प्राप्त करता है, आत्मा को जानने की शक्ति प्राप्त करता है और विद्या-ज्ञान से अमृतरूप परब्रह्म को प्राप्त होता है[3]।

समयसार में कहा है कि "माणवजुत्तो य माणमेवा[4]" अर्थात् मान मे युक्त आत्मा मानी है। इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय में यहां कहा गया है कि जो जीव इन्द्रियगोचर पदार्थ को ईहा-अवाय-धारणा पूर्वक जानते हैं, उन्हे परोक्षपदार्थ का जानना अशक्य है[5]। पूर्ण ज्ञान तो अतीन्द्रिय होता है, उस अतीन्द्रियज्ञान के विषय मे आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

जो ज्ञान प्रदेश रहित कालाणु अथवा परमाणु को, प्रदेशसहित पञ्चास्तिकायों को, मूर्त्त अर्थात् पुद्गल को, अमूर्त अर्थात् मूर्तरहित शुद्ध जीवादि द्रव्यों को, अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायो को जानता है, वह अतीन्द्रियज्ञान है[6]। यदि ज्ञाता आत्मा ज्ञेय पदार्थ के प्रति सङ्कल्प विकल्प रूप परिणामन करता है तो उसके क्षायिक ज्ञान नही है, इसके विपरीत जिनेन्द्र भगवान ने उस आत्मा को कर्म का अनुभव करने वाला अर्थात् संसारी ही कहा है[7]।

केनोपनिषद में कहा गया है कि यदि इस मनुष्य शरीर में (परब्रह्म को) जान लिया तब तो कुशल है और यदि इस शरीर के रहते उसे नही जान पाया तो महान् विनाश है, यही सोचकर बुद्धिमान पुरुष प्राणी प्राणी में परमात्मा समझकर उस लोक से प्रयाण कर अमर हो जाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है— जो पुरुष सूत्र (आगम) से सहित है, वह चतुर्गति रूप संसार के

---

1. केनोपनिषद् 2/2
2. वही, 2/3
3. वही, 2/4
4. समयसार—125
5. समयसार—40
6. वही, 41

मध्य स्थित होता हुआ भी नष्ट नहीं होता है। भले ही वह दूसरों के द्वारा दृश्यमान न हो, फिर भी आत्मा के प्रत्यक्ष से वह उस संसार को नष्ट करता है।

कठोपनिषद् में कहा है—

सस्यमिव मर्त्यं पच्यते सस्यमिव जायते पुन /2/2/6

यह मरणधर्मा मनुष्य अनाज की तरह पकता है और जराजीर्ण होकर मर जाता है तथा अनाज की भांति ही फिर उत्पन्न हो जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इस पुन पुन उत्पन्न होने और मृत्यु को प्राप्त होने के कारण का भी उल्लेख पंचास्तिकाय में किया है—

जो जीव संसारी है, उसके राग, द्वेष आदि अशुद्ध भाव होते हैं उनसे ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का बंध होता है। कर्मों से एक गति से दूसरी गति प्राप्त होती है। गति को प्राप्त हुए जीव के औदारिकादि शरीर होता है शरीर से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, इन्द्रियों से विषय ग्रहण होता है और उससे राग तथा द्वेष उत्पन्न होते हैं। संसार रूपी चक्र में भ्रमण करने वाले जीव के ऐसे अशुद्ध भाव अभव्य की अपेक्षा अनादि अनन्त और भव्य की अपेक्षा अनादि सान्त होते हैं, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है[1]।

कठोपनिषद् में नचिकेता यमराज से यह पहला वर माँगता है कि मेरे पिता मेरे प्रति शान्त संकल्प वाले, प्रसन्नचित्त (और) क्रोध एवं खेद से रहित हो जांय। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी शम अथवा साम्यभाव को धर्म कहा है और मोह तथा मोक्ष से रहित आत्मा का परिणाम साम्यभाव कहलाता है[2]।

कठोपनिषद् में कहा है कि जो सदा विवेकयुक्त बुद्धि वाला और वश में किए हुए मन से सम्पन्न रहता है उसकी इन्द्रियाँ सावधान सारथी के अच्छे घोड़े की भांति वश में रहती हैं[3]। जैन दर्शन में मन को वश में करने हेतु मनोगुप्ति पालन करने की प्रेरणा दी गयी है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार—

जो रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तम्मणो गुत्ती ॥

नियमसार 69

अर्थात् मन की जो रागादि परिणामों से निवृत्ति है, उसे मनोगुप्ति जानना चाहिए।

प्रवचन सार में कहा है कि अज्ञानी जो कर्म सौ हजार करोड़ पर्यायों में क्षय करता है, मन, वचन, काय की क्रियाओं का निरोधकर स्वरूप में लीन परमात्मभाव का अनुभवी ज्ञाता उन

---

1 पञ्चास्तिकाय—128–130

2 चारित्त खलु धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ प्रवचनसार-7

3 यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे ॥ कठोपनिषद् 1/3/6

कर्मों को उच्छ्वास मात्र काल में ही क्षय कर देता है[1] । कठोपनिषद् भी विज्ञानवान् को परम पद की प्राप्ति कहता है[2] । जो सदा अविज्ञानवान् (विवेकहीन बुद्धि वाला) और अवशीभूतमन से युक्त होता है, उसकी इन्द्रियाँ असावधान सारथी के दुष्ट अश्व की भाँति वश में न रहने वाली हो जाती है[3] । इन्द्रियों के वशीभूत सामान्य जीव ही नहीं हैं, अपितु आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार सहज इन्द्रियों से पीड़ित मनुष्य असुर और देवों के इन्द्र अर्थात् स्वामी उस इन्द्रिय जनित सुखों में रमण करते हैं[4] ।

कठोपनिषद् मे कहा है—

पराच. कामाननुयान्ति वाला

स्ते मृत्योर्यान्ति विततस्य पाशम् ।

अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा

ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ 2/1/2

जो मूर्ख बाह्य काम भोगों का अनुसरण करते है, वे सर्वत्र फैले हुए मृत्यु के बन्धन में पड़ते हैं । किन्तु बुद्धिमान् मनुष्य नित्य अमर पद को विवेक द्वारा जानकर इस जगत में अनित्य भोगों में से किसी को भी नहीं चाहते ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है कि जिन जीवों की विषयों मे रति है, उनके दुःख स्वभाव से ही जानों; क्योंकि उनके दुःख स्वभाव से नही उत्पन्न होता तो विषयों के सेवन के लिए इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी नही होती[5] ।

कठोपनिषद् में कहा है कि जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में एक ही अग्नि नाना रूपों में उनके समान रूप वाला हो रहा है, वैसे समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा (परब्रह्म) एक होते हुए भी नाना रूपों मे उन्ही के जैसे रूप वाला हो रहा है और उनके बाहर भी है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपो बहिश्च ॥

कठोपनिषद् 2/2/9

आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा के एकत्व का प्ररूपण इस प्रकार किया है—

---

1. जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्स कोडीहिं ।
   तं णाणी तिहि गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥ प्रवचनसार 3/38
2. कठोपनिषद् 3/8
3. यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
   तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ कठोपनिषद् 1/3/5
4. प्रवचनसार 1/63
5. वही, 1/64

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मन ।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्य पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानय
तन्मुक्त्वा नवतत्व सन्ततिमिमामात्माय मेकोऽस्तु न ।।6।।
अत शुद्धनयायत प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति सत् ।
नवतत्वगलत्वेऽपि यदेकत्व न मुञ्चति ।। 7 ।।

इस आत्मा को अन्य द्रव्यो से पृथक देखना ही नियम से सम्यग्दर्शन है, यह आत्मा अपने गुण-पर्यायो से व्याप्त रहने वाला है और शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है तथा जितना सम्यक्दर्शन है उतना ही आत्मा है, इसलिए इस नव तत्व की परिपाटी छोडकर यह आत्मा एक ही हमें प्राप्त हो ।

नवतत्वो मे प्राप्त हुआ आत्मा अनेक रूप दिखाई देता है, यदि उसका भिन्न स्वरूप विचार किया जाय तो चैतन्य चमत्कार मात्र ज्योति को नही छोडता ।

कठोपनिषद् के अग्नि के दृष्टान्त को अमृतचन्द्राचार्य के कलशों पर हिन्दी सवैया लिखने वाले कविवर बनारसीदास जी ने अपनाया है । वे कहते हैं—

जैसे तृण काठ वास आरने इत्यादि और
ईधन अनेक विधि पावक मैं दहिए ।
आकृति विलोकित कहावै आग नानारूप
दीसै एक दाहक सुभाव जब गहिये ।।
तैसे नव तत्त्व मैं भयो है बहु भेषी जीव,
सुद्धरूप मिश्रित असुद्ध रूप कहिए ।
जाही छिन चेतना सकति को विचार कीजै,
ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये ।। 8 ।।

(नाटक समयसार)

जैसे कि घास, काठ, बाँस व जगल के अनेक ईधन आदि अग्नि मे जलते हैं, उनकी आकृति पर ध्यान देने से अग्नि अनेक रूप दिखती है, परन्तु यदि मात्र दाहक स्वभाव पर दृष्टि डाली जावे तो सब अग्नि एक रूप ही है, उसी प्रकार जीव (व्यवहारनय से) नव तत्वो मे शुद्ध अशुद्ध, मिश्रित आदि अनेक रूप हो रहा है, परन्तु जब उसकी चैतन्य शक्ति पर विचार किया जाता है, तब वह (शुद्धनय से) अरूपी और अभेदरूप ग्रहण होता है ।

प्रश्नोपनिषद् में कहा है—

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रत चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते ।
तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषा तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्य प्रतिष्ठितम् ।।

अर्थात् जो कोई भी निश्चयपूर्वक उस (सन्तानोत्पत्तिरूप) प्रजापतिव्रत का अनुष्ठान करते हैं अर्थात् स्त्री प्रसङ्ग, आदि भोगो का उपभोग करते हैं वे (पुत्र और कन्या रूप) जोड़े को उत्पन्न करते हैं। जिनमें तप और ब्रह्मचर्य है, जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है, उन्हीं को यह ब्रह्मलोक मिलता है।

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ।। प्रश्नोपनिषद् 1/1/16

जिनमे न तो कुटिलता है, न झूठ है और न माया ही है, उन्ही को वह विकार रहित विशुद्ध ब्रह्मलोक मिलता है।

तप, ब्रह्मचर्य, सरलता और सत्य की आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा बारस अणुवेक्खा में कहे गए मुनिधर्म के उत्तमक्षमादि 10 भेदों में गणना की गई है। शीलपाहुड़ में कहा गया है—

जिणवयणगहिदसारा विसयविरत्ता तवोधणा धीरा।
सील सलिलेन ण्हावा ते सिद्धालय सुहं जंति ।। 38 ।।

जिन्होने जिनेन्द्रदेव के वचनों के सार को ग्रहण किया है, जो विषयों से विरक्त है, जो तप को धन मानते है, धीर वीर हैं और जिन्होने शील रूपी जल से स्नान किया है, वे सिद्धालय के सुख को प्राप्त करते हैं।

प्रश्नोपनिषद में कहा है—समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति ।। 6 1

वह मनुष्य अवश्य मूल के सहित सर्वथा सूख जाता है, नष्ट हो जाता है, जो झूठ बोलता है।

मुण्डकोपनिषद् मे कहा गया है कि जो वन में रहने वाले, शान्त स्वभाव वाले विद्वान् तथा भिक्षा के लिए विचरने वाले तप तथा श्रद्धा का सेवन करते है, वे रजोगुण रहित सूर्य के मार्ग से वहाँ चले जाते है, जहाँ पर वह जन्म मृत्यु से रहित नित्य, अविनाशी परमपुरुष रहता है।

दर्शनपाहुड में कहा गया है कि सम्यक्त्व सहित ज्ञान, दर्शन, तप और चरित्र इन चारों का समागम होने पर ही जीव सिद्ध हुए है।

यहाँ दर्शन शब्द श्रद्धा के अर्थ में ग्रहण किया गया है तथा तप का कथन भी सुस्पष्ट है। मोक्षपाहुड में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य शुद्ध कहलाता है। सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य निर्वाण को प्राप्त होता है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से रहित है, वह इष्ट लाभ को नहीं पाता है[3]। तप के विषय में बतलाया है कि जिनकी ध्रुवसिद्धि है अर्थात् जिन्हें अवश्य मोक्ष होता है तथा

---

1. तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
   शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
   सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
   यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।। मुण्डकोपनिषद् 1 2 11
2. दर्शनपाहुड 32
3. मोक्षपाहुड–39

जो चार ज्ञानो से सहित हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान् भी तपश्चरण करते हैं, अत ज्ञानयुक्त पुरुष को भी तपश्चरण करना चाहिए।

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार शरीर के भीतर प्रकाशरूप परम विशुद्ध आत्मा निश्चय से सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और सम्यग्ज्ञान से ही सदा प्राप्त होने योग्य होता है, जिसे सब प्रकार के दोषो से रहित हुए यत्नशील साधक ही देख पाते हैं[3]।

इनमे से सत्य, तप और ब्रह्मचर्य का वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द ने बारस अणुवेक्खा के दस धर्मों के प्रसङ्ग मे किया है। सम्यग्ज्ञान रत्नत्रय मे गर्भित है। मोक्षपाहुड मे कहा गया है कि जो योगी जिनेन्द्रदेव के मतानुसार रत्नत्रय की आराधना करता है, वह आत्मा का ध्यान करता है और पर पदार्थ का त्याग करता है, इसमे सन्देह नही है।[4] चारित्रपाहुड मे कहा गया है—

पाऊणच्णाणसलिल णिम्मलसुविसुद्धभावसजुत्ता ।
हुति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥
चारित्रपाहुड-41

जो पुरुष ज्ञानरूपी जल को पीकर निर्मल और अत्यन्त विशुद्ध भावों से संयुक्त हैं वे शिवालय मे रहने वाले तथा त्रिभुवन के चूडामणि सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जो साधु राग से, द्वेष से अथवा मोह से असत्यभाषा के के परिणाम छोडता है, उसी के सत्यमहाव्रत होता है[5]। सत्य की प्रशसा मे मुण्डकोपनिषद् मे कहा है—

सत्यमेव जयति नानृत
सत्येन पन्था विततो देवयान ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत् सत्यस्य परम निधानम् ॥
मुण्डकोपनिषद् 3/1/6

सत्य ही विजयी होता है, झूठ नही, क्योकि देवयान मार्ग (परमात्मा को प्राप्त करने का साधन रूप मार्ग) सत्य से परिपूर्ण है जिसमे पूर्णकाम ऋषि लोग गमन करते हैं जहाँ वह सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का उत्कृष्ट निधान है।

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार परमात्मा दिव्य, अचिन्त्यस्वरूप है तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रूप मे प्रकाशित होता है तथा दूरी से भी अत्यन्त दूर है और इस शरीर में रहकर अति समीप भी है।

1 वही–60
2 मुण्डकोपनिषद् 3/1/5
3 मोक्षपाहुड–36
4 नियमसार–58

यह देखने वालों के भीतर ही उनके हृदय रूपी गुफा मे स्थित है।[1] आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा निरूपित आत्मा के विषय में भी यही कहा जा सकता है।

मुण्डकोपनिषद्कार के मत में वह आत्मा न तो नेत्रों से, न वाणी से, न दूसरी इन्द्रियों से ही ग्रहण करने मे आता है, तप से अथवा कर्मों से भी वह ग्रहण नही किया जा सकता। उस अवयवरहित परमात्मा को तो विशुद्ध अन्तःकरण वाला विशुद्ध अन्त.करण से निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही ज्ञान की निर्मलता से देखपाता है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द इसी अभिप्राय को इन शब्दो मे व्यक्त करते हैं—

ध्यानस्थ मुनि समस्त कषायो और गारव, मद, राग, द्वेष तथा व्यामोह को छोड़कर लोक व्यवहार से विरत होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है—

मिच्छत्त अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण।
मोणव्वयेण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा॥
मोक्षपाहुड–28

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य को मन, वचन, काय रूप त्रिविध योगों से छोड़कर जो योगी मौनव्रत से ध्यानस्थ होता है, वही आत्मा को द्योतित करता है—प्रकाशित करता है।

जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णंतं तम्हा जंपमि केणहं॥
मोक्षपाहुड–29

जो रूप मेरे द्वारा देखा जाता है, वह बिलकुल नही जानता और जो जानता है वह दिखाई नही देता, तब मैं किसके साथ बात करूँ।

मुण्डकोपनिषद् मे कहा है कि विशुद्ध अन्तःकरण वाला मनुष्य जिस जिस लोक को मन से चिन्तन करता है तथा जिन भोगों की कामना करता है, उन उन लोकों को जीत लेता है, इसलिए ऐश्वर्य की कामना वाला मनुष्य आत्मा के जानने वाले की अर्चना करे[1]।

आत्मा को जानने वाले की अर्चना करने से आत्मोपलब्धि होती है। कहा भी है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥
प्रवचनसार—80

जो पुरुष द्रव्य, गुण और पर्यायों के द्वारा अरहन्त भगवान को जानता है, वही आत्मा को जानता है और निश्चय से उसी का मोह विनाश को प्राप्त होता है।

1. मुण्डकोपनिषद् 3/1/7
2. वही 3/1/8
3. मुण्डकोपनिषद् 3/1/10

मुण्डकोपनिषद् मे कहा है कि इष्ट (यज्ञ यागादि श्रौतकर्म) और पूत (बावडी कुँआ खुदवाना और बगीचे आदि लगाना रूप स्मृतिविहित कर्म) कर्मों को ही श्रेष्ठ मानने वाले अत्यन्त मूढ लोग उससे भिन्न वास्तविक श्रेय को नही जानते। वे पुण्यकर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग के उच्चतम स्थान मे जाकर वहाँ के भोगो का अनुभव करके इस मनुष्य लोक मे अथवा इससे भी अत्यन्त हीन योनियो में भ्रमण करते हैं[1]।

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है कि देवो मे भी स्वभावजन्य सुख नही है, ऐसा जिनेन्द्रदेव के उपदेश में युक्तियो से सिद्ध है। वास्तव मे वे शरीर की वेदना से पीडित होकर रमणीय विषयो मे रमण करते हैं[2]। यद्यपि यह ठीक है कि शुभोपयोग रूप परिणामो से अनेक प्रकार के पुण्य फल उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे देवो तक समस्त जीवो को विषयतृष्णा ही उत्पन्न करते हैं[3]। जिन्हे तृष्णा उत्पन्न हुई है, ऐसे समस्त ससारी जीव तृष्णाओ से दुखी और दुखो से सन्तप्त होते हुए विषयजन्य सुखो की इच्छा करते हैं और मरणपर्यन्त उन्ही का अनुभव करते रहते हैं[4]।

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार यह आत्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है, यह जिसको स्वीकार कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि यह आत्मा उसके लिए अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। यह आत्मा बलहीन मनुष्य द्वारा नही प्राप्त किया जा सकता तथा प्रमाद से अथवा लक्षणरहित तप से भी नही प्राप्त किया जा सकता, किन्तु जो बुद्धिमान् साधक इन उपायो के द्वारा प्रयत्न करता है, उसका यह आत्मा ब्रह्मधाम मे प्रविष्ट हो जाता है[5]। आचार्य कुन्दकुन्द ने दुष्ट आठ कर्मों से रहित अनुपम, ज्ञानशरीरी नित्य और शुद्ध आत्मद्रव्य को स्वद्रव्य कहा है। जो स्वद्रव्य का ध्यान करते हैं, परद्रव्य से पराङमुख रहते हैं और सम्यक् चारित्र का निरतिचार पालन करते हुए जिनेन्द्रदेव के मार्ग मे लगे रहते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त होते हैं[6]।



1 मुण्डकोपनिषद् 3/1/10
2 ... नातार 1/71
1 वही– 74
2 ...
3 प्रवच 5
4 यही 1/ द 3/2/3–4
5 वही 1/7 18–19
6 मुण्डकोपनिष
मोक्षपाहुड— का 88/2–60

महावीर जयन्ती स्मा

आचार्य कुन्दकुन्द और संघ भेद

□ बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

आचार्य कुन्दकुन्द का व्यक्तित्व

कुन्दकुन्दाचार्य यथार्थ में साधक रत्नत्रय के आराधक साधु रहे है। उनका व्यक्तित्व महान् था, जिसमे अनेक विशेषतायें रही है। तदनुसार उनमे निम्न विशेषण पूर्णतया चरितार्थ होते है :—

1. **अध्यात्म निष्ठ**—उनकीनिष्ठा या आस्था अध्यात्म में रही है। उनके द्वारा जो भी ग्रन्थ रचे गये हैं उनमे उन्होने वस्तुस्थिति को दिखलाते हुए अध्यात्म तत्व का प्रबलता से समर्थन किया है। उनका दृढ विश्वास रहा है कि शाश्वतिक व निर्बाध सुख की प्राप्ति वीतराग मार्ग से ही सम्भव है। इसके लिए बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह से निर्लिप्त रहना अनिवार्य है।

2. **सिद्धान्त के मर्मज्ञ**—अध्यात्म निष्ठ होते हुए भी उन्होंने सिद्धान्त के रहस्य को भली-भांति समझा था। इसके बिना वे अपने ग्रन्थों में—जैसे पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार व नियमसार आदि में—यथा प्रसंग गुणस्थान, मार्गणास्थान, बन्ध-मोक्ष, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यवसानस्थान, अनुभागबन्धा-ध्यवसानस्थान, योगस्थान, उदयस्थान, बन्धस्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान आदि का उल्लेख नही कर सकते थे। परन्तु उनका उल्लेख अवश्य किया गया है। इससे निश्चित है कि उन्होंने इन सैद्धान्तिक तत्वों को भी समझा था। विशेषता यह रही है कि इन सबकी यथार्थता को हृदयंगम कर उन्होंने अन्त मे यह स्पष्ट कर दिया है कि वे सब पुद्गल के परिणाम है जो आत्मा के त्रैकालिक शुद्ध स्वरूप से भिन्न है, इसलिए उन्हें आत्मीय मानकर उनमे राग-द्वेष करना उचित नहीं है। उनका जीव के साथ सम्बन्ध दूध और पानी के समान है, आत्मा तो उपयोग गुण (ज्ञान-दर्शन आदि स्वाभाविक परिणति) से अधिक है जो सदा ही उपादेय है।[1]

1. इसके लिए समयसार गा. 50-57 और नियमसार गा. 8-50 आदि द्रष्टव्य है।

नि शकत्व आदि गुणो से विशिष्ट सम्यक्त्व चरण को चारित्रानुष्ठान के लिए अनिवार्य बतलाया है।[1] दूसरा सयम चरण के प्रसग मे उसे सागर (गृहस्थ) और अनगार (मुनि) के भेद से दो प्रकार का कहा है। उनमे गृहस्थ के सम्भव श्रावकाचार के प्रसग मे दर्शनिक-व्रतिक आदि ग्यारह प्रतिमाओ और पाच अणुव्रतो, तीन गुणव्रतो एव चार शिक्षाव्रतो के निर्देश पूर्वक उनके स्वरूपों को भी स्पष्ट किया है।[2]

दूसरे यति धर्म स्वरूप सयम चरण के प्रसग मे उन्होने पाच अहिंसादिव्रतो, उनमे प्रत्येक की पाच पाच भावनाओ ईर्या-भाषादि पाच समितियो और तीन गुप्तियो को विशद किया है।[3]

प्रसग के अन्त मे वे कहते हैं कि इस प्रकार से मैंने वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट सम्यक्त्व और सयम के आश्रित इस दो प्रकार के चारित्र को सक्षेप से कहा है। हे भव्य जीवो! तुम इस चारित्र प्राभृत का निर्मल अन्तःकरण से मनन करते हुए उस दो प्रकार के सयम चरण चारित्र का पालन करो, जिससे चतुर्गति रूप ससार को—जन्म मरण की परम्परा को छोड़कर अपुनर्भव हो सको, अर्थात् उस जन्म मरण की परम्परा से मुक्त हो सको।[4]

चारित्र प्राभृत के अतिरिक्त पाच महाव्रतादि रूप मुनि सयम चरण चारित्र का निरुपण नियम सार (गाथा 56 70) मे भी किया गया है।

8 निर्ग्रन्थता के प्रबल समर्थक—कुन्दकुन्दाचार्य ने जिन लिंग को विशद करते हुए 'सूत्र प्राभृत' मे यह कहा है कि साधुओ के पास बाल के अग्र भाग प्रमाण भी परिग्रह का ग्रहण नही होना चाहिये तथा उन्हे एक स्थान मे हाथो रूप पात्र मे दिये गये आहार को ही ग्रहण करना चाहिये। साधु तत्काल जन्मे बालक के समान निग्रन्थ लिंग को धारण करता हुआ तिल तुष मात्र परिग्रह को हाथो मे नही ग्रहण करता है। यदि वह थोडे-बहुत भी परिग्रह को ग्रहण करता है तो उससे निगोद मे जाता है। जिस लिंग को धारण कर थोडे बहुत परिग्रह का ग्रहण होता है उस लिंग की जिनागम में निन्दा की गई है। जो साधु गृह का परित्याग कर चुका है वह सर्वथा बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रह से रहित होता है। सयत वही होता है जो पाच महाव्रतो और तीन गुप्तियो से युक्त होकर निग्रन्थ मोक्ष मार्ग पर विचरता है, वन्दनीय भी वही होता है (गा 17–20)।

दर्शन प्राभृत 26–28 मे वेषधारी साधु की वन्दना करने का निषेध किया गया है जो वस्त्र-विहीन (दिगम्बर) होकर भी तदनुरूप सयम से रहित हो।

---

1 चारित्र प्राभृत 5–20 (इसके लिए विशेष रूप से समस्त 'दर्शनप्राभृत' ही चिन्तनीय है)
2 चा प्राभृत 21–27
3 वही 27–38
4 वही 44–45

आगे सूत्र प्राभृत में यहां तक कहा गया है (23) कि जैन शासन में यदि तीर्थंकर भी हो तो वह भी वस्त्र को धारण करते हुए सिद्ध नही हो सकता है। मोक्ष मार्ग नग्नता ही है, शेष कुमार्ग या मिथ्या मार्ग है।

वस्त्र का परिहार न कर सकने के ही कारण घोर चारित्र का आचरण करते हुए भी स्त्रियों के प्रव्रज्या—दिगम्बर दीक्षा—का प्रतिषेध किया गया है (सूत्र प्राभृत 24–26)।

निष्कर्ष—

(1) दर्शन विशुद्धि पूर्वक निरतिचार–चरित्र के अनुष्ठाता आचार्य कुन्दकुन्द यथार्थ मे मोक्ष मार्ग के प्रभावक श्रमण रहे हैं। सम्यग्दर्शन विहीन होकर किंचिन्मात्र भी परिग्रह की अभिलाषा रखने वाले दिगम्बर वेषधारी साधु को उन्होने भाव श्रमण स्वीकार नही किया, भले ही वह बारह अंगो और दस पर्वों का पारगत क्यो न रहा हो। इसके विपरीत मूर्च्छा से रहित अल्पज्ञ भी निश्चल सम्यग्दृष्टि का उन्होंने आसन्न भव्य (परीत संसारी) एव केवल ज्ञान के अभिमुख घोषित किया है। इस प्रकार कुन्दकुन्द की निर्मल दृष्टि में भाव से ही लिंगधारी (यथार्थ श्रमण) रहा है, द्रव्य लिंग मात्र से नही।[1]

(2) कुन्दकुन्द ने अपने प्रायः सब ही ग्रंथों में—जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है—द्रव्यों तत्वों, पदार्थो श्रावकाचार और साध्वाचार इत्यादि अनेक प्रतिपाद्य विषयो का प्रतिपादन करके भी प्रायः सर्वत्र प्रसंग के अन्त में मुमुक्षु भव्य जीवो के लिए सावधान कर दिया है कि ये सब ज्ञातव्य हैं। उन्हें यथार्थ रूप में जानकर उनके विषय में राग-द्वेष को छोड़ो और यह निश्चित समझ लो कि वे आत्मा के निज तत्व नही है किन्तु कर्मोपाधिजनित पर भाव है। इस प्रकार के निश्चय और तदनुरूप अनुष्ठान से ही निर्बाध शाश्वतिक सुख प्राप्त हो सकता है।[2]

(3) कुन्दकुन्द को सैद्धान्तिक विषयों का भी अध्ययन रहा है, पर वे उनके प्रचार-प्रसार में विशेष रूप से संलग्न नही हुए। उनका प्रमुख ध्येय यही रहा है कि मुमुक्षु भव्य प्राणी संसार भ्रमण से निर्मुक्त होने के लिये उनका ज्ञान प्राप्त करें व उनके विषय में मुग्ध न होकर राग-द्वेष का परित्याग करें, जिससे अपने शुद्ध आत्म तत्व को वे प्राप्त कर सकें।

इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में (160–61) आ. कुन्दकुन्द—अपरनाम पद्मनन्दी मुनि के द्वारा षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रन्थ या व्याख्या के रचे जाने का उल्लेख किया है पर उसमें प्रामाणिकता नहीं रही दिखती।[3]

---

1 इस सबके लिए भाव प्राभृत गाथा 43–56 विशेषरूप से मननीय है।

2. पंचास्तिकाय गाथा 103–104 विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

3. षट्खण्डागम परिशीलन पृ. 337-40 देखे जा सकते हैं।

सघ भेद

यह तो स्पष्ट है कि जैन सम्प्रदाय मे सघ भेद आचार्य कुन्दकुन्द के समय मे भी कुछ हो गया था, जिसके दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो प्रमुख सघ या सम्प्रदाय रहे हैं। यह सघभेद उभय सम्प्रदाय सम्मत आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) श्रुतकेवली के समय मे हुआ। बहुत समय के बीतने पर इन दोनो मे भी अवान्तर भेद प्रभेद हुये—जैसे, दि सम्प्रदाय मे तेरह पथ और बीस पथ आदि तथा श्वे- सम्प्रदाय मे मन्दिर मार्गी (मूर्ति पूजक) व मूर्ति पूजा को स्वीकार न करने वाले स्थानक वासी तथा तेरह पथ आदि।

'नन्दी' आदि सघ भेद

जैसा कि इन्द्रनन्दि श्रुतावतार से ज्ञात होता है आचारांग के धारक सुभद्र आदि चार आचार्यों मे अन्तिम लोहार्य रहे हैं। उनके पश्चात् विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त नाम के अन्य चार आरातीय आचार्य हुए जो अग-पूर्वों के एक देश के धारक थे।[1] पश्चात् पूर्वदेश के मध्य-गत पुण्ड्रवर्धनपुर मे अर्हद्बली नामक मुनि हुए जो समस्त अग-पूर्वों के एक देश के भी एक देश के ज्ञाता थे। वे अष्टाग महानिमित्त के भी ज्ञाता थे। ये सौ योजन से आये हुए मुनिवृन्द के साथ पाच वर्षों के अन्त में युग प्रतिक्रमण कर रहे थे। इस बीच उन्होंने मुनिजनो से पूछा कि सब यतिजन आगये हैं। उन्होने उत्तर मे कहा है कि भगवान्! हम सब अपने सघ के साथ आ गये हैं। इस उत्तर को सुनकर गणी अर्हद्बली ने विचार किया कि अबसे यह जैन धर्म गणपक्षपात भेदो के साथ रहेगा। उदास भाव से नही रहेगा। तब उन्होंने गुफा से आये हुए कुछ मुनिजनो का नन्दी और वीर, अशोकवाट से आये हुए कुछ का अपराजित और देव पचस्तूप निवास से आये हुए कुछ का सेन और भद्र, शाल्मली वृक्ष के मूल से आने वाले कुछ का गुणधर और गुप्त तथा खण्डकेसर वृक्ष के मूल से आने वालों म कुछ का सिंह और चन्द्र नामकरण किया। इसकी पुष्टि भी इन्द्रनन्दी ने 'उक्त च' कहकर एक अन्य उद्धृत पद्य के द्वारा की है।[2]

आगे अन्य आचार्यों के मतानुसार इस सघ प्रवर्तन मे अन्य नामकरण का भी उल्लेख किया गया है। विशेषता इसमे यह है कि पूर्व सघ भेद के प्रवर्तन मे जहा एक ही किसी गुफा आदि के स्थान से आने वालो का नामकरण दो-दो सज्ञाओ—जसे नन्दी व वीर आदि द्वारा किया गया है वहा इस मत के अनुसार वह सारे नामकरण 'नन्दी' आदि किसी एक-एक सज्ञा के द्वारा ही किया गया है।[3]

---

1 यह यहा स्मरणीय है कि इन विनयधर आदि अन्य चार आरातीय आचार्यों का उल्लेख अन्यत्र कहीं उस श्रुतावतार के प्रसग म नही किया गया है। जैसे–तिलोयपण्णत्ती गाथा 4, 1476-92 धवला पु 1, पृ 64–67 व पु 1 पृ 130–31, हरिवशपुराण 66, 21–24 (आगे श्लोक 25 मे विनयधर, शिवगुप्त और अर्हद्बलि इनका भी उल्लेख हुआ है, पर ये ई श्रुतावतार के अनुसार नहीं रह) जबूद्वीपपण्णत्ती गाथा 1, 8–18 भी द्रष्टव्य हैं।

2 इ श्रुतावतार 83–96

3 वही पृ 97-100

इस प्रकार इन 'नन्दी' आदि विविध संघों के प्रवर्तक अर्हद्बली मुनि हुए है।[1]

मूल संघ

दि. सम्प्रदाय में मूल संघ का भी उल्लेख देखने में आता है। यह नामकरण बहुत प्राचीन तो नहीं दिखता। अतः कुन्दकुन्द के पश्चात् उनके अनुयायियों मे इस संघ का विशेष प्रचार हुआ है। अभिप्राय: इसमे उसका अपने को अन्य संघ के अनुयायियों की अपेक्षा आगमानुगु रूप शुद्ध आचरण के स्थापन करने का रहा है। पर वस्तु स्थिति ऐसी नही रही। इस सघ के अनुयायी मुनिजन भी भट्टाण्को के समान जिनालयों के जीर्णोद्धार आदि के लिए दान में गांव व जमीन आदि को ग्रहण करते रहे है। यह मुनि मार्ग का विरोधी शिथिलाचार ही है। इस मूल संघ का व्यवहार पांचवीं छठी शताब्दी के पश्चात् ही हुआ है।[2]

यापनीय आदि अन्य कुछ संघ

देवसेनाचार्य (विक्रम सं. 990) ने अपने 'दर्शनसार' ग्रंथ में कितने ही संघों का उल्लेख किया है। उनमें 'यापनीय आदि संघ भी है। 'यापनीय' संघ की उत्पत्ति का समय देवसेनाचार्य ने विक्रम सं. 204 बतलाया है। यह सम्प्रदाय दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्व का मिश्रित रूप रहा है। कारण उसका यह है कि इस सम्प्रदाय के मुनिजन नग्न दिगम्बर रूप में रहते हुए दिगम्बरों के समान खड़े रहकर पाणि-पात्र से—पात्र विशेष के बिना हाथों को सम्पुट रूप मे करके उसके द्वारा—अन्न ग्रहण करते रहे हैं। मयूर ? पिच्छी को वे रखते थे, वन्दना करने वालो के लिए प्रत्युत्तर रूप मे 'धर्म लाभ' कहते थे व नग्न मूर्तियो को मानते थे। 'भगवती आराधना' गा. 421 ('आचेलक्कुद्देसिय' आदि) की विजयोदया टीका मे अपराजित सूरिने, जो यापनीय रहे हैं, बहुत विस्तार से अचेलकता या दिगम्बर का समर्थन किया है। यह सब ही आचरण दिगम्बर साधुओं के अनुरूप है। किंतु उसके साथ ही वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्मत वर्तमान आचारांगादि आगमो, आवश्यक उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और छेदसूत्रों आदि को मानते थे। अपराजित सूरिने अचेलकता के समर्थन मे उनके भी उद्धरणों को दिया है। उसके अतिरिक्त वे स्त्री मुक्ति और केवली कवलाहार का भी समर्थन करते थे। यह सब श्वेताम्बर आम्नाय के अनुरूप व दिगम्बर आम्नाय के प्रतिकूल रहा है। शाकटायन व्याकरण के रचयिता शाकटायनाचार्य या पाल्यकीर्ति भी यापनीय रहे हैं।

मूल 'भगवती आराधना' के रचयिता शिवार्य भी सम्भवतः यापनीय रहे।[3]

---

1. इस संघ प्रवर्तन में ऐतिहासिक दृष्टि से कहां कितनी प्रामाणिकता है, यह अन्वेषणीय है। नन्दि आम्नाय की प्राकृत पट्टावली के अनुसार अर्हद्बली का समय वीर निर्वाण के पश्चात् 565-593 के बीच माना है।
2. जैन साहित्य और इतिहास (द्वि. सं.) पृ. 485-86 व पीछे पृ. 389-94.
3. इस सबके लिए 'जैन साहित्य और इतिहास' के पृ. 56-73 पर 'यापनीयों का साहित्य' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।

द्रविड सघ—इसकी उत्पत्ति का समय देवसेनाचार्य ने विक्रम स 526 बतलाया है। इसकी उत्पत्ति मथुरा मे श्रा पूज्यपाद के वज्रनन्दी नामक शिष्य के द्वारा हुई है।[1] एकीभावस्तोत्र, न्यायविनिश्चिय विवरण और पार्श्वनाथ चरित्र आदि के रचयिता सुप्रसिद्ध वादिराज मुनि इसी सघ के थे। इस सघ को द्रमिल सघ भी कहा जाता है।

काष्ठा सघ—इस सघ का प्रस्थापक नन्दितट ग्राम मे विनय सेन से दीक्षित कुमार सेन हुआ है जो दर्शन से भ्रष्ट था। स्थापना काल विक्रम स 753 निर्दिष्ट किया गया है। उसने स्त्रियों को दीक्षा देने क्षुल्लक को वीरचर्या करने, कड़े बालो वाली चमरी गाय के बालों की पीछी रखने एव छठे गुणव्रत का विधान किया।[2]

माथुर सघ—इस का प्रधान गुरु मथुरा मे रामसेन विक्रम स 953 (काष्ठा सघ के 200 वर्ष बाद) हुआ। उसने किसी भी प्रकार की पीछी के न रखने का विधान किया है। अमितगति श्रावकाचार और सुभाषित रत्नसन्दोह आदि अनेक ग्रथो के निर्माता श्री अमित गति इसी माथुर सघ के आचाय रहे।[3]

सिह सघ आदि—भट्टारक इन्द्रनन्दि प्रणीत 'नीतिसार' म समस्त नैमित्तिको मे अग्रणीय यतिराज अहद्वली को, जिनका कि उल्लेख पूर्व मे किया जा चुका है, सघ सघट्टक का कर्त्ता निर्दिष्ट किया गया है। आगे उन्होन वहा उन अहद्वली के द्वारा प्रवर्तित सिहसघ, नन्दि सघ, सेनसघ और देवसघ का निर्देश करते हुए गण गच्छ आदि की उत्पत्ति इन्हीं सघो से बतलायी है और यह स्पष्ट किया है कि प्रव्रज्या आदि क्रियाकलापो मे कुछ भेद नही है। इसके कुछ कालके पश्चात् श्वेताम्बर, द्रविड, यापनीय और काष्ठासघ हुए। नीतिसार मे गोपुच्छक (काष्ठासघ), श्वेताम्बर, द्राविड, यापनीय और नि पिच्छिक (माथुरसघ) ये पाच जैनाभास कहे गये है। ये अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार व्यभिचारियो (मिथ्यादृष्टियो) के सिद्धान्त को रचकर जिनेन्द्र के मार्ग को खण्डित करते हैं।[4]

सर्वार्थसिद्धि (9-24) और तत्त्वार्थवार्तिक (9, 24 8) के अनुसार स्थविरो की सन्ततिको गण कहा जाता है। लगभग इसी प्रकार से तत्त्वार्थाधिगम भाष्य मे भी स्थविर सन्तति की सस्थिति को गण बतलाया गया है (9-24)। धवला (पु 13 पृ 63) के अनुसार तीन पुरुषो का समुदाय गण कहलाता है। गच्छ धवला (पृ 13 पृ 63) के अनुसार तीन पुरुषो से अधिक का होता है। सिद्धसेन गणीने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की वृत्ति (9-24) मे एक आचाय के नेतृत्व मे रहने वाले साधुओ के समूह को गच्छ कहा है।

---

1 दर्शनसार गा 24-28
2 वही गा 30-39
3 दर्शनसार 40-42
4 नीतिसार 6 11 (इन सब सघ भेदो की ऐतिहासिक प्रामाणिकता अभी अन्वेषणीय है)।

उपसंहार

ऊपर दिगम्बर व श्वेताम्बर आदि जिन कुछ संघ या सम्प्रदाय भेदों का उल्लेख किया गया है उनके अतिरिक्त भी कुछ वनवासी—गृह से विमुक्त होकर निर्भीकता से वनों या गुफाओं आदि मे रहकर यथार्थ श्रमण धर्म का अनुष्ठान करने वाले--और चैत्यवासी आदि अन्य सघ भेद भी प्रादुर्भूत हो चुके थे। चैत्यवासी वस्त्र को धारण कर भी अपने को मुनि मानते हुए मठों मे रहते थे व धन-सम्पत्ति एवं गांव आदि को दान मे प्राप्त कर उनके आश्रय से मन्दिरो व मठों आदि की व्यवस्था करते थे।

आचार्य कुन्दकुन्द ने साधुओं के बढते हुए उस शिथिलाचार को देखकर आन्तरिक वेदना का अनुभव कर साधु के पास तृणमात्र परिग्रह का भी विरोध किया है। 22 गाथामय अपने लिंग प्राभृत ग्रथ में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि चरित्र या समताभाव रूप धर्म से[1] लिंग (यथार्थ निर्ग्रन्थता) होता है, लिंग से कुछ धर्म की उपलब्धि नही होती। धर्म भाव से होता है, लिंग से नही। इसलिए साधु को उस लिंग के आश्रय से ऐहिक सुखोपभोग की अपेक्षा नही करना चाहिये (गाथा 2)। आगे उन्होने जिन लिंग धारक साधु को सचेत करते हुए यह कहा है कि जो परिग्रह मे मुग्ध रहकर आर्तध्यान करता है उसे पशु समझना चाहिये, यथार्थ मे वह साधु नही है। जिनलिंग को धारण करता हुआ जो गर्विष्ठ होकर कलह आदि करता है व अब्रह्म का सेवन करता है, वह नरकगति को प्राप्त होता है। (गा. 5-7)। जिन लिंग मे अधिष्ठित रहते हुए विवाह व कृषि कर्म आदि सावद्यकर्म की योजना करने वाला पापिष्ठ नरकगति को प्राप्त होता है।

इससे सुनिश्चित है कि कुन्दकुन्दाचार्य के समय में ही जिन लिंग को धारण कर अनेक वेष-धारी साधु मार्ग विरुद्ध घृणित आचरण करने लगे थे। इसलिए विशुद्ध मार्ग को निर्बाध रखने की सद्भावना से प्रेरित होकर उन्होंने कठोरता से बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का विरोध किया है और मुमुक्षु भव्यों को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र स्वरूप निर्मल मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त रहकर आत्मकल्याण करने की प्रेरणा की है।

गुणभद्राचार्य ने भी साधुओं के शिथिलाचार को देखकर खेद व्यक्त किया है और समीचीन साधुओं को उत्तम मणियों के समान विरल रह गये बतलाया है (आत्मानुशासन 1-49-51)।

1-8/522/4 दूसरी मंजिल, निजामपल्ली
हैदराबाद (आ. प्र. 500020



1. चरित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो प्रवचनसार 1-7.

मूलाचार का कर्ता : एक अध्ययन

☐ प० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री
हैदराबाद

प्राज से लगभग 65-70 वर्ष पूर्व (विक्रम स 1977 व 1980) मा दि जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई द्वारा "मूलाचार" ग्रंथ आ वसुनन्दी विरचित 'आचारवृत्ति" नामक टीका के साथ दो भागो मे प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत ग्रन्थ साधु के आचार का प्ररूपक एव महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है। चामुण्डराय द्वारा विरचित 'चरित्रसार" आ वीरनन्दि विरचित "आचारसार" और पण्डित प्रवर आशाधर विरचित "अनगारधर्मामृत" ये ग्रन्थ उस मूलाचार के पश्चात् प्राय उसी के आश्रय से रचे गये हैं। इसके कर्ता के विषय म विद्वान् प्राय एकमत नहीं हैं। उनमें कुछ का कहना यह है कि इस सस्करण मे कर्ता के रूप मे सूचित "वट्टकेर" यह नाम कुछ अजीबसा है जो अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नही होता। इसके अतिरिक्त उसकी कुछ हस्तलिखित प्रतियो मे उसके आ कुन्दकुन्द विरचित होने का भी सकेत मिलता है। उक्त ग्रन्थमाला से प्रकाशित इस ग्रन्थ के अन्तर्गत प्रारम्भ के 7 अधिकारो के अन्तिम पुष्पिका वाक्यो मे ग्रन्थकार के नाम का निर्देश नही हुआ है। आगे 8वें अधिकार के अन्तिम पुष्पिका वाक्य मे वट्टकेराचार्य, 9, 10, 11 वें अधिकारो के अन्तिम पुष्पिका वाक्यो मे वट्टकेर्याचार्य और अन्तिम (12वें) अधिकार के अन्तिम पुष्पिका वाक्य म "वट्टकेरि प्रणीत" इस प्रकार ग्रन्थकार के नाम का निर्देश किया गया है। उसी 12वें अधिकार म "आचारवृत्ति" की समाप्ति पर 'इति मूलाचारविवृत्तौ द्वादशो ध्याय। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत मूलाचाराख्यविवृति। कृतिरिय वसुनन्दिन श्री श्रमणस्य।" ऐसी सूचना की गई है। इस विषम परिस्थिति म उसके कर्ता के विषय मे विद्वानो का सदिग्ध रहना अस्वाभाविक व आश्चर्यजनक नहीं है।

उधर उसकी टीका (आचारवृत्ति) को प्रारम्भ करते हुए आ वसुनन्दी ने उत्थानिका स्वरूप अपने वाक्य प्रबन्ध म यह अभिप्राय व्यक्त किया है जो ध्यान देने के योग्य है—

श्रुतस्कन्धाधारभूतमष्टादशसहस्रपरिमाण मूलगुण प्रत्याख्यानसस्तर — गणधर देवविरचित मूलगुणोत्तरगुणस्वरूपविकल्पोपायसाधनसहायफल-नि ... ... प्रवर्तमानमल्पबलमेधायु शिष्यनिमित्त द्वादशाधिकारैरुपसहर्तु काम स्वस्य श्रोतृणाच प्रारब्ध कार्यप्रत्यू

ह्निराकरणाधर्मं शुभपरिणामं विदवच्छीवट्टकेराचार्यः प्रथमतरं तावन्मूलगुणाधिकारप्रतिपादनार्थं मंगलपूर्विकां विधत्ते मूलगुणेस्वत्यादि ।

यहां स्पष्ट रूप से ग्रंथकर्ता का नाम वट्टकेराचार्य व्यक्त किया गया है ।

अभी हाल मे विदुषी आर्यिका ज्ञानमती माता जी द्वारा अनुवादित जो उसका नवीन संस्करण "भारतीय ज्ञानपीठ" से प्रकाशित हुआ है उसमें माताजी ने उसके कर्ता के विषय में कुन्दकुन्दाचार्य विरचित होने का अपना अभिप्राय व्यक्त किया है व अपने "आद्य उपोद्‌घात" में उन्होने कुन्दकुन्द देवका परिचय भी कुछ दे दिया है । भो. । का प्रारम्भ:) ।

किन्तु जैसा कि मैने कुन्दकुन्दाचार्य के कुछ ग्रन्थों का तथा प्रकृत मूलाचार ग्रन्थ का अध्ययन किया है, तदनुसार इन दोनों ग्रन्थगत विवेचन पद्धति आदि को देखते हुए मैं उनके उक्त अभिप्राय से सहमत नही हूं—

फारण .

1. इसका कारण यह है कि आ. कुन्दकुन्द ने प्रायः सब ग्रन्थो में विवक्षित विषय की प्ररूपणा करते हुए उपसंहार के रूप में अपना अभिप्राय इस रूप मे अभिव्यक्त कर दिया है कि अमुक विषय का विवेचन व्यवहारनयकी अपेक्षा किया गया है, निश्चय की अपेक्षा वैसा सम्भव नहीं है[1] । अत: मुमुक्षु भव्यको उभय नयो के अनुसार वस्तुस्वरूप को समझकर यथाशक्ति विभावभावो से रहित आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उपादेय समझना चाहिए ।

किन्तु उसके विपरीत मूलाचार के कर्ता ने इस प्रकार की पद्धति को प्रायः कहीं भी नही अपनाया है ।

2. इन दोनों ग्रंथो मे यद्यपि कुछ ऐसी भी गाथायें उपलब्ध होती हैं जो शब्दशः समान हैं । किन्तु इससे इन दोनों का कर्ता एक नही माना जा सकता है । कारण इसका यह है कि बहुतसी गाथायें महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् आचार्य परम्परा मे कण्ठगत के रूप में चली आई है, जिन्हें अनेक ग्रन्थकारो ने यथावसर अपने-अपने ग्रन्थ में आत्मसात् किया है । ऐसा केवल दिगम्बर परम्परा में ही नही, श्वेताम्बर परम्परा मे भी ऐसी परिस्थिति रही है । ऐसी भी प्रचुर गाथायें है जो दि. और श्वे. अनेक ग्रन्थों मे समान रूप से उपलब्ध होती है, विशेषकर निर्युक्तियो मे । हां, यह अवश्य है कि इन दोनों सम्प्रदायो के ग्रन्थकारो ने अपनी-अपनी रुचि और मनोवृत्ति के अनुसार कुछ-कुछ शब्दों व वाक्यों में परिवर्तन-परिवर्धन भी किया है । कहीं स्मृति दोष से भी वैसा हुआ है । इसलिए किसी एक ग्रन्थकार ने दूसरे के ग्रन्थ से उन्हें लिया है, ऐसा निश्चित नही कहा जा सकता है । इस कारण समान गाथाओं की उपलब्धि से प्रस्तुत दोनों ग्रंथों का कर्ता एक नहीं हो सकता है ।

---

1. जैसे समयप्राभृत गा. 46–48; इत्यादि ।

इसके अतिरिक्त दोनो ग्रंथो मे विषय विवेचन की पद्धति भी भिन्न रही है व अनेक विषयो के विवेचन मे परस्पर मे कुछ मतभेद भी दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—

1 दोनो ग्रंथो मे अपनी-अपनी पद्धति से बारह अनुप्रेक्षाओ का वर्णन किया गया है। उनमे अध्रुव (अनित्य) अनुप्रेक्षा के प्रसग मे (गाथा 3-7) आ कुन्दकुन्द ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है—

दूध और पानी के समान जीव से सदा सम्बद्ध शरीर भी जब शीघ्र ही नष्ट हो जाता है तब भोग और उपभोग का कारण भूत अन्य द्रव्य नित्य कैसे हो सकता है ? उपसहार स्वरूप उन्होने अन्त म यह कहा है कि परमार्थ से तो आत्मा देवेन्द्र, असुरेन्द्र और मनुजेन्द्र (चक्रवर्ती) के वैभव से भिन्न है ऐसा वह आत्मा ही शाश्वत है इस प्रकार से सदा चिंतन करना चाहिये (गा 6-7)।

उधर मूलाचार के कर्ता ने भी दो गाथाओ (8, 3-4) मे प्रकृत अनित्यानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए यह कहा है कि स्थान आसन तथा देव असुर व मनुष्यों के अपनी ऋद्धि (सम्पत्ति) जनित-सुख, माता, पिता एव स्वजन (कुटुम्बी आदि) हैं इनके साथ सवास और प्रीति ये सब अनित्य हैं। राजप्रासादादि रूप सामग्री इन्द्रिया, शारीरिक रूप (सौन्दर्य), मति, यौवन जीवित, तेज, गृह, शयन, आसन और भाण्ड आदि हैं ये सब अनित्य हैं, ऐसा चिंतन करना चाहिए।

प्रकृत मे इन दोना ग्रथकारो की विवेचना पद्धति स्पष्टतया भिन्न रही है—आ कुन्दकुन्द ने उसका उपसहार करते हुए जहा यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि परमार्थ से जो आत्मा देव-मनुष्यों आदि के वैभव से भिन्न है शाश्वत है उसी आत्मा का नित्य चिन्तन करना चाहिए, वहा मूलाचार के कर्ता ने यह कह दिया है कि सामग्री व इन्द्रिया आदि तथामति-यौवन आदि अनित्य हैं, ऐसा विचार करना चाहिए।

इस प्रकार कुन्दकुन्द ने जहा परमार्थभूत शरीरादि से भिन्न शाश्वत आत्मा के चिन्तन पर जोर दिया है वहा मूलाचारकार ने उपर्युक्त सामग्री आदि सबकी अनित्यता के ही चिन्तन पर बल दिया है।

अशरणानुप्रेक्षा

आ कुन्दकुन्द ने 8 से 13 गाथाओ मे इसका विचार करते हुए मणि मन्त्रादि, स्वर्गादि व चक्रवर्ती की नौ निधियो आदि स्वरूप रक्षा सामग्री के रहते हुए भी उनकी अशरणता को व्यक्त किया है तथा अन्त मे प्रसग का उपसहार करते हुए उन्होने अपनी पद्धति के अनुसार यह स्पष्ट कर दिया है कि बन्ध, उदय, व सत्त्व आदि विविध अवस्था वाले कर्मों से भिन्न अपनी आत्मा ही जन्म-मरणादि के भय से बचा सकता है। इसके अतिरिक्त उस आत्मा मे चूंकि अरहन्त, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाच परमेष्ठी तथा सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप ये चारो भी उस आत्मा मे अवस्थित रहते हैं, इसीलिए वह आत्मा ही मेरा शरण (रक्षक) है। (गा 11-13)

उधर मूलाचार के कर्ता ने तीन गाथाओ (5–7) मे इस अशरणानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि हाथी घोडा आदि मन्त्र व औषध, प्रज्ञप्ति आदि विद्यायें निकृति (धूर्तता),

साम-दाम-दण्डादि रूप चाणक्य नीति और निजी बान्धव ये मृत्यु के भय से रक्षा नहीं कर सकते हैं। जन्म, जरा व मरण के उपस्थित होने पर लोक में जरा और मरण रूप महाशत्रु का निवारण करने वाले जिन शासन को छोड़कर अन्य कोई शरण नही है। अन्त मे उपसंहार करते हुए यह कहा गया है कि मरणभय के उपस्थित होने पर इन्द्रों के साथ देव भी उससे उद्धार नही करते हैं। उस समय धर्म ही उनका शरण व गति है; इस प्रकार से चिंतन करना चाहिए।

इस प्रकार दोनो ग्रंथकारो के उपर्युक्त स्पष्टीकरण मे यह विशेषता ध्यान में लेने योग्य है कि आध्यात्मिक सन्त कुन्दकुन्दाचार्य ने रक्षा की कारण समझी जाने वाली मणि-मंत्र आदि रूप बाह्य सामग्री की अशरणभूतता को प्रगट करते हुए अन्त में कर्मबन्धादि से भिन्न तथा अरहन्तादि पांचों परमेष्ठियों के और सम्यक्त्व आदि चार आराधनाओ के आलयभूत अपने शुद्ध आत्मा को चिन्तनीय कहा है। परन्तु मूलाचारगत उक्त वर्णन में कही भी वह आध्यात्मिकता परिलक्षित नही होती। इससे दोनों ग्रंथकारों की भिन्नता सुस्पष्ट है।

एकत्वानुप्रेक्षा

इसके प्रसंग में आ. कुन्दकुन्द कहते हैं कि एक ही जीव कर्म को करता है व अकेला ही दीर्घ संसार मे परिभ्रमण करता है। वही एक जन्मता व मरता है तथा उसके फल को भोगता है। वही एक तीव्र लोभ के वश विषयभोग के निमित्त से पाप को करता है व वही नरक और तिर्यन्च गतियो मे उसके फल को भोगता है। वही एक धर्मनिमित्तक पात्रदान से पुण्य करता है और वही एक जीव उसके फलस्वरूप मनुष्यो एवं देवो मे सुख को भोगता है। यहां दान का प्रसंग पाकर आगे उन्होंने उत्तम, मध्यम और जघन्य इन तीन पात्र भेदो को स्पष्ट करते हुए अन्त मे यह कह दिया है कि सम्यक्त्व-रत्न से रहित अपात्र होता है। उनकी परीक्षा करना चाहिए। पूर्व की पांच गाथाओं (14-18) मे इतना स्पष्ट करके आगे उन्होंने सम्यक्त्व से विहीन अपात्र के प्रसंग में यह विशद कर दिया है कि दर्शन से भ्रष्ट जीवों को निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नही है, किन्तु चरित्र से भ्रष्ट भी सम्यग्दृष्टि जीव सिद्धि को प्राप्त कर लेते है(19) अन्त में प्रसंग का उपसंहार करते हुए निश्चयनय की प्रधानता से यह स्पष्ट कर दिया है कि मैं एक निर्मम शुद्ध व ज्ञान-दर्शनस्वरूप वाला हूं, इस प्रकार यह शुद्ध एकत्व ही उपादेय है, ऐसा सयतको चिंतन करना चाहिए (20)।

किन्तु मूलाचार के कर्ता ने प्रकृत एकत्वानुप्रेक्षा का केवल दो गाथाओ (8, 8-9) में निरूपण करते हुए इतना मात्र कहा है कि स्वजन व परिजन के मध्य मे एक ही रोता हुआ दुखी होता है व मरण को प्राप्त होकर वही एक संसार में परिभ्रमण करता है, अन्य कोई उसके साथ नहीं जाता है। एक कर्म को करता है और दीर्घ संसार में घूमता है, वही एक उत्पन्न होता है और मरता है, इस प्रकार से चिंतन करना चाहिये।

पाठक देखें कि आ. कुन्दकुन्द ने यथाक्रम से नपे-तुले शब्दों में इसे स्पष्ट करते हुए अन्त में अपनी निर्धारित पद्धति के अनुसार शुद्धनयके माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया है कि उन सबमें एक शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा ही उपादेय है, अतः उसी का चिंतन करना चाहिए। यह पद्धति उपर्युक्त मूलाचारगत विवरण में उपलब्ध नहीं होती। इतना ही नहीं, वहां दूसरी गाथा (9) कुन्दकुन्द द्वादशानुप्रेक्षा में सामायिक 14 से [illegible] में शब्दशः समान उपलब्ध होती है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

आ कुन्दकुन्द ने तीन गाथाओं (21-23) मे अन्यत्व का निरूपण करते हुए जीव के साथ माता-पिता आदि के सम्बन्ध का प्रतिषेध करते हुए अन्त मे निश्चयनयकी प्रधानता से यह स्पष्ट कर दिया है कि यह जो शरीर आदि बाह्य द्रव्य हैं, वे आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है, इस प्रकार शरीर आदि से उसकी भिन्नता का चिंतन करना चाहिए।

उधर मूलाचार के कर्ता ने तीन गाथाओं (10-12) मे यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि माता पिता स्वजन और सम्बन्धी ये सब ही आत्मा से भिन्न हैं, व इस लोक मे ही हित करने वाले हैं। उनमे कोई जीव के साथ परलोक में जाने वाले नही हैं। किसी सम्बन्धी के मर जाने पर 'यह मेरा स्वामी था" ऐसा मानता हुआ अन्य जीव अन्य के लिए शोक करता हैं, किन्तु ससार रूप महा समुद्र मे डूबते हुए अपने आपका विचार नही करता है। जो भी शरीर आदि बाह्य द्रव्य हैं वे आत्मा से भिन्न हैं, वस्तुत ज्ञान दर्शन ही आत्मा है, इस प्रकार से यहा अन्यत्व का चिंतन करना चाहिये।

पाठक आश्चर्य करेंगे कि मूलाचारकार ने भी यहा कुन्दकुन्द के समान उपसहार करते हुए निश्चयनयका आश्रय लिया है पर आश्चय जैसी कुछ बात नहीं है क्योंकि मूलाचार मे जो वहां अन्तिम दो (11-12) गाथायें हैं वे कुन्दकुन्द द्वादशानुप्रेक्षा मे यथा स्थान गाथा सख्या (22-23) मे उसी रूप में उपलब्ध होती हैं। वहा से उन्हे यहा आत्मसात् किया गया है।

ससारानुप्रेक्षा

आ कुन्दकुन्द ने 24-38 गाथाओं मे प्रकृत ससारानुप्रेक्षा का निरूपण करते हुए वहा प्रथमत यह स्पष्ट किया है कि जीव प्रचुर जन्म, जरा, मरण रोग और भय से व्याप्त पाच प्रकार के ससार मे जिनोपदिष्ट मोक्षमार्ग की अपेक्षा न करता हुआ चिरकाल से परिभ्रमण करता है। प्रसग के अनुसार आगे उन्होंने पृथक् पृथक् द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव इन पाच परिवर्तनों के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है (24-29)[1]। आगे प्रसग के अनुसार उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि जीव पाप बुद्धि से पुत्र कलत्रादि के निमित्त धन का उपार्जन करता है, मिथ्यात्व के उदय से वह जिन प्ररूपित मार्ग की निन्दा करता है जीवराशि का विघात करता है मद्य-मास आदि का सेवन करता है तथा प्रयत्न पूर्वक वह विषय के निमित्त पाप को करता है। परिणामस्वरूप वह ससार मे परिभ्रमण करता है (30-40)। इसी प्रसग मे आगे गाथा 35 मे चौरासी लाख योनि भेदो का भी उल्लेख कर दिया है। तत्पश्चात् यह भी निर्देश किया गया है कि ससार मे जीवो के सयोग वियोग, लाभ-अलाभ, सुख दुख और मान-अपमान का दुख हुआ करता है (36)। अन्त में उपसहार करते हुए यह स्पष्ट कहा गया है कि जीव कर्म के निमित्त से ससार रूपी भयानक वन मे घूमता है। निश्चय नय से वह उस पौद्गलिक कर्म से भिन्न है अत वस्तुत उसके ससार है ही नहीं। ऐसी वस्तु स्थिति के होते हुए जीव जो ससार से रहित है वही उपादेय है और इसके विपरीत जो वह सासारिक दुख से युक्त है वह हेय है ऐसा यहा चिन्तन करना चाहिए (37 38)।

---

1 कुन्दकुन्द विरचितद्वादशानुप्रेक्षा के अन्तर्गत 'यह गाथायें (25-.9) सर्वार्थसिद्धि (सूत्र 2-10) मे भी उद्धृत की गई है।

उधर मूलाचार के कर्ता ने प्रकृत संसारानुप्रेक्षा का (14-20) गाथाओं मे वर्णन करते हुए प्रथमतः उक्त पांच परिवर्तनों मे भव परिवर्तन के बिना चार प्रकार के ही परिवर्तन का निर्देश किया है व उसे चारों गतियों में जाने का कारण कहा है (14)। वृत्तिकार ने उस भवपरिवर्तन को स्पष्ट कर दिया है। किन्तु मूलग्रन्थकार ने कुन्दकुन्द के समान द्रव्य क्षेत्रादि चार परिवर्तनों के स्वरूप को भी पृथक्-पृथक् स्पष्ट नही किया है। आगे गाथा 15 के रूप मे जिस "किं केण कस्स कत्थ" आदि गाथा का उल्लेख किया गया है वह वस्तुत. प्रसग के अनुरूप नहीं दिखती। आ. वसुनन्दी ने अपनी वृत्ति मे मूलग्रन्थकार के द्वारा अनिर्दिष्ट भव परिवर्तन के भी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए संसार को पांच प्रकार कहकर इस गाथा की प्रसंग से संगति बिठाते हुए संसार को छह प्रकार का कहा है। तथा उसका उन्होंने स्पष्टीकरण भी कर दिया है। प्रकृत गाथा श्वे. सम्प्रदाय मे उपलब्ध "जीवसमास" नामक ग्रन्थ मे पायी जाती है। उक्त गाथा की स्थिति जैसी वहां दृढ है वैसी यहां मूलाचार में वह दृढ नहीं है। इसका भी कारण यह है कि उक्त "जीवसमास" में ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए मंगल के पश्चात् यह कहा गया है कि निक्षेप, नय, निरुक्ति तथा छह और आठ अनुयोग-द्वारों के आश्रय से सब भाव अनुगन्तव्य हैं। इसे स्पष्ट करते हुए वहा पूर्व निर्दिष्ट उन निक्षेप आदि को स्पष्ट करने के पश्चात् प्रश्न के रूप मे (किं केन कस्य कुत्र कियच्चिरं कतिविधः भाव.) प्रसंग प्राप्त उन छह अनुयोगद्वारों को स्पष्ट किया गया है[2]। इस प्रकार से "जीवसमास" में प्रकृत गाथा के द्वारा उन छह अनुयोगद्वारों को स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। आगे मूलाचार मे प्रसंग के अनुरूप जीव संसार में जिन जन्म-मरणादि के प्रचुर दुःखों का सहता है उन्हे स्पष्ट किया गया है (16-19)। अन्त मे उपसंहारात्मक गाथा (20) के द्वारा यह कहा गया है कि इस प्रकार से विविध दुःखो की स्थिरता ही जिस संसार का सार है ऐसे उस बहुत प्रकार के संसार को जानकर चिंतन करना चाहिए तथा उसी प्रकार से शीघ्र ही उसकी वास्तविक निःसारता का अनुभव करना चाहिए।

निष्कर्ष

पाठक देखें कि आ. कुन्दकुन्द ने उपसंहार के रूप में निश्चयनयकी प्रधानता से जीव के संसार के अभाव को दिखलाते हुए उसे संसारातिक्रान्त कहकर उपादेय और उसके विपरीत संसार दुःख से अभिभूत जीव को हेय कहकर उसके चिंतन की प्रेरणा की है। किन्तु मूलाचार में ऐसी सूक्ष्म दृष्टि पर जोर न देकर सामान्य से उस संसार के चिंतन की प्रेरणा की गई है।

लोकानुप्रेक्षा

आ. कुन्दकुन्द ने 39-42 इन चार गाथाओं मे प्रकृत लोक की प्ररूपणा करते हुए जीवादि पदार्थों के समुदाय को लोक कहकर उसके अधः, मध्य और ऊर्ध्व इन तीन भेदों का भी निर्देश किया

1. किं केण कस्स कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो य।
छहिं अणिओगद्दारेहिं सव्वे भावाणुगंतव्वा ॥ (8-15)
2. [illegible] —
[illegible] । सूत्र 1-7

है व वहा स्थित क्रम से नारक, असख्यात द्वीप-समुद्र तथा तिरेसठ भेदो मे विभक्त स्वर्ग का उल्लेख किया है। आगे उन तिरेसठ भेदो को भी स्पष्ट कर दिया है। अन्त में (गा 42) यह स्पष्ट कर दिया है कि जीव अशुभ उपयोग से नरक व तिर्यन्च गति के दु ख को, शुभ उपयोग से देव व मनुष्यों के सुख को तथा शुद्ध उपयोग से मुक्ति को प्राप्त करता है, इस प्रकार से यहा लोक का विचार करना चाहिये। यह कहकर उन्होन अशुभ, शुभ और शुद्ध इस तीन प्रकार के उपयोगफल को स्पष्ट करते हुए जीव को कल्याणप्रद मार्ग मे प्रस्थित होने के लिए सावधान भी कर दिया है।

उधर मूलाचार के कर्ता ने नो (21-29) गाथाओ मे प्रकृत लोकानुप्रेक्षा को विशद करते हुए यह स्पष्ट किया है कि लोक एक, दो, तीन और द्रव्य पर्यायो की अपेक्षा बहुत प्रकार का है, इस प्रकार के लोक स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। आगे उस लोकको अकृत्रिम, अनादिनिधन, स्वभाव-सिद्ध जीव अजीवो से व्याप्त, नित्य व नालवृक्ष के समान आकार वाला कहा है। तथा आगे उन्होने लोक व अलाक मे विभक्त उस लोक के आकार को भी दिखलाया है (21-24)। तत्पश्चात् वहा अवस्थित जीव कर्मनिर्वर्तित किस प्रकार से सुख-दुख का अनुभव करते हैं इत्यादि स्पष्ट करते हुए उन्होने उस लोक मे होने वाली जीव की दुरवस्था को धिक्कारा है (25 28) और अन्त (29) मे यह कहा है कि इस प्रकार स लोक की नि सारता को जानकर उसमे सुख के आलयभूत लोकाग्रशिखा-वास (सिद्धक्षेत्र) का प्रयत्न पूर्वक ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकार यहा भी दोनो ग्रथकारो के विवेचन की पद्धति भिन्न रही है। आ कुन्दकुन्द के द्वारा निर्दिष्ट तीन प्रकार के उपयोग का आध्यात्मिकता की अपेक्षा अधिक महत्व रहा है।

अशुचित्वानुप्रेक्षा

आ कुन्दकुन्द ने प्रकृत अनुप्रेक्षा का वर्णन चार गाथाओ (43–46) मे करते हुए शरीर की स्वाभाविक अशुचिता को प्रगट किया है। अन्त मे उसका उपसहार करते हुए उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि निश्चय मे आत्मा देह भिन्न, कर्म रहित और अनन्त सुख का स्थान होने से चोखा (उत्कृष्ट) है, अत उसी की नित्य भावना करना चाहिए।

किन्तु मूलाचार मे "अशुचि" के स्थान मे–"अशुभ" की विवक्षा करके सात गाथाओ (30-36) मे चारो गतियो मे वर्तमान जीवो की अशुभता का चित्रण करते हुए अर्थ (धनार्जन) को अनेक अनर्थों का मूल कारण कहा गया है। अनन्तर कामभोगो की अशुभता का दिग्दर्शन कराते हुए वहा अशुचि गर्भ मे वर्तमान जीव की कैसी दुरवस्था होती ह, इसे चित्रित किया गया है। आगे अर्थ, काम और शरीर आदि सबकी अशुभता का ज्ञापन कराते हुए यह प्रेरणा की गई है कि हे श्रमन इन सबकी ओर से निर्वेद को प्राप्त होकर तू इस प्रकार का ध्यानकर कि जिससे अशुचिशरीर को छोड सके (30-35)। अन्त मे (36) यह स्पष्ट किया गया है कि लोक मे सुर, असुर तिर्यन्च, नारकी और मनुष्य इन सबमे जिन प्रणीत धर्म को छोडकर और कुछ भी शुभ नही है, ऐसा चिंतन करना चाहिए।

इस प्रकार से यहा भी आ कुन्दकुन्द ने उपसहार करते हुए जहा निश्चयनयकी अपेक्षा शरीर से भिन्न कर्म से निर्मुक्त व अनन्त सुख के स्थानभूत उत्कृष्ट आत्मा के चिन्तन की प्रेरणा की

है वहां मूलाचारकार ने चारों गतियों में जिनोपदिष्ट धर्म को छोड़कर और कुछ शुभ नहीं है, इस प्रकार के चिंतन की प्रेरणा की है। यह दोनों में विशेषता रही है।

यह भी यहां विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन दोनों ही ग्रंथों में सामान्य से बारह अनुप्रेक्षाओं के नामों का निर्देश करने वाली गाथा समान रूप में इस प्रकार उपलब्ध होती है—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसार लोगमसुचित्तं।
आसव-संवर-णिज्जर-धम्मं बोधिं च चिंतेज्जो॥
कुन्द. गा.-2 व मूला. गा. 8-2

इस प्रकार से यहां गाथा में जब समानरूप से सातवीं अनुप्रेक्षा का नाम "अशुचित्व" के रूप में ही निर्दिष्ट किया गया है तब क्या कारण है जो मूलाचार के कर्ता ने "अशुचित्व" की उपेक्षा कर उसका विवरण "अशुभ" के रूप में किया है (गा. 8, 30-36)। इस मतभेद से स्पष्ट है कि प्रस्तुत मूलाचार के कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य सम्भव नहीं है। उपर्युक्त गाथा कुन्दकुन्दाचार्य विरचित "द्वादशानुप्रेक्षा" से यहां आत्मसात् करके भी निर्वाह उसका नहीं किया जा सका है। प्रसंग के अन्त में यहां मूलाचार में जो यह कहा गया है कि "सबकी अशुभता का चिंतन करते हुए ऐसा ध्यान करो कि जिससे अशुचि शरीर को छोड़ा जा सके" यह भी कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होता है।

आस्रवानुप्रेक्षा

आ. कुन्दकुन्द ने चौदह (47-60) गाथाओं में इसे स्पष्ट करते हुए यह अभिप्राय प्रगट किया है कि मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग ये आस्रव हैं। आगे उन्होंने यथाक्रम से उनके भेदों का भी उल्लेख कर दिया है। प्रसंग प्राप्त तीनों योगों को अशुभ और शुभ बतलाकर पृथक्-पृथक् उन्हें भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया है (47-55) अन्त में आस्रव क्रिया के द्वारा परम्परा से भी निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं है, वह तो संसार परिभ्रमण का ही कारण है (56-59)। सर्वान्त में उन्होंने अपनी निरायम्यस्त पद्धति के अनुसार यह स्पष्ट कर दिया है कि कि निश्चयनय से जीव के पूर्वोक्त आस्रव भेद नहीं हैं। इस प्रकार उभय आस्रवों से निर्मुक्त आत्मा का सदा चिन्तन करना उचित है (60)।

इधर मूलाचार में यहां मन-वचन-काय के साथ राग-द्वेष, मोह, इन्द्रियां, संज्ञायें, गौरव और कषाय; इनको कर्मास्रव कहकर उन्हें पृथक्-पृथक् स्पष्ट भी वहां किया गया है (8, 37-45)। आगे इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया गया है कि हिंसादिरूप पाप आस्रव द्वारों के आश्रय से पाप का आस्रव होता है। उक्त हिंसादि के द्वारा निश्चित ही जीवका विनाश (संसार-समुद्र में निमज्जन) इस प्रकार से होता है जिस प्रकार से आस्रव (छिद्र के द्वारा जल के प्रवेश) सहित नाव का समुद्र में विनाश होता है (46)। अन्त में उपसंहार करते हुए यहां कहा गया है कि इस प्रकार ज्ञानावरणादि रूप आठ प्रकार का जो कर्मास्रव होता है उसका विपाक दुःखरूप है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए (47)।

इस प्रकार उक्त दोनो ग्रन्थगत इस विवेचन मे जो भिन्न पद्धति रही है, उससे उनके कर्तृत्वका भेद निश्चित प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त प्रसग का उपसहार करते हुए आ कुन्दकुन्द ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि निश्चयनय से आत्मा दोनो प्रकार के आस्रव से निमुक्त है, यह दोनो ग्रन्थो के भिन्न भिन्न कर्त्ता का ज्ञापक है।

सवरानुप्रेक्षा

आ कुन्दकुन्द ने पाच (61–65) गाथाओं मे प्रकृत अनुप्रेक्षा का विचार करते हुए यह कहा है कि चल मलिन और अगाढ दोषो से रहित सम्यक्त्वरूप कपाट से मिथ्यात्व आस्रव का, पाच महाव्रतो से अविरति का, कषायरहित कवच (सयम-कपाट) से क्रोधादि आस्रव द्वारो का, शुभ योग की प्रवृत्ति से अशुभ योग का, और शुद्ध उपयोग से शुभ योग का निरोध होना है (61–63) तथा उस शुद्ध उपयोग से जीव के धर्म और शुक्ल ये उत्तम ध्यान होते हैं। इसीलिए सवरका हेतुभूत ध्यान है' ऐसा नित्य चिन्तन करना चाहिये (64)। अन्त में निश्चयनय की प्रधानता से उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि परमार्थनय से शुद्ध भाव रहने के कारण जीव के सवर नहीं है, इस प्रकार सवर भाव से विमुक्त आत्मा का सदा चिन्तन करना चाहिये (65)।

उधर मूलाचार के कर्ता ने छह (48–53) गाथाओ में आस्रवों के निरोधस्वरूप सवर का व्याख्यान करते हुए यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि इन्द्रिय, कषाय, सज्ञा, गौरव और राग आदि जो कर्मास्रव के कारण है उन सबका निरोध करना योग्य है। कषायो के रुक जाने पर मूलत सब ही आस्रव रुक जाते ह, जिस प्रकार कि छिद्र के बन्द कर देने पर नाव मे जल का आना रुक जाता है, जिससे वह जल मे विनष्ट नही होती है। जिस प्रकार रस्सियों से उन्मार्ग गामी घोडे का निग्रह किया जाता है उसी प्रकार तप ज्ञान और विनय के द्वारा इन्द्रियो, कषायो और दोषो का निग्रह किया जाता है। इस प्रकार जो सयत तीन गुप्तियो से सहित होता हुआ समितियों के विषय मे प्रमाद से रहित होता है। उसके समस्त आस्रव द्वारो के रुक जाने से नवीन कर्मों का आस्रव नही होता है। इसी प्रकार दर्शन विरति इन्द्रियनिग्रह और कषायों के निरोध से मिथ्यात्वादि का निरोध हो जाने पर कर्मास्रव नही होता है (48–52)। उपसहार करते हुए वहा अन्त मे यह कहा गया है कि सवर का फल निर्वाण है इसलिए सवर–समाधि से सयुक्त विशुद्ध आत्मा को प्रयत्न पूर्वक उस सवर का चिन्तन करना चाहिये (53)।

यहाँ भी दोनो ग्रन्थो मे यह एक विशेषता रही है कि आ कुन्दकुन्द ने जहा परमार्थनय से जीव के सवर के अभाव को बतलाते हुए सवर भाव से रहित आत्मा के चिन्तन की प्रेरणा की है वहा मूलाचार के कर्ता ने निर्वाण के साधनभूत सवर के चिन्तन पर जोर दिया है।

निर्जरानुप्रेक्षा

इसके प्रसग मे आ कुन्दकुन्द ने पूर्वबद्ध कर्मप्रदेशों के गलने को निर्जरा कहकर उसके स्वकालपक्व (सविपाक) और तप से की जाने वाली (अविपाक) इन दो भेदो का निर्देश किया है व

निष्कर्ष के रूप में यह स्पष्ट कर दिया है कि इनमें चारों गतियों के जीवों के प्रथम और व्रतों से युक्त (संयमी) जीवों के दूसरा होती है : 66–67 :।

मूलाचारकार ने प्रकृत निर्जरा को सात (54–60) गाथाओं द्वारा विशद करते हुए यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि आस्रवनिरोध से सहित व तप से युक्त जीव के निर्जरा होती है; वह देश निर्जरा और सर्वनिर्जरा के भेद दो प्रकार की कही गई है। आगे यहां कहा गया है क्षयोपशम को प्राप्त कर्म की निर्जरा सब ही संसारी जीवो के होती है, किन्तु तप से होने वाली निर्जरा विपुल मात्रा में होती है। इनमें वृत्तिकार ने पूर्व को देशनिर्जरा और दूसरी को सकल निर्जरा बतलाया है (54-55)। आगे अग्नि के द्वारा तपाये गये कनक पाषाण आदि का उदाहरण देते हुए प्रसंग प्राप्त उस निर्जरा को और भी कुछ कुछ विशद किया है (56-58)। अन्त मे उपसंहार करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि जिसने समस्त कर्म की निर्जरा कर दी है वह जन्म, जरा और मरणरूप बन्धन से निर्मुक्त होता हुआ अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है इसलिए उस निर्जरा को मन में करना चाहिये, चिन्तन करना योग्य है :59:।

यहां भी दोनो ग्रन्थगत विवेचन की पद्धति मे यह विशेषता तो रही ही है कि आ. कुन्दकुन्द ने जहा निर्जरा के स्वकालपक्व और तपकृत ये दो भेद निर्दिष्ट किये हैं वहा मूलाचारकार ने उसके देशत: निर्जरा और सर्वत: निर्जरा इन दो भेदो का निर्देश किया है (54)। आगे कुन्दकुन्द ने जहां सभी चारों गतियों के जीवो के प्रथम और व्रतों युक्त जीवो के दूसरी निर्जरा कही है वहां मूलाचार के कर्ता ने इनके स्पष्टीकरण में यह सूचना की है कि क्षयोपशम को प्राप्त कर्म की निर्जरा सब संसारी जीवों के होती है, किन्तु तप से विपुल निर्जरा होती है (55)।

धर्मानुप्रेक्षा

आ. कुन्दकुन्द ने इसकी प्ररूपणा पन्द्रह (68-82) गाथाओं मे की है। प्रथमत: उन्होंने यहां यह स्पष्ट किया है कि सम्यक्त्व पूर्वक होने वाला धर्म गृहस्थों के ग्यारह प्रकार का और अनगारों के वह दस प्रकार का होता है। इसी प्रसंग मे आगे उन्होंने दर्शन, व्रत व सामायिक आदि ग्यारह प्रकार के सागारधर्म: देशविरति: का निर्देश करते हुए अनगारों के दस प्रकार के धर्म का नामनिर्देश इस प्रकार किया है—1. उत्तम क्षमा, 2. मार्दव, 3. आर्जव, 4. सत्य, 5. शौच, 6. संयम, 7. तप, 8. त्याग, 9. आकिंचन और 10. ब्रह्मचर्य। आगे उन्होंने यथाक्रम से इन दस धर्मों के स्वरूप का भी पृथक् पृथक् निर्देश कर दिया है (69-80)। तत्पश्चात् उन्होंने निश्चयनय की प्रधानता से यह स्पष्ट कर दिया है कि जो जीव श्रावक धर्म को छोड़कर यतिधर्म मे प्रतिष्ठित होता है वह निरन्तर ही मोक्ष को प्राप्त करता है, इस प्रकार से सदा धर्म के विषय मे चिन्तन करना चाहिये। (प्रकृत मे गा. 81 का पाठ कुछ अशुद्ध हुआ दिखता है)। इसी अभिप्राय को हृदयंगम करते हुए [illegible] (पु. नि. 17-19)। आगे उन्होंने उपसंहार करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया है कि

निश्चयनाय से जीव सागार अनगार धर्म से भिन्न है इसीलिए मध्यस्थ भावनाओ से शुद्ध आत्मा का सदा चिन्तन करना चाहिये (82)।

मूलाचार मे प्रकृत धर्म का निरूपण पाच (60-64) गाथाओं मे किया गया है। वहा तीर्थंकर प्रणीत धर्म और उसके धारक एव फलविशेष को स्पष्ट करते हुए जिन दस धर्मों का नाम निर्देश किया गया है वह ध्यान देने योग्य हैं। वे दस धर्म हैं—1 शान्ति, 2 मार्दव, 3 आर्जव, 4 लाघव (शौच), सयम, 5 तप 6 सयम, 7 अकिंचनता, 8 ब्रह्मचर्य, 9 सत्य और 10 त्याग। यह गाथा आगे इसी रूप म ग्यारहवें अधिकार मे भी प्रयुक्त हुई है (11-5)। यहा इन धर्म भेदो म क्रमव्यत्यय होने के साथ शौच धर्म के लिए ही सम्भवत "लाघव" पद व्यवहृत हुआ है। इसके अतिरिक्त यहा सागारधर्म का कुछ भी उल्लेख नहीं हुआ है।

इस परिस्थिति से यह निश्चित प्रतीत होता है कि प्रकृत मूलाचार के रचयिता आ कुदकुन्द नही हैं।

बोधिदुर्लभ

यह पदनिभेद प्रकृत बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा मे भी द्रष्टव्य है। आ कुन्दकुन्द ने इसे चार (83-86) गाथाओ मे स्पष्ट करते हुए "बोधि" के स्वरूप मे यह कहा है कि जिस उपाय के द्वारा सम्यग्ज्ञान प्रादुर्भूत होता है उस उपाय की चिन्ता को बोधि कहते हैं। आगे वे कहते हैं कि कर्मोदय जनित पर्याय हेय है, किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान स्वकीय द्रव्य होने से उपादेय है, इस प्रकार का जो निश्चय होता है वह सम्यग्ज्ञान है। मिथ्यात्व आदि जो मूल-उत्तर प्रकृतिया हैं वे असख्यात लोक प्रमाण हैं जो पर द्रव्य स्वरूप हैं। स्वकीय द्रव्य निश्चय म आत्मा है, ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। किंतु निश्चयनय की प्रधानता मे 'यह हेय है और यह उपादेय है" यह विकल्प सम्भव नहीं है। मुनि को ससार से विमुख होने के लिए इस बोधि का विचार करना चाहिये (83-86)। आगे प्रकृत द्वादशानुप्रेक्षा प्रकरण का उपसहार करते हुए इन बारह अनुप्रेक्षाओ को ही प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि कहकर उनके भावन की प्रेरणा की गयी है तथा शक्ति के अनुसार उक्त प्रत्याख्यान आदि को भी विधेय कहा गया है। इसके साथ ही उन्होने 'जो पुरुष अनादिकाल से मोक्ष गये हैं वे इन बारह भावनाओ को भाकर ही गये हैं' यह कहते हुए उन्हे पुन पुन प्रणाम किया है। आगे वे कहते हैं कि बहुत बकवाद स क्या, जो पुरुषश्रेष्ठ अतीतकाल मे सिद्ध हुए हैं व भविष्य मे सिद्ध होने वाले हैं, यह सब उन बारह अनुप्रेक्षाओ का ही माहात्म्य है (87-90)। अन्त में प्रकरण का उपसहार करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया है कि इस प्रकार से कुन्दकुन्द मुनिन्द्र ने जो इस निश्चय-व्यवहार के स्वरूप को कहा है उसका जो शुद्ध मन से चिन्तन करता है वह परम निर्वाण को पा लेता है (9)।

मूलाचार मे प्रकृत बोधि दुर्लभता का निरूपण बारह (65 76) गाथाओ में किया गया है। वहा सर्वप्रथम अनन्त ससार मे मनुष्य पर्याय की दुर्लभता को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है

कि जिस प्रकार लवण समुद्र में एक ओर युग (जुआं) और दूसरी ओर समिला। (उसकी कील) के छोड़ने पर उनका पुनः संयोग होना दुर्लभ है उसी प्रकार मनुष्य पर्यायका प्राप्त होना दुर्लभ है। इसी सिलसिले मे वहां उत्तरोत्तरदेश–कुल आदि की दुर्लभता को दिखाते हुए बोधिकी दुर्लभता को प्रकट किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि वह यदि किसी प्रकार से प्राप्त हो जाती है तो उसके संरक्षण मे प्रमाद नही करना चाहिए (65–68)। आगे उसके विषय में प्रमाद करने वाले पुरुष की दुर्गति को दिखाते हुए उस बोधि के औपशमिक क्षायिक और मिश्र ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये है। इसी प्रकार से आगे प्रासंगिक चर्चा करते हुए उसके चिन्तन व ध्यान की प्रेरणा की गई है (69–73)। अन्त मे वहां यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि ये बारह भावनायें जिस प्रकार से जिनागम मे देखी गयी हैं उसी प्रकार से मैंने उनका व्याख्यान किया है। आगे प्रकरण का उपसंहार करते हुए यह कहा गया हैं कि जो इन भावनाओ के द्वारा आत्म चिन्तन करता है वह विमलालय (सिधास़य) को पाता है अत मे ध्यान के द्वारा कर्मक्षय करने वाले महर्षियों से अपने उद्धार की प्रार्थना करते हुए ग्रन्थकार ने यह भावना व्यक्त की है कि जिस प्रकार से मुझे वे अनुप्रेक्षायें प्रादुर्भूत होतीं हैं, विमल गतिको प्राप्त समस्त लोक के स्वामी उस प्रकार से मेरे ऊपर प्रसन्न होंवे (74–76)।

उपसंहार

यहां यह ध्याय देने योग्य है कि कुन्दकुन्द ने निश्चय की विवक्षा में इन अनुप्रेक्षाओं को ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और आलोचना कहते हुए अन्त में यह भावना व्यक्त की है कि इस प्रकार से कुन्दकुन्द मुनि नाथ ने जिस निश्चय और व्यवहार के स्वरूप को कहा है उसका जो शुद्ध भाव से चिन्तन करता है वह परम निर्वाण को प्राप्त करता है। इस प्रकार नयों के आश्रय से किया जाने वाला उक्त प्रकार का विवेचन प्रायः मूलाचार में कही भी उपलब्ध नहीं होता है। इन दोनों ग्रन्थकारों की इस भिन्न विवेचन पद्धतिको देखते हुए यह निश्चित प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक संत आ. कुन्दकुन्द उस मूलाचार के कर्ता नही हैं। ध्यान रहे कि इससे "मूलाचार" ग्रन्थ का महत्त्व कुछ कम नहीं होता। वह निश्चित ही साधु के आचार पर सर्वांगपूर्ण प्रकाश डालने वाला अतिशय व्यवस्थित एक प्राचीन ग्रन्थ है भले ही उसके रचयिता चाहे वट्टकेराचार्य हों या अन्य किसी नाम के धारक रहे हों पर कुन्दकुन्दाचार्य उसके रचयिता नहीं हैं।

---

1. [illegible] । [illegible] 5, 6, 644 पृ. 14, पृ. 782

कुन्दकुन्द ! तव कृतियाँ जयवन्त रहे

□ ब्राह्मी कुसुम
ब्राह्मी आश्रम, सागर (म प्र)

कुन्दकुन्द भगवन्त नाम से आ बालक जन ज्ञात रहे।
किन्तु काम से पण्डित जन क्या ? श्रमण मुनि अज्ञात रहे ॥
कुन्दकुन्द के काम से मण्डित विद्यासागर आज रहे।
कुन्दकुन्द जयवन्त रहे, गुरु-युगी सन्त भी धन्य रहे ॥1॥

कुन्दकुन्द की कुन्दन कृतिया इक चिन्मय इक प्राभृत हैं।
श्रमण-सस्कृति चेतन कृति है, प्राभृत कृती अचेतन है ॥
कर्ता-महिमा दर्शाती है दिग्-दिगन्त तक ख्यात रही।
मुमुक्षुजन को मोक्षमार्ग मे दीपक बनकर दिखा रही ॥2॥

कुन्दकुन्द तव चेतन कृतिया मौन रूप ले बोल रही।
समयसार की खुली किताबें, अनपढ को भी पढा रहीं ॥
वान रहित निर्वाण पायेंगे, समयसार-मय आप बनें।
कुन्दकुन्द गुरु अलख भले हो, तव पथ सरसित सतत रहे ॥3॥

रही जिनागम प्राभृत कृतिया मुनि-मानस मे समा रही।
ज्ञान-ध्यान और तप साधना को पल-पल जो बढा रही ॥
विपय-विरेचन वचन-निकेतन, भवि-भव तारक तरणी हैं।
यही धर्म है स्तुत्य यही है, शिव-सुख की जो जननी हैं ॥4॥

सत्-युग जैसी कलियुग मे भी, तव कृतिया जयवन्त रहे।
विरागता की प्यारी-छवियां, मम नयनो मे बसी रहे ॥
सर्वोदयी इस वीर-तीर्थ मे, अवगाहित हो दुःख हनें।
गुरु-शासन मे शासित होकर, गुरु-ऋण से द्रुत मुक्त बनें ॥5॥



आचार्य कुन्दकुन्द और कर्म से मुक्ति का पथ

☐ ज्ञानचन्द बिल्टीवाला

जैन शास्त्रों मे हमारे सब दुःखो को कर्मोदय रूप स्वीकार किया गया है। पीड़ा होती है, श्रम करते भी सफलता नही मिलती, निकट के जन भी साथ नही देते, बल वीर्य की कमी है, ना समझी है तो असाता, लाभान्तराय, दुर्भग, वीर्यान्तराय, ज्ञानकरणीय आदि एकाधिक कर्मों के उदय से हैं। बाह्य उपचारों, उपायो को जैनाचार्य व्यर्थ नही कहते, लेकिन बिना विपरीत कर्मोदय शान्त हुए अभीष्ट फल सिद्धि भी नही मानते। अभ्युदय और निःश्रेयस धर्मतरु के दो फल है। मोक्ष अभ्युदय पूर्वक ही प्रायः होता है। धर्म मार्ग मे पाप बीज दग्ध किये जाते हैं, पुण्य आनुषंगिक रूप से मुक्त होने के पूर्व सहज ही पकता रहता है। उसे न रोका जा सकता है न धर्म द्वारा दग्ध किया जा सकता है। वह तो धर्म की पुद्गल जगत मे छाया है।

जैनाचार्यो ने सूक्ष्म कर्मों की निर्जरा को मानव की दुःख निवृत्ति मे बहुभाग माना है। अतः एक भाग बाह्य उपायो को (लौकिक दृश्य) गौण कर उन्होने अपनी चर्चा का विषय कर्म बन्ध, संवर और निर्जरा को विशेषतः बनाया है।

आ. कुन्दकुन्द ने दर्शन पाहुड की 17वी गाथा मे कहा है कि जिन वचन औषध स्वरूप है, विषय सुख के विरेचक है, अमृतभूत है, जन्म-मरण व्याधि के हरने वाले है और सर्व दुःखो को क्षय करने वाले हैं। डाक्टर, वैद्य आदि भी दुःखों के नाश के उपाय की बात करते है पर वे द्रव्य, इन्द्रिय, स्थूल स्तर पर ही रुके रह जाते है और दुःख की कुछ पर्ते ही खोल पाते हैं, जो कर्म रूप है उन्हे विशेष नही छू पाते। कुछ पर्ते कालान्तर मे इनसे छूट पाते है और सारा श्रम व्यर्थ चला जाता है। फिर स्थूल द्रव्य स्तर की चर्चा तो जन्म से आरम्भ होकर मरण पर ही समाप्त हो जाती है। ऐसी अवस्था मे जन्म मरण के दुःख या मरणोपरान्त दुःखो की तो बात ही अछूती है। इस प्रकार लौकिक चेष्टायें आधी अधूरी है और आधे अधूरे ही उनके फल है। आगम मे [illegible], शास्त्रो मे जब मन्दिर आदि के बनाने की शिक्षा देखकर लौकिक, [illegible], [illegible], [illegible] सुख सुविधा से [illegible] होने वालो को वे आधे अधूरे उपाय मान नही पा सकते और [illegible] दुःखों को [illegible]

उखाड़ने हेतु सूक्ष्म कर्म बन्ध और उनसे बचने के उपायों की खोज निकाला है। कर्म बन्ध, संवर, निर्जरा की विस्तार से साहित्य में चर्चा करने वाले कुन्दकुन्द पहले आचार्य हैं और आश्चर्य है उनके लिखे में कुछ विशेष जोड़ने में कोई परवर्ती आचार्य आज तक समर्थ भी नहीं हुआ है।

पौद्गलिक कर्म रचना परोक्षभूत है। कर्मशास्त्रों में उनके आबाधाकाल, निषेक रचना उदय उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, स्थिति, अनुभाग आदि की सारी चर्चा परोक्षभूत है। उस चर्चा की युक्तियुक्तता हम आन्तरिक अविरोध (internal consistency) से तो जान लेते हैं पर अन्यथा विस्तार से संस्थापन का हमारे पास कोई उपाय नहीं है। आ. कुन्दकुन्द ने, जीव तो घट पट शेष द्रव्यों को (द्रव्य कर्मों को भी) नहीं करता, वह तो योग उपयोग का उत्पादक है अतः उनका कर्ता है, (समय 100) तथा जीव के परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्म रूप परिणित होता है आत्मा अपने भावों का कर्ता है निश्चय में आत्मा आत्मा को ही करता है और उसे ही भोगता है, (समय 80—81—82) कहकर हमारे करने, वदने के प्रत्यक्ष, निश्छल क्षेत्र तक अपनी चर्चा को सीमित किया है। कर्म की परोक्षभूत आगमिक चर्चा को कर्म बन्ध, संवर, निर्जरा के आध्यात्मिक पक्ष की चर्चा से सम्पूर्ण बना आचार्य ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण एवं आवश्यक कार्य किया है।

आचार्य ने मिथ्याभाव, अविरति कषाय और योग कर्मबन्ध करने वाले 4 प्रत्यय माने हैं। (समय 109) इनसे नया कर्म बन्ध होता है। ये जीव के स्वभावभूत नहीं है (गा. समय 3) कर्म के उदय काल में आत्मा इनमें उपयुक्त होने से इन रूप परिणमन करता है। (समय गा 125) और द्रव्य कर्म रचना फलस्वरूप होती है। ये प्रत्यय जीव भाव रूप है। पुद्गल कर्म का उदय इनमें निमित्त होता है। उसके अभाव में ये जीव में संभव नहीं है क्योंकि जीव के स्वभावभूत न होकर विभाव रूप है जिनमें कर्म, नोकर्म का निमित्त (आलंबन) आवश्यक है।

कुन्दकुन्द मिथ्यात्व आदि रूप जीव के परिणमन में कर्म का निमित्त, (आलम्बन) तो मानते हैं परजबरजोरी नहीं मानते। वे समयसार गा 375–82 में कहते हैं कि शुभ, अशुभ शब्द, रस, रूप, गन्ध, गुण, द्रव्य तुझे ये नहीं कहते कि तू उन्हें सुन, चख, देख, सूंघ, जान। कान रसना, चक्षु घ्राण और बुद्धि के विषय में आये उन्हें आत्मा भी ग्रहण करने नहीं जाता। (अर्थात् उनसे अस्पृष्ट ही रहता है)। ज्ञानी इनके बीच स्वर्ण की भांति निर्लिप्त रहता है, इनके आरोप से मुक्त रहता है, "अज्ञानी ऐसा जानकर उपशान्त नहीं होता और शिव बुद्धि को प्राप्त न होता हुआ पर के ग्रहण का मन करता है।" शिव बुद्धि को प्राप्त होने से ज्ञानी के सब भाव ज्ञानमय होते हैं। वह उदय में आये पुण्य पाप कर्म फल को पेड़ से टूटे फल की भांति विराग बुद्धि से जानता है, रागादि भाव का पुनः कर्म बन्ध नहीं करता है। अज्ञानी रागादि भाव कर कर्म बन्ध में पुनः पड़ता है। सत्ता में पड़े कर्मों को आचार्य ज्ञानी के लिए पृथ्वी पिण्ड (मिट्टी के ढेले) कहते हैं। बिना उपयोग के प्रयोग के वे फलवान नहीं हो सकते। (समय गा 173) अज्ञानी अपने असत् जीवन दर्शन और मान्यताओं के वशीभूत हुआ परिग्रह पिशाच से ग्रसित हो अपने वस्तुतः शिव स्वरूप, शुद्ध, निरंजन ज्ञानदर्शनोपयोग को मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति रूप मलिन कर सत्ता में पड़े कर्मों पर शुभाशुभ प्रयोग कर उन्हें अपनी बंध परम्परा को दीर्घ करने में कारण बनाता रहता है।

कुन्दकुन्द कर्मों की परोक्ष चर्चा नहीं करते। उपयोग के प्रयोग से सत्ता में पड़े कर्मों को परिचालित किया जाता है, अन्यथा वे हैं जैसे नही है, मिट्टी के ढेले हैं। (समय 173) इस कथन से व्यक्ति पर समझदारी से उपयोग के प्रयोग का वे दायित्व डालते हैं। उपयोग के कल्याणकारी प्रयोगों से वह ज्ञानी है, अपना व जगत का मित्र है, दुष्ट प्रयोगो से वह अज्ञानी है, अपना व जगत का शत्रु है। जैन सिद्धान्त मे नो कर्म (शरीर, पुत्रादि, परिवारजन, धन, देश, समाज) और कर्म में आवश्यक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। नोकर्म के सहारे ही कर्म अपना फल दे पाते हैं। अनुकूल नोकर्म न हो तो कर्म उदय मे ही नहीं आ पाते, और हो तो उदीरणा भी हो जाती है। उदय उग्र हो तो नोकर्म रचना को भी खिंचकर आना होता है। इन कर्म-नोकर्म के बीच योग उपयोग वाला जीव ही कुन्दकुन्द की दृष्टि मे प्रमुख है। (उसके प्रयोगो मे, चेष्टाओं मे, कर्म नोकर्म का जगत परिचालित होता है, अन्यथा मिट्टी के ढेले के समान निस्सार है।) कर्म-नोकर्म और उनके निमित्त से होने वाले जीव मे अध्यवसान (विकारी भाव) से भिन्न वह ज्ञाता दृष्टा है, इन सबसे अस्पृष्ट, अलिप्त। मूर्छित अज्ञानी को कुन्दकुन्द अपनी प्रत्येक गाथा मे यह बोध करा देना चाहते हैं, जगा देना चाहते है, ज्ञानी बना देना चाहते हैं। उनकी घोषणा है कि सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा मे कारण है, शंख के काला पीला सब कुछ खाते भी अपने श्वेत भाव को न छोडने की भांति ज्ञानी भी कर्म नोकर्म जगत को वेदते भोगते भी अबंध रहता है, ज्ञानित्व नही छोड़ता। वह इन्द्रिय विषयो को जीतता है उनके अधीन नही होता और आत्मा को ज्ञान स्वभाव द्वारा अधिक जानता हुआ जितेन्द्रिय होता है। (समय. 31)

कर्म से मुक्ति को मार्ग ज्ञानी तय करता है, अज्ञानी तो नवीन बन्धों की रचना करता मुक्ति सुख से दूर नरक निगोद की भीषणताओ की दिशा मे अपने अज्ञान से बढ़ता जाता है। ज्ञानी को कुन्दकुन्द अबंधक कहते है। पर उनके ज्ञानी चतुर्थ गुण स्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि से तेरहवें गुण-स्थानवर्ती केवली भगवान तक है। सभी एक जैसे अबधक नही है। तेरहवें गुणस्थान से पूर्व छद्मस्थ अवस्था मे स्वयं दर्शन, ज्ञान और चरित्र गुण भी जघन्य होने से आवश्यक राग के सदभाव मे पुनः-पुनः अन्य रूप से परिणमन करता है और द्रव्य प्रत्यय (द्रव्य कर्म) अनेक प्रकार के पुद्गल कर्म प्रति समय बाधने में समर्थ हो जाते हैं। अतः स्पष्ट है कर्म बन्धन का चक्र ज्ञानी बनते ही एक साथ नही रोका जा सकता, पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र (आत्मा का सम्पूर्ण ही गुण वैभव) जघन्यता से क्रम से उबरता हुआ जब केवलीग अनन्त चतुष्टय के शिखर पर पहुंच जाता है तो अनादि से बद्ध कर्म शरीर अपने लिए नये पुद्गल कर्म ग्रहण करने मे असमर्थ हो जाता है और तब बन्धन चक्र रुक कर सर्वथा निर्जरित होने को बाध्य होता है, उससे पूर्व नहीं।

कर्म नष्ट करने का कार्य ज्ञानी अपने गुण वैभव को जघन्य से उत्कृष्ट बनाने की दीर्घ यात्रा कर पूरा करता है। कुन्दकुन्द का ज्ञानी अन्य आध्यात्मिकों की भांति 'आत्मा' शब्द की थोथी रट लगाने वाला नहीं है, आत्मा का ध्यान मात्र भी उसका लक्षण नहीं है। आत्मा से अन्य के जानने को वह अपराध नहीं मानता। वह जानता है, आत्मा ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण है, ज्ञेय लोकालोक प्रमाण है, अतः आत्मा सर्वगत है। ज्ञान के द्वारा सर्वत्र, [illegible] [illegible] [illegible] भी, [illegible] की ओर [illegible] को [illegible] जानता है। [illegible]

पारिवारिक आदि कार्यों को सम्पन्न करने में उसे आकरणिक हो बन्ध मे पड जाने का डर नही है। कुन्दकुन्द का ज्ञानी विद्या रथ मे बठा हुआ वेझिझक मनोहर पथो मे भ्रमण करता है और उस सबसे अपने मे जिनत्व की वृद्धि करता है। कुन्दकुन्द का अध्यात्म दूध मे पडे दूध को भास्वर करते पद्मरागमणि की भाँति समस्त लोकालोक को अपने ज्ञान और सुख से भास्वर और स्निग्ध करता है। यह सही है कि वह क्रोध आदि ममय पर रूप भाव करता है न कराता है, न करते हुए की अनुमोदना करता है। इस विसवादिनी कुरुपता से उसने मुँह मोड लिया है, लेकिन वह ज्ञानमय भावों मे स्वय जीता है, पात्र अन्यों को अवश्य प्रेरणा देता है और ज्ञान मय हो रहो की खुलकर अनुमोदना करता है। वह ऐसा मानता है कि जो अहन्त को द्रव्य, गुण, पर्याय से (पूरा) जानते हैं वे अपनी आत्मा को जानते हैं और उनका मोह नष्ट हो जाता है। इस प्रकार कुन्दकुन्द के ज्ञानी का मुक्ति पथ योग और भोग सवत्र ही स्वसमयता को बरकरार रखता हुआ सभी प्रकरणो मे मे निर्लिप्त गुजरता हुआ, राग म परमाणुमात्र भी पर को ग्रहण न करना ज्ञान मे सब कुछ को समेटता क्रमश अपनी मजिल की ओर बढता चलता ह। कुन्दकुन्द स्पष्ट कहते हैं, लिंग मोक्ष मार्ग नही हैं सागारो अथवा अनगारो द्वारा ग्रहण किये गये लिंगो को छोडकर मोक्ष मार्ग स्वरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे तू आत्मा को लगा। (समय गाथा 410) आत्मा का स्वभाव रूप सम्यक् दशन ज्ञान-चारित्र मोक्ष माग है और विकार रूप मिथ्या दशन ज्ञान चारित्र ससार माग। अन्य द्रव्य और बातें निश्चय से आत्मा के ससार है न मोक्ष। □

कोई जीव को सवगत कहते हैं, कोई जीव को जड कहते हैं, कोई जीव को देहसम कहते हैं, कोई शून्य कहते हैं। हे योगी! आत्मा सर्वगत है आत्मा को जड भी जानो, आत्मा को देह प्रमाण मानो और आत्मा को शून्य जानो। आत्मा कर्म रहित हो केवल ज्ञान से जिस कारण लोका-लोक को जानता है उस कारण सवगत कहा जाता है। हे योगी! जिस कारण निज बोध मे प्रतिष्ठित जीव के इन्द्रिय-जनित ज्ञान त्रुटित हो जाता है, उस कारण इसे जड भी जानो। कारण से विरहित शुद्ध जीव न बढ़ते हैं, न घटते हैं, इस कारण जिनवर जीव को चरम शरीर प्रमाण कहते हैं। क्योंकि बहुविध आठो कर्म और अठारह दोष शुद्धात्माओ के एक भी नहीं है अत (जीव) शून्य भी कहा जाता है।

(परमात्म प्रकाश गाथाय 50–55)

दशमलव प्रणाली और आचार्य कुन्द कुन्द

☐ डॉ. जे. के. जैन

श्री कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी निर्धारित किया जाता है। उस समय विश्व में एक महान् गणितीय घटना भी सम्भवतः हुई है। वह है आधुनिक विश्व में प्रयुक्त "दशमलव स्थान मान संकेतना" का आविष्कार। अभीतक कुरल के रचयिता की भांति इसके आविष्कारकर्ता का नाम ज्ञात नही हो सका है और न ही आविष्कार का ठीक समय। यद्यपि इसकी लोकप्रियता विश्वव्यापी हो गई, तथापि कोई न जान सका है कि वह महात्मा कौन था, जिसने 1 के आगे 0 रख देने पर उसे दश कहा जाये बताया।

भारत में सर्वप्रथम लिखित अभिलेख ईस्वी सन् 595 का गुर्जर दान पत्र है जिसमें संवत् 346 को दशमलव स्थान मान संकेतना में लिखा गया है। सम्भावना के आधार पर डॉ. विभूति भूषण दत्त एवं अवधेश नारायन सिंह ने इसके भारत में हुए आविष्कार की तिथि ईसापूर्व की प्रथम शताब्दी निर्धारित की है।[1] स्मरण रहे कि महाबन्ध ग्रन्थ में सर्वप्रथम शून्य का उपयोग वाक्यांशों को पूर्ण करने के अभिप्राय से हुआ है। इसके पश्चात् ही कुन्दकुन्दाचार्य के परिकर्म नामक ग्रन्थ की रचना का षट्खंडागम के प्रथम तीन खण्ड पर उल्लेख मिलता है। प्रोफेसर हैल्स्टेड लिखते हैं :[2]
"The importance of the creation of the zero mark, can never be exaggerated. This giving to airy nothing, not merely a local habitation and a name, a picture, a symbol, helpful power, is the characteristic of the Hindu race whence it sprang. It is like coining the Nirvana into dynamos. No single mathematical creation has been more potent for the general on go of intelligence and power."

यदि दक्षिण भारत में दिगम्बर जैन आचार्यों की 1200 वर्षों की परम्परा का आचार्य भद्रबाहु एवं प्रभाचन्द्राचार्य (सम्राट चन्द्रगुप्त, ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी) से इतिहास देखा जाय तो कुन्दकुन्दाचार्य सर्वाधिक लोकप्रिय ज्ञात होते हैं जिनके [illegible] पाई गई है। यदि

1. History of Hindu Mathematics, Bombay 1962, p 51.
2. On the foundation and Technique of Arithmetic, Chicago, 1912, p. 20.

इन्होंने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर "परिकम" नामक ग्रन्थ लिखा होगा तो वह भी अभूत पूर्व रहा होगा और उसमें लेखन की नवीन शैलियों का उपयोग किया गया होगा ताकि द्रव्य प्रमाणानुगम सम्बन्धी सख्याओं को सक्षेप सरल विधि से लिखा जा सके। गुजर ताम्रपत्र से भी पूर्व के दशमलव मान सकेतना के उपयोग सुदूरपूर्व हिन्दू उपनिवेशों में भी प्राप्त हुए हैं। ये श्री विजय, पलेमवग (सुमात्रा) और बका द्वीप में प्राप्त हुए हैं जो क्रमश शक सवत् 605, 606 एव 608 के माने जाते हैं। एक और शक 605 का कम्बोज में सम्बोर एव शक 735 का चपा के पोनगर में प्राप्त अभिलेख हैं। 9वीं सदी में महावीराचार्य ने परिकर्माष्टक का विवरण आठ प्रकार की गणना के विषय में दिया है। उनका ग्रन्थ दक्षिण भारत में गणितसार सग्रह के नाम से विश्वविख्यात हुआ। जब 1912 में उसका अंग्रेजी अनुवाद (पॉल रप में) प्रोफेसर रगाचार्य द्वारा मद्रास में प्रकाशित हुआ तो दत्त एव सिंह लिखते हैं। 'It is not known who the inventor of the new system was, and whether it was invented by some great scholar, or by a conference of sages or by gradual development due to the use of some form of the abacus Likewise, it is not known to which place, city, district or learning belongs the honour of the invention and its first use"[1]

इस लेख में परिकम के उदाहरणों को प्रस्तुत करेंगे जिनमें गणित की असीम गहनता परिलक्षित होती है।

ईस्वीपूर्व द्वितीय शताब्दी की अवधि में लेखन के इतिहास पर डा ज्योतिप्रसाद का मत है, 'दोनों ही धाराओं के नेता आगमों को लिपिबद्ध करने और पुस्तक साहित्य का निर्माण करने का विरोध करते थे। किन्तु समय बदल रहा था। मथुरा में यवन, शक, पल्लव, कुषाण आदि भौतिकवादी पश्चिमी विदेशियों का समागम हो रहा था। अशोक के समय से ही लेखन कला का प्रचार उत्तरोत्तर बल पकड़ता जा रहा था, जिसे इन विदेशियों से और अधिक प्रोत्साहन मिला। शुङ्ग काल के ब्राह्मण धर्म-पुनरुद्धार आन्दोलन ने पातञ्जलि, बाल्मीकि, सौति आदि विद्वानों के नेतृत्व ने ब्राह्मणीय साहित्य के प्रणयन को भारी प्रोत्साहित किया। उधर सिंहल द्वीप में वहा के राजा के आश्रय में बौद्ध सघ पालि त्रिपिटक को सकलित एव लिपिबद्ध करने का प्रयत्न कर रहा था। फलस्वरूप स्वय भारत में कनिष्क के आश्रय में अश्वघोष, पार्श्व, वसुमित्र आदि बौद्ध विद्वानों ने चतुर्थ बौद्ध सगीति बुलाई और स्वतन्त्र साहित्य का भी निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया था। ऐसी स्थिति में मथुरा के दूरदर्शी जैन गुरुओं ने भी सरस्वती आन्दोलन द्वारा अपने कट्टर पथी धर्मबन्धुओं के सकोच एव सकीर्णता को दूर करने का प्रयत्न किया, यह स्वाभाविक ही था। ई पू 150 के लगभग कलिंग चक्रवर्ती सम्राट खारवेल ने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर एक मुनि सम्मेलन किया था। सभवत मथुरा सघ के प्रतिनिधियों के प्रभाव से ही उक्त सम्मेलन में सरस्वती आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ जिसका कि पदक्षेप स्वय खारवेल का जन नमस्कार मन्त्र से युक्त वृहद शिलालेख था।'[2]

1 History of Hindu Mathematics, Bombay, 1962, p 49
2 भारतीय इतिहास, एक दृष्टि, ज्ञानपीठ, काशी, 1961, पृ 130 131

यहां तक दशमलव स्थान मान संकेतना का कहीं ओर छोर नहीं दिखता है। षट्खण्डागम 'महाबन्ध' ग्रन्थों में भी इस संकेतना का प्रयोग नही है, केवल महाबन्ध में शून्य का प्रयोग स्थान लेने के लिए किया गया है। तिलोयपण्णती ग्रन्थ मे दशमलव स्थान मान संकेतना का पूरा प्रयोग दृष्टिगत है। अतः षट्खण्डागम ग्रन्थ की प्रथम टीका (?) ग्रन्थ परिकर्म से ही इस परम्परा का प्रारम्भ हुआ दृष्टिगत होता है, जिसमें कुछ ऐसा पराक्रम था कि कुन्दकुन्दाचार्य सर्वाधिक लोकप्रियता को प्राप्त हो गये। इतना गणित विश्व एवं भारत के किसी भी धर्म ग्रन्थ मे नही है, जिसकी साक्षी गोम्मटसारादि की वृहद गणितमय टीकाएँ हैं।

यह भी एक विचित्र तथ्य है कि परिकर्म के कर्त्ता का नाम सिद्ध करने वाला कोई ग्रन्थ नही है। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार मे केवल इतना लिखा है कि षट्खंडागम के आद्य तीन खंडों पर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा। परिकर्म के कुछ उद्धरण निम्न प्रकार हैं जो गणितमय हैं—

1. "और यह व्याख्यान 'जितनी द्वीपों और सागरो की संख्या है और जम्बूद्वीप के रूपाधिक जितने छेद हैं उतने राजु के अर्द्धच्छेद है, इस परिकर्म के सूत्र के साथ भी विरोध को प्राप्त नही होता।" (धवला, पुस्तक–3: पृ. 36)

2. "जो गणना संख्यात है उसका कथन परिकर्म मे है।"
(धवला, पुस्तक--3, पृ. 124)

3. "रज्जु को सात मे गुणा करने पर जगश्रेणी होती है। जगश्रेणी को जगश्रेणी से गुणा करने पर जगप्रतर होता है और जगप्रतर को जगप्रतर से गुणा करने पर घन लोक होता है" इस सर्व आचार्यों के सम्मत परिकर्म सूत्र से विरोध का प्रसंग भी आता है। (धवला, पुस्तक 4, पृ. 184)

4. "यदि श्रुतज्ञान का विषय अनन्त संख्या है तो 'चौदह पूर्वों का विषय उत्कृष्ट संख्या है' ऐसा जो परिकर्म मे कहा है वह कैसे घटित होगा ?"
(धवला, पुस्तक 9, 56)

5. "परिकर्म में इन योगों के अविभागी प्रतिच्छेदों को वर्ग समुत्थित बतलाया है।"
(धवला पुस्तक 10, पृ. 483)

6. "कर्म स्थिति को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर बादर स्थिति होती है' परिकर्म के इस वचन की अन्यथा उपपत्ति बन नहीं सकती है। यहां (परिकर्म में) यद्यपि सामान्य से 'बादर स्थिति होती है' ऐसा कहा है तथापि प्रत्येक बादर पृथ्वी की काय स्थिति ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि सूत्र में (षट्खंडागम) बादर स्थिति का कथन असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी उत्सर्पिणी प्रमाण किया है।"
(धवला पुस्तक 7, पृ. 145)

7 "कर्म स्थिति के आवली के असख्यातवें भाग मे गुणा करने पर बादर स्थिति उत्पन्न हुई है' परिकर्म के वचन के साथ यह सूत्र विरुद्ध पडता है इसलिए इस सूत्र को अवक्षिप्तता का प्रसग नहीं आता। किन्तु परिकर्म का वचन सूत्रानुसारी नहीं है इसलिये परिकर्म को ही अवक्षिप्तता का प्रसग आता है।" (धवला पुस्तक 4, पृ 390)

विश्व प्रसिद्ध महावीराचार्य के गणितसार सग्रह की रचना राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष नृपतु ग (लगभग 815 ई प्रारम्भ) के समय मे की गयी थी। इन नरेशो के पूर्ववर्ती जगतु ग देव के शासन काल मे वीरसेनाचार्य ने षट्खण्डागम पर सुविख्यात धवला टीका लिखी थी। धवला टीका मे गणित सम्बन्धी उल्लेखो का आधारभूत अनेक ग्रन्थो मे से एक 'परियम्म सुत्त" (परिकर्म सूत्र) है जिसका उल्लेख प्राय 20 बार आया है। इसके सब अवतरण प्राकृत गद्यात्मक हैं। उपयुक्त कतिपय उल्लेखो से ज्ञात होता है कि यह जैन करणानुयोग विषयक कोई प्राकृत गद्य मे रचा हुआ प्राचीन ग्रन्थ था, जो अपने विषय का प्रमाणिक ग्रथ माना जाता रहा होगा। इस नाम के कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ का पता नही चल सका है इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार के अनुसार षट्खडागम के प्रथम तीन खण्डो पर कुन्द कुन्दाचार्य ने सर्व प्रथम एक टीका लिखी थी जिसका नाम परिकर्म था। इस ग्रन्थ के विषय मे धवलाकार ने लिखा है कि परिकर्म की प्रवृत्ति इसी सूत्र ग्रन्थ से हुई है। किन्तु इसे न तो टीका ग्रन्थ कहा गया, और न ही कुन्द कुन्दाचार्य के कर्तृत्व का कही कोई उल्लेख आया है। परिकर्म व्यवहार शब्द का उपयोग महावीराचार्य ने गणितसार सग्रह मे किया है। परिकर्म ग्रथ को गणितीय प्रक्रिया सम्बन्धी ग्रथ माना जा सकता है। इसे धवलाकार ने एक जगह सर्वाचार्य सम्मत कहा है। अनेक करण गाथाओ को भी उन्होने कही खण्ड रूप मे और कही पूर्ण रूप मे उद्धतकी हैं।

षट्खण्डागम के सूत्रो मे एक, दश, शत, सहस्र, शतसहस्र, कोटि आदि शब्द प्राकृत भाषा से आये हैं। शेष गणितीय शब्दो आदि का भी बाहुल्य है।[1] निम्नलिखित गणितीय सख्याओ से स्पष्ट हो जायगा कि उस समय तक शब्दो द्वारा दशमलव मान का उपयोग दक्षिण भारत मे दिगम्बर जैन सिद्धान्त ग्रन्थों मे आचुका था

1 सयोगि केवली जीव द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा कितने होते हैं ? प्रवेश की अपेक्षा एक अथवा दो, अथवा तीन प्रकार, इस प्रकार उत्कृष्ट रूप से एक सौ आठ होते हैं। (षट्खडागम, शोलापुर, पृ 58, 1-2-13)

2 मनुष्य पर्याप्तो मे मिथ्यादृष्टि मनुष्य द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा कितने हैं ? ते कोडाकोडाकोडि के ऊपर और कोडाकोडा कोडा कोडि के नीचे छह वर्गों के ऊपर और सात वर्गों के नीचे है। (वही, पृ 65 1 2-45)

1 देखिये डा हीरालाल जैन, "आठवी शताव्दी से पूर्ववर्ती गणित शास्त्र सम्बन्धी सस्कृत व प्राकृत ग्रन्थो की खोज, "जैन सिद्धान्त भास्कर, 8, 2, दिसम्बर 1941 पृ 105-111

3. क्षेत्र की अपेक्षा जगतप्रतर के संख्यात सौ योजनों (संखेज्जा जोयण सद) के वर्गरूप प्रतिभाग से वानव्यन्तर मिथ्या दृष्टि राशि आती है। (वही, पृ 67, 1-2-63)
4. सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों ने अतीत काल की अपेक्षा कुछ कम आठ बटे चतुर्दश भाग स्पर्श किये हैं। (वही, पृ. 103, 1-4-6)

उपर्युक्त उद्धरणों से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि इन के गणित की विशद व्याख्या हेतु कोई ग्रंथ की रचना आवश्यक हो गयी होगी उसके विशद लेखन हेतु जो भी संकेतना आविष्कृत हुई वह कम से कम दशमलव स्थान मान संकेतना के रूप में परिकर्म में ही प्रकट होने की संभावना ही सर्वाधिक दृष्टिगत होती है। एक तो तिरुकुरल से सम्बन्धित रचना, दूसरे कुन्दकुन्दाचार्य का नाम मंगल में भगवान् वीर तथा गौतम गणधर के पश्चात् तृतीय स्थान पर आना, इन्द्रनन्दि का कथन एवं परिकर्म संबन्धी उद्धरणादि इस ओर इंगित करते हैं कि दशमलव मान संकेतना का आविष्कार आज के जैसे लेखन रूप में (जैसे 108) आविष्कृत किया जाना ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में संभवतः अंत में हुए कुन्दकुन्दाचार्य का ही प्रतिभाशाली कार्य हो सकता है, जिसने सम्पूर्ण विश्व को इसका उपयोग सिखा कर सदैव के लिए आभारी बना दिया।

डा. ज्योतिप्रसाद जैन ने सिद्धांत भास्कर 1976 भाग 29 किरण 2, पृ. 1-6, अ दि धारावाहिक लेखों में विक्रम संवत् और जैन परम्परा पर एक लेख लिखा है, "यह तथ्य कि भगवान् महावीर का निर्वाण ईसा पूर्व 527 में हुआ था अन्य कालगणनाओं के साथ अनेक उपलब्ध समीकरण ज्ञात ऐतिहासिक तथ्य, साधिक एक सहस्र वर्ष से चला आया लोक विश्वास, विभिन्न तत्संबन्धी अनुश्रुतियां और सुनिश्चितियां विरोधी साक्ष्य का अभाव—ये सब प्रमाण विक्रम संवत् का प्रवर्तन असंदिग्ध रूप से ईसा पूर्व 57 में निश्चित करते हैं।" किन्तु इसके जन्म और जनक के विषय में विभिन्न मत प्रतिपादित किये गये हैं। वास्तव में दक्षिण के शिलालेखों को अगम्य स्थानों में खोजा जाना आवश्यक है, जो मौर्य सम्राट अशोक के पूर्व के हों। साथ ही परिकर्म ग्रंथ की खोज भी दक्षिण के शास्त्र भण्डारों में की जानी चाहिये। यह ग्रन्थ हो सकता है कि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सम्मुख रहा हो, क्योंकि चौदह धाराओं के विवरण के पश्चात् त्रिलोकसार की गाथा 91 में उन्होंने विस्तार से जानने की रुचि रखने वाले शिष्यों को परिकर्म से जानने हेतु लिखा है। उसके पश्चात् यह ग्रंथ कैसे विलुप्त हुआ, यह जानकारी होना इसलिए आवश्यक है कि उसमें प्राचीनतम गणित हेतु हुए जैनाचार्यों का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अनुपम अप्रतिम अवदान उपलब्ध है।

दशमलव स्थान मान संकेतना के आविष्कार की एक कड़ी तिलोयपण्णत्ति तो है ही, एक और ग्रन्थ "सत कम्म पंजिया" है, जो एक अंश में धवला पुस्तक 10 के अन्त में परिशिष्ट रूप में प्रकाशित किया गया है। इसमें भी शून्य के कई प्रकार से उपयोग किये गये हैं। इसकी भाषा भी प्राकृत है। यह पंजीका 114 पृष्ठों में है और निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम और उदय, इन चार अनुयोग द्वारों के ऊपर उपलब्ध है। इसके ग्रन्थकार का कोई संकेत उपलब्ध नहीं है। उत्थानिका में कहा गया है "महाकर्म प्रकृति प्राभृत के जो कृति वेदनादि 24 अनुयोग द्वार हैं उनमें से कृति और वेदना नामक 2 अनुयोग द्वारों की प्ररूपणा वेदना खण्ड (पृ. 9-12) में की गयी है। स्पर्श, कर्म, प्रकृति (पृ. 13) और बन्धन अनुयोग द्वार के अन्तर्गत बन्ध एवं बन्धनीय (बन्धन अनुयोग द्वार चार प्रकार का है—बन्ध बन्धनीय, बन्धक और बन्ध विधान) अनुयोग द्वारों की प्ररूपणा वर्गणा खण्ड में की गयी है।

बन्धा अनुयोग द्वार के अ तगत बन्ध विधान नामक अवान्तर अनुयोग द्वार की प्ररूपणा महाब ध मे विस्तार पूवक की गयी है तथा उत्कृष्ट बन्धन अनुयोग द्वार के अवान्तर अनुयोग द्वार भूत बन्धक अनुयोग द्वार की प्ररूपणा क्षुद्रक ब ध (पु 9) मे विस्तार से की गयी है। शेष 18 अनुयोग द्वारो की प्ररूपणा सत्कम की गयी है तथापि उसके अतिशय गम्भीर होने से यहा विषम पदो के अर्थ की प्ररूपणा पजिका स्वरूप से की जाती है।"[1] डा हीरालाल जैन लिखते हैं कि प्रस्तुत मूलभूत षट्खडागम मे कृति वेदनादि पूर्वोक्त 24 अनुयोग द्वारो मे से प्रथम 6 अनुयोग द्वारो की ही प्ररूपणा की गयी है। शेष निब धन आदि 18 अनुयोग द्वारो की प्ररूपणा श्री वीरसेन स्वामी ने स्वय ही की है, जैसा कि उ होने उसके प्रारम्भ मे इस वाक्य के द्वारा सूचित किया है

भूतबलि भण्डारएण जेणेद सुत देसामासियभावेण लिहिद तेणेदेण सुत्ते ण सूचिदसेस भट्टारस आणियोगद्दाराण किंचि सखेवेण परूमण कस्साम। त जहा[2]

उक्त "सतकम्म पजिया" उत्यानिकानुसार शेष 18 अनुयोग द्वारो पर उपलब्ध न होकर केवल उदयनुयोग द्वार तक ही उपलब्ध है। इसकीहस्तलिपि प लोकनाथ शास्त्री के अन्यतम शिष्य श्री देवकुमार के द्वारा मूडविद्रोस्थ श्री वीरवाणी निवास जैन सिद्धा त भवन की प्रति पर से लिखि गयी है जो प्राय अशुद्ध है। कि तु फिर भी यह ग्र य शोध के प्रोजेक्ट हेतु अत्यन्त उपयोगी है क्योकि इसका विषय ग्र य सदृष्टि सबधी ग्र थो जैसे केशववर्णि कृत कर्णाटवत्ति से जोडना इतिहास की दृष्टि से लाभकारी सिद्ध हो सकता है। प्रथम तो इसका हिन्दी या अग्रेजी मे अनुवाद कराया जाना चाहिये, फिर उसका स्पष्टीकरण करते हुए उस पर व्याख्या लिखी जानी चाहिये। इसमे अक्रियात्मक सदृष्टिया दृष्टि गोचर नही है, अतएव यह कर्णाटवृत्ति से तो पूर्व का होना ही चाहिये। साथ ही ऐसा प्रतीत होता है कि यह पञ्जिका साधारण व्यक्तित्व का कार्य नही है, इसलिए भी यह हो सकता है स्वय कुन्दकु दाचाय द्वारा निर्मित हो। इसमे दशमलव स्थानमान सकेतना का उपयोग है तथा शू य को अनेक सदृष्टि रूप में व्यवहृत किया गया है। विद्वानो से निवेदन है, शास्त्र भण्डारों मे जहा भी हों सदृष्टिमय प्रतियों की सूचना लेखक को देकर कृतार्थ करेंगे।

यह सुस्पष्ट है कि कु दकु दाचाय के उपरा त भी षट्खडागम ग्रथो पर हजारो श्लोकों मे दक्षिण दिगम्बर जैन के आचार्यो ने व्याख्यादि ग्र थ बनाये जिसमे से हमे केवल धवला टीका ही उपलब्ध हो सकी जिसमे मात्र अक सदृष्टि ही की गयी। अर्थ सदृष्टिया अ यत्र रखी रह गयी, जिन्हे सभवत चामुण्डराय, माधवच द्र त्रैविद्य एव केशववर्णी ने सम्हाली हो। इसी प्रकार तिलोय पण्णती मे मुख्यत दशमलव स्थान मान सकेतना का उपयोग है। अक्रियात्मक सदृष्टिया सभवत बाद मे मे प्रक्षिप्त की गयी होगी।

यह जन समाज का कतव्य है साथ ही समस्त देशवासियो का भी कि कु दकु दाचार्य के इस द्विसहस्राब्दि समारोह के अवसर पर सदृष्टियो सम्ब धी ग्र थो पर ऐतिहासिक शोध को प्रोत्साहित करें।

---

1 सत कम्मपजिआ, धवला पु 15, पृ 1, परिशिष्ट।
2 धवला पुस्तक, 15 विषय परिचय, पृ 18

बिन्दु-बिन्दु कथा—

आचार्य कुन्दकुन्द

☐ सुरेश सरल

- भारत वर्ष के दक्षिण भाग में कुरमरई नामका एक सुन्दर गांव था।
- वहां गोविन्द नामक एक गोपालक (ग्वाला) रहता था। वह मेहनती ईमानदार और बुद्धिमान था।
- एक दिन जंगल में गायें चराते-चराते वह एक विशाल वृक्ष पर जा बैठा।
- थोड़ी देर बाद वृक्ष में बनी हुई एक खोखल (खोह) पर उसकी दृष्टि गई।
- समीप जाकर वह उसे देखने लगा, वहां उसे एक ग्रन्थ सुरक्षित रखा हुआ दिखा।
- गोविन्द अनपढ़ था पर ग्रन्थों का सम्मान करना जानता था, अतः उसने साहस पूर्वक पुराने खोखल से वह ग्रन्थ निकाल लिया।
- घर पहुँच एक बड़े आले में साफ वस्त्र बिछाकर उस पर ग्रन्थ रख दिया।
- उस हस्तलिखित ग्रन्थ पर उसे इतनी श्रद्धा हो आई थी कि वह रोज उसकी सविनय पूजा करता और उसके खेतिहर माता-पिता रोज कौतुक पूर्ण ढंग से देखते।
- एक दिन ग्राम में दिगम्बर मुनि पधारे, जो ज्ञानी ध्यानी और अच्छे प्रवक्ता थे।
- डरते-झिझकते हुए गोविन्द उनके समीप पहुँचा और ग्रन्थ प्राप्ति का हाल सुना कर ग्रन्थ उनके समक्ष रख दिया।
- मुनिवर ने ग्रन्थ देखा तो प्रसन्न हो उठे। यह एक धर्म-ग्रन्थ था।
- उनने गोविन्द से कहा-युवक, तूने इस ग्रन्थ की रक्षा कर, श्रुतज्ञान की रक्षा की है। इस कार्य का पुण्य ज्ञानदान के तुल्य है। आशीर्वाद देता हूं-धर्मवृद्धि हो।
- मुनिवर से आशीष प्राप्त करने के बाद, गोविन्द ने उनके मंगल प्रवचन भी ध्यान से सुने।
- बाद में घर वापिस आ गया वह।
- प्रवचनों की प्रेरणा से गोविन्द का सोया ज्ञान जाग गया और उसकी प्रवृत्तियां पहले से अधिक सात्विक और निर्विकार हो गयीं। उसे सभी प्राणियों से मैत्रीभाव हो गया।
- धीरे-धीरे वह वृद्ध हो गया। निर्मल भाव के कारण वह आयु पूर्ण कर सुख से मरण को प्राप्त हुआ।

❀ ग्रन्थ रक्षा के फलस्वरूप मरणोपरान्त पुन उसका जन्म उसी गाव के एक श्रेष्ठि के वहा हुआ ।

❀ उत्तम अवसर एव आत्मा का झुकाव देखते हुए एक दिन उसने एक दिगम्बर मुनि से जैनेश्वरी-दीक्षा ग्रहण कर ली ।

❀ उसका नामकरण किया गया-दिगम्बर मुनि 108 श्री कुन्द कुन्द महाराज ।

❀ वे तीव्र तप और ज्ञानाराधना मे लीन हो गये ।

❀ जब कभी नगरो मे प्रवेश करते तो श्रावक समूह के समक्ष प्रेरणाकारी, ज्ञान-धर्म वर्धक प्रवचन करते ।

❀ कतिपय मुनियो में उनने विसगतिया अनुभूत की, फलत समय देखते हुए उनकी भर्त्सना और निर्भय होकर कहा जिनेन्द्र भगवान के सिद्धान्तो से विमुख रहने वाला नग्न साधु भी दुख उठाता है और उसे समीचीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती । ऐसे साधु जो पाप से मलिन है अपयश के पात्र हैं उन्हें नगा रहने से क्या लाभ ? वे तो वीभत्स हास्य मत्सर और माया के स्रोत हैं ।

❀ कुछ लोभी मोही साधुओ को देखकर उनने कहा-शरीर अथवा द्रव्य से किंचित मात्र लगाव रखने वाला साधु समस्त आगमो का ज्ञाता रहने पर भी, मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता ।

❀ एक बार तीर्थाटन के दौरान गिरनार अचल मे उन्हें कतिपय मिथ्यावादी साधुओ से शास्त्रार्थ करने विवश होना पडा । उनने धर्म के सिद्धान्तों की तर्क पूर्ण व्याख्याए देकर उन्हे चुप कर दिया ।

❀ मिथ्यावादियो ने मिथ्या ज्ञान, मिथ्या धर्म छोड कर कुन्द कुन्द को गुरु स्वीकार कर लिया ।

❀ उनके तप ज्ञान अध्ययन और प्रवचनो के प्रमाणो को देखते हुए उनके वयोवृद्ध गुरु ने उन्हें आचार्य पद प्रदान किया ।

❀ आचार्य कुन्द कुन्द ने दुराग्रही साधुओ की विशद भर्त्सना की, मतभेदियो को व्यवस्था दी, पक्षपातियो का समझाया और अज्ञानियो को मार्ग दिखाया ।

❀ श्रुत ज्ञान विच्छिन्न हो चुका था, धर्म सिद्धान्तो पर विद्वान साधु लेखनी चलाने का साहस नही कर पाते थे, तब कुन्द कुन्द ने स्वत यह कार्य अपने हाथ मे लिया और पचास्तिकाय, समयसार और प्रवचनसार जैसे तत्वप्रधान ग्रन्थों की रचना प्रारभ की एव लेखन की परम्पर डाली ।

❀ वे सम्पूर्ण जैन परम्परा मे अध्यात्म के एक मात्र प्रवक्ता, प्रणेता माने गये और युग प्रतिष्ठापक सन्त कहलाने लगे ।

❀ तत्कालीन विद्वानों ने प्रशंसा करते हुए उन्हें श्रुत के सर्व श्रेष्ठ वक्ता, अंतरिक्ष में चलने वाले, परवादियों का खण्डन करने वाले, अतर्क्य गुणों के समुद्र तक कहा और गौरवानुभूति की।

❀ तब से आज तक शास्त्र पढ़ने के पूर्व मंगलचरण के माध्यम से विद्वानगण भगवान और शास्त्र के साथ साथ आचार्य कुन्द कुन्द की विनय सदा करते हैं। यह श्लोक हर शास्त्र सभा के प्रारंभ मे बोला जाता है—

मंगलम् भगवानवीरो, मंगलं गौतमो गणी ॥
मगलँ कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

❀ विद्वानों ने कुन्द कुन्द के पांच नाम बतलाए हैं। उनका मूल नाम पद्मनन्दि माना जाता है। उनके गाव के नाम को आधार बना कर बाद में उनका नाम कुन्दकुन्द रखा गया। तीसरा नाम कम प्रचलित है—वक्रग्रीव। चौथा नाम ऐलाचार्य और पांचवा गृद्धपिच्छाचार्य है। उनके हर नाम के पीछे एक किंवदन्ति है।

❀ शोधकर्ताओं ने अपने अपने विचार से उनके तीन गुरु बतलाए हैं, श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली, श्री जिनचंद्र एवं श्री कुमारनंदि सिध्दान्त देव। पर एक विद्वान कहते हैं कि कोई नही था उनका गुरु, बल्कि वे स्वतः जगतगुरु के रूप मे माननीय हुए। हम आचार्य भद्रबाहु को उनका गुरु[1] मानें तो उचित होगा।

❀ जैन वांगमय के शोधी विद्वान कहते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने जीवन काल में 84 ग्रन्थ लिखे थे, जिन्हे पाहुड और प्राभृत विशेषणों के साथ प्रस्तुत किया गया था। 84 मे से 43 के नाम एक विद्वान ने खोज लिए हैं; पर उतने ग्रन्थ नहीं मिल सके। वर्तमान में उपलब्ध उनके महान ग्रन्थ ये हैं—समयसार, प्रवचनसार पंचास्तिकाय, नियमसार, षटखण्डागम, दशभक्ति, अष्टपाहुड, रयणसार, बारस अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) और कुरलकाव्य।

❀ आचार्य कुन्द कुन्द द्वारा देय शिक्षा—वे कहते हैं कि आत्मा के साथ दो प्रकार के कर्मों का संबंध है—उनमें एक द्रव्य कर्म है जो पुद्गल निर्मित होने से पौद्गलिक है, दूसरा भाव कर्म है जो जीव के अपने विकारी भाव हैं और जिनमें द्रव्य कर्म निमित्तभूत है। कुन्द कुन्द की दृष्टि मे कर्ता वह है जो स्वयं भीतर बाहर व्याप्त होकर कार्य को करे।

❀ इस तरह आचार्य कुन्द कुन्द काफी समय तक ज्ञान की गंगा बहाते रहे और समय आने पर समाधिपूर्वक मरण स्वीकार कर स्वर्ग गमन कर गये।

❀ ये जैनों के प्रथम आचार्य हैं, इन्हीं के नाम या मूल से जैन मुनियों की आम्नाय चलती है। मुनिगण अपने आपको कुन्दकुन्दाम्नाय से जोड़ने में गौरव मानते हैं। □

1. विद्वानों ने तो भद्रबाहु और कुन्दकुन्द का परम्परा गुरु माना है।—सम्पादक

पांच काव्य विम्ब : कुन्दकुन्द के नाम

☐ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

एक

कुन्दकुन्द
एक लहर है
जो सुप्त-जन-मन को
तरंगित कर
चंचल बना देती है,
सम्प्रेषण और संवेदन की
तीव्रता जगा देती है।

दो

कुन्दकुन्द
एक किरण है
जो तमसिल मनोकारा में
ज्ञान, विश्वास औ' जागरण का
आलोक भर कर
नई स्फूर्ति, नई चेतना
नई ताजगी से पुलका देती है।

तीन

कुन्दकुन्द
एक धर्म ग्रन्थ है
जिसके उपशम और विवेक
अध्याय हैं
जिसमें शांति, समता, निर्लोभता, वैराग्य
ज्ञान, विचार और स्वात्मदर्शन के पृष्ठ
जीवन जगमगाने का संदेश देते हैं ।

चार

कुन्दकुन्द
एक तटबन्ध है
आगम-अर्णव का,
जिसकी सृजनात्मक स्रोतस्विनी
(समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि)
अभेद से भेद की दिशा में
समष्टि के दीवट पर
विश्वमानस को आलोकित करती है ।

पांच

कुन्दकुन्द
एक सूरज है
'समय'-गगन का,
जिसमें सत्य है, शिव और सुन्दर भी
वह जीवन्त है और यथार्थ भी
क्यूंकि
उसमें विद्यमान है प्रकृष्ट प्रकाश ।

मंगल मलयज
394, सर्वोदयनगर,
आगरा रोड़, अलीगढ़-202001
(उत्तर प्रदेश)

राजस्थान और आचार्य कुन्दकुन्द

☐डॉ कस्तुरचन्द कासलीवाल

राजस्थान जैन संस्कृति का प्राचीनतम काल से ही केन्द्र रहा है। यहाँ का पुरातत्व वैभव जितना समृद्ध एवं विशाल है उससे इतिहास के कितने ही नये पृष्ठ खुलने लगते हैं। बिजौलिया के संवत् 1226 के शिलालेख के अनुसार भगवान पार्श्वनाथ पर यही कमठ द्वारा उपसर्ग किया गया था। बडली (उदयपुर) का शिलालेख उस तथ्य की पुष्टि करता है कि भगवान महावीर का उस क्षेत्र मे विहार हुआ था। यही नही जैसलमेर मे भगवान महावीर का समवसरण आया था ऐसा भी उल्लेख 17 वी शताब्दी के जैन कवि बुलाखीचन्द ने किया है। राजस्थान की सीमा पर मथुरा मे अंतिम केवली जम्बूस्वामी का निर्वाण होना, चित्तौड के पहाड पर आचार्य धरसेन के चरणो मे बैठ कर आचार्य भूतबलि पुष्पदन्त द्वारा अध्ययन करना तथा आचार्य वीरसेन द्वारा सिद्धान्त ग्रथो का अध्ययन करना आदि राजस्थान की भूमि पर जैन धर्म एवं संस्कृति के चिरकाल से समृद्ध होने के स्पष्ट प्रमाण हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द का राजस्थान मे विहार हुआ या नही उस सम्बन्ध मे अभी विशेष खोज होना शेष है क्योंकि विदेह क्षेत्र की यात्रा करने वाले आचार्य के कभी राजस्थान की भूमि पर चरण कमल नही गिरें यह बात मानने योग्य नही है। कुछ विद्वानो की तो ऐसी भी धारणा है कि आचार्य कुन्दकुन्द राजस्थान के हाडौती के किसी क्षेत्र से विदेह क्षेत्र मे गये थे। उस सम्बन्ध मे अभी खोज चल रही है। लेकिन इसमे कोई भी सन्देह नही है कि आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनके साहित्य को जितना राजस्थान मे समर्थन एवं लोकप्रियता मिली उतनी देश के अन्य किसी प्रदेश में नही मिल सकी। आचार्य श्री के द्वारा निबद्ध प्रवचनसार, समयसार, पचास्तिकाय नियमसार, षट्पाहुड जैसे ग्रथो पर राजस्थान वासियो ने टीकायें लिखकर उनको जन-जन के लिये स्वाध्याय योग्य बनाया, तथा उन ग्रथो की सैकडो हजारो पाण्डुलिपिया तैयार करवाकर राजस्थान प्रदेश के गाव गाव मे स्वाध्याय के लिये भिजवायी। प. प्रभाचन्द, भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति ने संस्कृत मे समयसार की टीकायें लिखी और उनके स्वाध्याय के लिये समाज का आह्वान किया। पाण्डे राजमल, प. जयचन्द छाबडा ने समयसार पर हिन्दी टीकायें लिखकर उनके महत्व को समाज के सामने रखा।

राजस्थान के शास्त्र भण्डारो मे आचार्य कुन्दकुन्द के सभी ग्रथो की पाण्डुलिपिया मिलती है वह भी अपने आप में एक रेकार्ड है। एक मात्र समयसार की राजस्थान के भण्डारो में 200 से

भी अधिक पाण्डुलिपियां मिलना एक शानदार उपलब्धि एवं कुन्दकुन्द साहित्य को सर्वाधिक लोक प्रियता बतलाने वाला है। यही नही राजस्थान के इन शास्त्र भण्डारों में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों की प्राचीनतम पाण्डुलिपियां भी उपलब्ध होती हैं जो संपादन एवं प्रकाशन के कार्य में बहुत सहायक सिद्ध होती हैं।

राजस्थान में आमेर, नागौर, अजमेर, बागड, चित्तौड़ की भट्टारक गादियों के भट्टारकों में मूर्ति लेखो, ग्रंथ प्रशस्तियों, लेखक प्रशस्तियों एवं अन्य लेखों मे आचार्य कुन्दकुद का सर्वप्रथम नाम लेकर तथा अपने संघ को कुन्दकुन्दाम्नाय का संघ मानकर आचार्य कुन्दकुन्द के प्रति जो श्रद्धा एवं भक्ति के जनमन में भावभरे वे भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। राजस्थान में 1300, 1400 से ही आचार्य कुन्दकुन्द का यशोगान गाया जा रहा है। जब देश मे भट्टारको का बोलबाला था तथा वे ही धार्मिक क्षेत्र में सर्वोपरि थे तब भी इन भट्टारकों ने आचार्य कुन्दकुन्द को अपने लेखों में सर्वोपरि रखा। इसलिये राजस्थान में विगत 800 वर्षों से आचार्य कुन्दकुन्द को भगवान महावीर एवं गौतम गणधर के समान सम्मान पात्र है वह अत्यधिक उल्लेखनीय बात है।

आचार्य एवं भट्टारक पट्टावलियों में आचार्य कुन्दकुन्द को पल्लीवाल जाति का लिखा है। यह भी एक खोज का विषय है क्योंकि अभी तक पल्लीवाल जाति को पाली नगर से निकाला हुआ माना जाता है। पल्लीवाल जाति के अधिकांश श्रावक उत्तर भारत मे ही पाये जाते हैं। अब कुछ विद्वान् मानते हैं कि पल्लव वंश एव पालवंश से पल्लीवाल जाती का सम्बन्ध रहा था। इसमें कितनी सचाई है इस सम्बन्ध मे कुछ नही कहा जा सकता है लेकिन पट्टावलियो में आचार्य कुन्दकुन्द को पल्लीवाल जाति का बतलाना अवश्य ही एक खोज का विषय है।

आचार्य कुन्दकुन्द विदेह गये थे या नही ?

☐ डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कु दकु द का स्थान दिगम्बर जिन आचार्य परम्परा मे सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकु दाचाय की परम्परा का कहलाने मे गौरव का अनुभव करते आ रहे हैं।

आचार्य देवसेन, आचार्य जयसेन, भट्टारक श्रुत सागर सूरि आदि दिग्गज आचार्य एव मनीषियो के उल्लेखो, शिलालेखों तथा सहस्राधिक वर्षों से प्रचलित कथाओ के आधार पर यह कहा जाता रहा है कि आचाय कु दकु द सदेह विदेह गये थे। उन्होने तीर्थ कर सीम धर अरहत परमात्मा के साक्षात् दर्शन किये थे, उन्हें सीमन्धर परमात्मा की दिव्यध्वनि सुनने का अवसर प्राप्त हुआ था।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि आचार्य कु दकु द सदेह विदेह गये थे, उन्होंने सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किए थे, उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण किया था। तो उन्होंने इस घटना का स्वय उल्लेख क्यो नही किया ? यह कोई साधारण बात तो थी नही, जिसकी यों ही उपेक्षा कर दी गयी।

बात इतनी ही नही है उन्होने अपने मगलाचरणों मे भी उन्हें विशेष रूप से कही स्मरण नही किया है। क्या कारण है कि जिन तीर्थ कर अरहत देव के उन्होने साक्षात् दशन किए हों, जिनकी दिव्यध्वनि श्रवण की हो उन अरहत पद मे विराजमान सीमन्धर परमेष्ठी को वे विशेष रूप से नामोल्लेखपूर्वक स्मरण भी न करें।

इसके भी आगे एक बात और भी है कि उन्होंने स्वय को भगवान महावीर और अ तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा से बुद्धिपूवक जोडा है।

प्रमाण रूप मे उनके निम्नांकित कथनो को देखा जा सकता है—

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिद ।[1]

1 समयसार गाथा 1

श्रुत केवलियों द्वारा कहा गया समयसार नामक प्राभृत कहूंगा ।

वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं ।[1]

केवली तथा श्रुतकेवली के द्वारा कथित नियमसार मैं कहूंगा ।

काऊण णमुक्करिं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
दंसणमग्गं पोच्छामि जहाकम्मं समासेण ॥[2]

ऋषभदेव आदि तीर्थंकर एवं वर्द्धमान अन्तिम तीर्थंकर को नमस्कार का यथाक्रम संक्षेप में दर्शनमार्ग को कहूंगा ।

पंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे ।[3]

कषायमाए से रहित आचार्यदेव को वंदना करके….।

वीरं विमालनयणं रत्तुप्पलकोभलसमप्पायं ।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह ॥[4]

विशालहै नयन जिनके एवं रक्त कमल के समान कोमल है चरण जिनके, ऐसे वीर भगवान को मन-वचन-काय से नमस्कार करके शीलगुणों का वर्णन करूंगा ।

पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ।[5]

धर्म तीर्थ के कर्त्ता भगवान वर्द्धमान को नमस्कार करता हूँ ।

उक्त मंगलाचरणों पर ध्यान देने पर एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की वर्तमान चौबीसी के तीर्थंङ्करों का नाम तो लेकर स्मरण किया है, किन्तु जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों के तीर्थङ्करों का नाम लेकर कहीं भी याद नहीं किया है । मात्र प्रवचनसार मे बिना नाम लिए ही मात्र इतना कहा है—

वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ।[6]

मनुष्यक्षेत्र अर्थात् ढाईद्वीप मे विद्यमान अरहंतों को वंदना करता हूं ।

1. नियमसार, गाथा 1
2. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा 1
3. अष्टपाहुड : बोध पाहुड, गाथा 1
4. अष्टपाहुड : शीलपाहुड, गाथा 1
5. प्रवचनसार, गाथा 1
6. प्रवचनसार, गाथा 3

इसी प्रकार प्रतिज्ञावाक्यों में केवली और श्रुतकेवली की वाणी के अनुसार ग्रन्थ लिखने की बात कही है। यहा निश्चित रूप से केवली के रूप मे भगवान महावीर को याद किया है, क्योंकि श्रुतकेवली की बात करके उन्होंने साफ कह दिया है कि श्रुतकेवलियो के माध्यम से प्राप्त केवली भगवान की बात मैं कहूंगा। इसी कारण उन्होने भद्रबाहु श्रुतकेवली को अपना गमक गुरु स्वीकार किया है। समयसार मे तो सिद्धो को नमस्कार कर, मात्र श्रुतकेवली को ही स्मरण किया है, श्रुतकेवली कथित समयप्राभृत को कहने की प्रतिज्ञा की है, केवली की बात ही नही की है, फिर सीमन्धर भगवान की वाणी सुनकर समयसार लिखा है—इस बात को कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की पाचवी गाथा की टीका मे इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है।

उनके मूल कथन का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

"निर्मल विज्ञानघन आत्मा मे अन्तर्निमग्न परमगुरु सर्वज्ञदेव और अपरगुरु गणधरादि से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त उनके प्रसादरूप से दिया गया जो शुद्धात्मतत्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश, उससे मेरे निजवैभव का जन्म हुआ है।"

आगे कहा गया है कि "मैं अपने इस वैभव से आत्मा बताऊंगा।" तात्पर्य यह है कि समयसार का मूलाधार भगवान महावीर, गणधर गौतमस्वामी, आचार्य भद्रबाहु से होती हुई कुन्दकुन्द के साक्षात गुरु तक आई श्रुतपरम्परा से प्राप्त ज्ञान है।

पडित जयचदजी छावडा ने अपनी प्रस्तावना मे स्पष्ट लिखा है—

"भद्रबाहुस्वामी की परम्परा मे ही दूसरे गुणधर नामक मुनि हुए। उनको ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार मे तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। उनसे उस प्राभृत को नागहस्ती नामक मुनि ने पढा। उन दोनो मुनियो से यति नामक मुनि ने पढकर उसकी चूर्णिका रूप मे छह हजार सूत्रों के शास्त्र की रचना की, जिसकी टीका समुद्धरण नामक मुनि ने बारह हजार सूत्र प्रमाण की। इस प्रकार आचार्यों की परम्परा से कुन्दकुन्द मुनि उन शास्त्रो के ज्ञाता हुए।"

इस तरह इस द्वितीय सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार इस द्वितीय सिद्धान्त की परम्परा में शुद्ध नय का उपदेश करने वाले पचास्तिकाय, प्रवचनसार समयसार, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्र प्राकृत भाषामय गाथाबद्ध है, उसकी आत्मख्याति नामक सस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य ने की है।

उक्त सम्पूर्ण कथनो से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य कुन्दकुन्द को भरतक्षेत्र में विद्यमान भगवान महावीर की आचार्य परम्परा से जुडना ही अभीष्ट है। वे अपनी बात को

प्रामाणिकता के लिए भगवान महावीर और अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की आचार्य परम्परा पर ही निर्भर हैं।

यह सब स्पष्ट हो जाने पर भी यह प्रश्न चित्त को कुरेदता ही रहता है कि जब उन्होंने सर्वज्ञदेव सीमन्धर भगवान के साक्षात् दर्शन किए थे, उनका सदुपदेश भी सुना था तो फिर वे स्वयं को उससे क्यों नहीं जोड़ते ? न भी जोड़े तो भी उनका उल्लेख तो किया ही जा सकता था, उनका नामोल्लेखपूर्वक स्मरण तो किया ही जा सकता था ?

उक्त शंकाओं के समाधान के लिए हमें थोड़ा गहराई में जाना होगा। आचार्य कुंदकुंद बहुत ही गम्भीर प्रकृति के निरभिमानी जिम्मेदार आचार्य थे। वे अपनी जिम्मेदारी को भलीभांति समझते थे, अतः अपने थोड़े से यशलाभ के लिए वे कोई ऐसा काम नहीं करना चाहते थे, जिससे सम्पूर्ण आचार्यपरम्परा व दिगम्बर दर्शन प्रभावित हो। यदि वे ऐसा कहते कि मेरी बात इसलिए प्रामाणिक है, क्योंकि मैंने सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किए हैं, उनकी दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया है तो उन आचार्यों की प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती, जिनको सीमन्धर परमात्मा के दर्शनों का लाभ नहीं मिला था या जिन्होंने सीमन्धर परमात्मा से साक्षात् तत्व श्रवण नहीं किया था, जो किसी भी रूप में ठीक नहीं होता।

दूसरी बात यह भी तो है कि विदेहक्षेत्र तो वे मुनि होने के बाद गए थे। वस्तुस्वरूप का सच्चा परिज्ञान तो उन्हें पहले ही हो चुका था। यह भी हो सकता है कि उन्होंने अपने कुछ ग्रंथों की रचना पहले ही कर ली हो। पहले निर्मित ग्रंथों में तो उल्लेख का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, पर यदि बाद के ग्रंथों में उल्लेख करते तो पहले के ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिन्ह लग जाता। अतः उन्होंने जानबूझकर स्वयं को भगवान महावीर और भद्रबाहु श्रुतकेवली की आचार्यपरम्परा से जोड़ा।

यदि वे अपने को सीमन्धर तीर्थङ्कर अरहंत की परम्परा से जोड़ते या जुड़ जाते तो दिगम्बर धर्म को अत्यधिक हानि उठानी पड़ती।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान महावीर साधु अवस्था में सम्पूर्णतः नग्न थे। अतः हमारे श्वेताम्बर भाई अपने को महावीर की अचेलक परम्परा से न जोड़कर पार्श्वनाथ की सचेलक परम्परा से जोड़ते हैं। इस प्रकार वे अपने को दिगम्बर से प्राचीन सिद्ध करना चाहते हैं। वस्तुतः तो पार्श्वनाथ भी अचेलक ही थे। पार्श्वनाथ ही क्या, सभी तीर्थंकर अचेलक ही होते हैं, पर स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में वे उन्हें अपने मत की पुष्टि के लिए सचेलक मान लेते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं को सीमन्धर परमात्मा से जोड़ते तो दिगम्बरों को [illegible] की [illegible] [illegible] सकता, क्योंकि [illegible] विदेहक्षेत्र में [illegible] हैं। इस प्रकार

चौवीस तीर्थंकरो की परम्परा के उत्तराधिकार का दावा श्वेताम्बर भाई करने लगते। अत दिगम्बर परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द का बारबार यह घोषित करना कि मैं और मेरे ग्रन्थ भगवान महावीर, गौतम गणधर और श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा के ही हैं, अत्यन्त आवश्यक था।

किसी भी रूप मे दिगम्बरो का सम्बन्ध भरतक्षेत्र से टूटकर विदेहक्षेत्र से न जुड जावे, हो सकता है इस बात को ध्यान मे रखकर ही कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र से गमन की घटना का कहीं जिक्र तक न किया हो।

दूसरे, यह उनकी विशुद्ध व्यक्तिगत उपलब्धि थी। व्यक्तिगत उपलब्धियो का सामाजिक उपयोग न तो उचित ही है और न आवश्यक ही। अत वे उसका उल्लेख करके उसे भुनाना नही चाहते थे। विदेहगमन की घोषणा के आधार पर वे अपने को महान साबित नहीं करना चाहते थे। उनकी महानता उनके ज्ञान श्रद्धान एव आचरण के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। यह भी एक कारण रहा है कि उन्होने विदेहगमन की चर्चा तक नही की।

तत्कालीन समय में लोक में तो यह बात प्रसिद्ध थी ही, यदि वे भी इसका जरासा भी उल्लेख कर देते तो यह बात तूल पकड लेती और इसके अधिक प्रचारप्रसार से लाभ के बदले हानि अधिक होती। हर चमत्कारिक घटनाओ के साथ ऐसा ही होता है। अत. उनसे सम्बन्धित व्यक्तियो का यह कर्तव्य है कि वे इनके अनावश्यक प्रसारप्रचार मे लिप्त न हों, जहा तक सभव हो, उनके प्रचार प्रसार पर रोक लगावें, अन्यथा उनसे लाभ के स्थान पर हानि होने की सम्भावना अधिक रहती है।

कल्पना कीजिए कि आचार्यदेव कहते कि मैं विदेह होकर आया हू, सीमन्धर परमात्मा के दर्शन करके आया हू, उनकी दिव्यध्वनि सुनकर आया हू, इस पर यदि कोई यह कह देता कि क्या प्रमाण है इस बात का, तो क्या होता ? क्या आचार्यदेव उसके प्रमाण पेश करते फिरते ? यह स्थिति कोई अच्छी तो नही होती।

अत प्रौढ विवेक के धनी आचार्यदेव ने विदेहगमन की चर्चा न करके अच्छा ही किया है। पर उनके चर्चा न करने से उक्त घटना को अप्रामाणिक कहना देवसेनाचार्य एव जयसेनाचार्य जसे दिग्गज आचार्यों पर अविश्वास व्यक्त करने के अतिरिक्त और क्या है ? उपलब्ध शिलालेखो एव उक्त आचार्यों के कथनों के आधार पर यह तो सहज सिद्ध ही है कि वे सदेह गये थे और उन्होने सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किये थे उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण किया था।

श्री टोडरमल स्मारक भवन,
ए 4 बापूनगर, जयपुर

आचार्य कुन्दकुन्द का तत्त्वार्थसूत्र पर प्रभाव

—डॉ० शीतल चन्द्र जैन
प्राचार्य
श्री दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज
मनिहारों का रास्ता जयपुर

तत्त्वार्थ सूत्र जैन धर्म–दर्शन का महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध ग्रंथ है जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में थोडे पाठ भेद के साथ समान रूप से माना जाता है। इसके कर्त्ता उमास्वामी अपने समय के महान् विद्वान आचार्य हो गये हैं जिन्हे कुछ शिलालेखों में "तात्कालिकाशेष-पदार्थवेदी" और श्रुतकेवलिदेशीय तक लिखा है। ये उमास्वाति और गृहपिच्छाचार्य नामो से भी प्रसिद्ध हैं। जीवस्थानकालानुगम अनुयोगद्वार मे नोआगम द्रव्यकाल के स्वरूप को प्रकट करते हुए धवलाकार ने 'वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य" इस सूत्र को गृद्धपिच्छाचार्य विरचित तत्त्वार्थसूत्र के नाम से उद्धृत किया है।

श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखों में उमास्वाति नाम के साथ गृद्धपिच्छाचार्य नाम का भी उल्लेख है। उन शिलालेखो मे उमास्वामी को कुन्दकुन्दाचार्य वंशज बताया है और नन्दिसंघ की पट्टावलि में उन्हें कुन्दकुन्द का पट्टशिष्य लिखा है।

तत्त्वार्थसूत्र की रचना पर मूल प्रभाव किस आचार्य का रहा है, इस दृष्टि से विचार करने पर आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत ग्रंथों का एवं भूतबल्यादि आचार्य प्रणीत षट्खण्डागम का प्रभाव स्पष्ट है। यह प्रभाव तत्त्वार्थसूत्र में अलग अलग सूत्रों पर कहीं शब्दतः और कहीं अर्थतः दिखायी पड़ता है। प्रस्तुत निबन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों का ही विश्लेषण करेंगे।

आचार्य कुन्दकुन्द के जो प्रमुख ग्रंथ हैं उनमें पंचास्तिकाय का प्रभाव सबसे ज्यादा दिखाई पड़ता है। इसके बाद क्रमशः प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, चारित्रपाहुड, दर्शनपाहुड एवं भावपाहुड आदि का है।

तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों पर जिन जिन ग्रंथों के प्रभाव है उनका सांगोपांग विवेचन के लिये विस्तृत निबन्ध अपेक्षित है। यहां पर संक्षेप में विचार किया गया है।

(1) आ कुन्दकुन्द प्रणीत ग्रन्थों के प्रारम्भ मे जो मगलाचरण किये गये हैं उनमे प्राय गुणो को नमस्कार किया गया है। जैसे—पचास्तिकाय के मगलाचरण मे पूजातिशय, ज्ञानातिशय, वचनातिशय, घातिकर्मापायातिशय विशेषणो से युक्त 'ग्रतातीदगुणाण णमो" कहा है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी कुन्द कुन्द की परम्परा के प्रभाव से तत्त्वाथमूत्र के प्रारम्भ मे "तदगुणलब्धये" के रूप मे मगलाचरण किया है, जिसको उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने अपनाया है।

(2) तत्त्वाथसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम मूत्र पर विचार करने पर स्पष्ट है कि पचास्तिकाय की 164 वी गाथा का शब्दश प्रभाव है। दसण णाण चरित्ताणि मोक्खमग्गो —। प 164/सम्यग्दशन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।

(3) इसी प्रकार सम्यग्दशन के स्वरूप पर विचार करते हैं तो आ कुन्दकुन्द ने 'जीवादी-सद्दहण सम्मत्त", जीवादि तत्त्वो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा है। इसमे आचार्य ने 'जीवादी' पद ग्रहण करके 'जीवाजीवादि" सात तत्त्वो का भी ग्रहण किया है। उन्होने उमास्वामी आचाय से भी सक्षेप मे सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा जबकि आचाय उमास्वामी को एक सूत्र सम्यग्दर्शन की परिभाषा को वनाना पडा तथा आगे तत्त्वो को स्पष्ट करने के लिये 'जीवाजीवाश्रवबन्धसवर — —" सूत्र की रचना पृथक करनी पडी। इससे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द आचाय ने 'जीवादी सद्दहण सम्मत्त" इतने सक्षेप मे ही तत्त्वो का तथा सम्यग्दर्शनों का स्वरूप कह दिया जवकि उमास्वामी को दो सूत्र वनाने पडे। अत आ कुन्दकुन्द की अपेक्षा उमास्वामी के तत्त्वाथसूत्र मे अधिक विस्तार क्रम है।

(4) ज्ञान की चर्चा के विषय मे विचार करने पर निम्न तथ्य सामने आते हैं—

(i) आ कुन्दकुन्द ने निम्नलिखित गाथा मे—'आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पन्चभेयाणि'। ऐसा कहकर 'आभिणि' शब्द से ही 'मति ज्ञान के बोध के साथ उसके पर्यायभूत शब्द का भी ज्ञान करा दिया जबकि उमास्वामी को ज्ञानो के भेद, और मतिज्ञान के पर्यायवाची बताने के लिये दो सूत्र पृथक करने पडे।

(ii) मतिज्ञान का कुन्दकुन्द ने पर्यायभूत शब्द आभिनिबोध कहा जबकि उमास्वामी ने कुन्दकुन्द के 'आभिनिबोध सामान्य शब्द के साथ सज्ञा चिन्ता, स्मृति विशेष पर्यायभूत शब्दो को जोडा है।

(iii) जैसाकि आदरणीय दलसुख भाई मालवणिया ने न्यायावतार वार्तिक की प्रस्तावना मे लिखा है कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थो मे स्वतन्त्रभाव से प्रमाण की चर्चा तो नही की है और न उमास्वामी की तरह शब्दत पाच ज्ञानो को प्रमाणसज्ञा ही दी है, वस्तुत सत्य है, परन्तु यह भी तथ्य है कि कुन्दकुन्द की ज्ञानचर्चा का दोहन कर उमास्वामी ने विस्तार से ज्ञान के भेद, स्वरूप एव उनके विषय आदि सम्बन्धी अनेक सूत्रो की रचना की। और, स्वतन्त्र जैन दृष्टि से प्रमाण की चर्चा के साथ दसवें अध्याय मे तो हेतु उदाहरण का प्रयोग करके न्याय के बीजो का भी रोपण किया है। अत स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द की अपेक्षा उमास्वामी ने प्रमाण, नय के साथ हेतु उदाहरण आदि का प्रयोग करके उत्तरवर्त्ती आचार्यो के लिये न्याय का मार्ग प्रशस्त किया।

(5) द्रव्य के लक्षण को आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में जैसा कहा वैसा ही तत्त्वार्थसूत्रकार ने शब्दतः लिया है—

दव्वं सल्लक्खणियं । पंचा, 10/
सद्द्रव्य लक्षणम् । त.,5/29/

उप्पाद व्यय धुवत्त संजुत्तं । पंचा..10/
उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत् । त. 5/30

गुणपज्जया सयं । पंचा.,10/
गुणपर्ययवद्द्रव्यम् । त., 5/38/

(6) आचार्य कुन्दकुन्द ने बन्ध के हेतुओं की चर्चा करते हुये चार ही बन्ध के हेतु स्वीकार किये जबकि उमास्वामी में बन्ध के हेतुओं की संख्या पांच की प्राप्त होती है। सर्वप्रथम एक परम्परा बन्ध के हेतुओं की कषाय योग के रूप में प्राप्त है, दूसरी परम्परा कषाय योग, मिथ्यात्व अविरति की मिलती है। उमास्वामी ने कुन्दकुन्द की परम्परा में विस्तार कर प्रमाद को जोड़कर मिथ्यात्व, अविरति, प्रकाद, कषाय और योग इन पांचों को बन्ध का हेतु स्वीकार किया। कुन्दकुन्द के अनुसार—

सामण्ण पच्चयाखलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य बोद्धवा ॥
समय. 109

मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय योग बन्ध हेतवः ।
त. 7, I

(7) दूसरी प्रकार पुद्गल के लक्षण में भी शब्दतः साम्य है—
फासो रसोय गन्धो वण्णो सद्दो य पुग्गला ।
प्रव./1, 56
स्पर्शरस गंधवर्णवन्तः पुद्गलाः । त. 23/

इसी प्रकार कुछ सूत्रों के उदाहरण—गाथाओं की तुलना के साथ दृष्टव्य हैं जो कुन्दकुन्द की ग्रन्थों से सूत्रकार ने स्पष्टतया दोहन कर अक्षरशः लिये हैं—

(8) जीवो उवओग लक्खणो......./समयसार गा.24
उपयोगो लक्षणम्— — ...—तत्त्वार्थसू/2/8

(9) देवा चउण्णिकाया......... /पंचा./118/
देवाश्चतुर्णिकायाः तत्त्वार्थ 14/1/

(10) [illegible] । नियम. 1
अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः 5/1/

---

(11) सखेज्जासखेज्जाणतपदेसा हवति मुत्तस्स /नियम 35/

सख्येयाऽसख्येयाश्च पुद्गलानाम् /त 5/10/

(12) गमणणिमित्त धम्म ग्रधम्म ठिदि जीवपुग्गलाण च। निय /30/

गति स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार /5/7/

(13) ग्रागासस्सवगाहो – /प्रवचनसार/2/41/

ग्राकाशस्यावगाह ॥ त /8

(14) सुण्णायारनिवासो विमोचितावास ज परोघ च। च पा /34

एसणसुद्धिसउत्त साहम्मीसविसवादो ॥

शून्यागार विमोचितावास परोपरोधाकरण भैक्ष्यशुद्धि सद्धर्माविसवादा पञ्च ।

(15) ग्रासवणिरोहो (सवरो) /समयसार/166

ग्राश्रवनिरोध सवर /त 9,/1

स्पष्ट किया है—

तपसा निजरा च/3/

(16) कम्म विमुक्को ग्रप्पा गच्छइ लोयग्ग पज्जत । निय /82

तदनतरमूर्ध्वं गच्छत्यालोका तात् /10,5/

(17) धम्मत्थिकायभावो तत्तो परदो ण गच्छति। निय /183

धर्मास्तिकायाभावात् । त 8/

उक्त ग्रालेख से स्पष्ट है कि ग्राचार्य कुदकुद का उमास्वामी के तत्त्वार्थ सूत्र पर शब्दतः ग्रर्थश एव विस्तार क्रम से स्पष्ट रूप से प्रभाव है।



आचार्य कुन्दकुन्द : मोक्ष और मोक्षार्थी

☐ डा० राजेन्द्रकुमार बंसल

आचार्य कुन्द-कुन्द : व्यक्तित्व-कर्तृत्व :

वीतराग विज्ञान की साधना एवं उपलब्धि के क्षेत्र मे आचार्य कुन्द-कुन्द देव का महत्वपूर्ण स्थान है। श्रमण संस्कृति के भगवान महावीर एवं उनके पट्ट शिष्य इन्द्रभूति गौतम के पश्चात् आचार्य कुन्द-कुन्द देव ही एकमात्र ऐसे आचार्य हैं जो न केवल भावलिंगी आदर्श साधु किन्तु कलि-काल सर्वज्ञ के रूप मे मान्य किये गये हैं। कुन्द-कुन्द का काल ईसा की पहली शताब्दी माना गया है। वे आत्मज्ञानी, उग्र-तपस्वी, साहित्यिक एवं उच्च कोटि के तत्त्व मर्मज्ञ थे। उन्होंने आत्मानुभव कर आगम एवं अध्यात्म के 84 पाहुड लिखे; जिसमें 12 पाहुड उपलब्ध हैं, इनके अलावा समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय आदि स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की, जो उनकी आत्मप्रसिद्धि एवं अध्यात्म साहित्य साधना के श्रेष्ठ उपहार हैं। कुन्द-कुन्द देव ने षट्खंडागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म टीका भी लिखी थी, जो अनुपलब्ध है।

आचार्य कुन्द-कुन्द चारण ऋद्धिधारी थे। उन्हें जमीन से 4 अंगुल ऊपर चलने की सिद्धि प्राप्त थी; जिसके कारण वे आकाशगमन कर विदेह क्षेत्र जाकर भगवान सीमंधर स्वामी का दर्शन एवं आत्मकल्याण परक दिव्य वाणी सुन सकें और उसे अनुभूत कर वीतरागता का सच्चा मार्ग लिपिबद्ध कर सकें।

सच्चा सुख

सच्चा सुख क्या है? मोक्ष क्या है? और कैसे उपलब्ध होता है? आदि का सैद्धान्तिक एवं आध्यात्मिक विवेचन उनकी रचनाओं की प्रतिपाद्य विषय वस्तु है। उनके अनुसार मोक्ष रूप सच्चा सुख वीतरागता से ही प्राप्त हो सकता है, जिसका लक्ष्य आत्मा की साधना द्वारा उसे सहज स्वरूप अर्थात् आत्मदर्शन में स्थापित करना है। जिन शासन में सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा तप इन चारों के समायोग से ही मोक्ष होना कहा है जो निर्ग्रन्थलिंगधारी से ही सम्भव है। यही कारण है कि कुन्द-कुन्द ने अपनी रचनाओं में मुनियों को अपना भाव में निर्मल सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप-धर्म, पुरुषार्थ में निरत रहने तथा मोह-राग-द्वेष को परित्याग कर आत्मरमण की प्रेरणा दी है।

आत्मा का स्वरूप और भेद-विज्ञान

समयसार ग्रंथ मे आचार्य कुन्द-कुन्द ने जीवादि तत्वो, कर्ता कर्म, पाप-पुण्य एव विकार विभाव आदि का सूक्ष्म विश्लेषण कर भेदविज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप दर्शाया है। उनके अनुसार निश्चय से आत्मा एक है, शुद्ध है, ज्ञान-दर्शनमय है, अरूपी है और पर पदार्थों से उसका किंचित् भी सम्बन्ध नही है। प्रवचनसार मे भी कुन्द-कुन्द ने आत्मा को ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ, ध्रुव, अचल निरालम्ब एव शुद्ध घोषित किया।

अज्ञान के कारण अनादिकाल से आत्मा ने अपने स्वरूप को विस्मृत कर पर पदार्थों मे अपना अवध सम्बन्ध जोड रखा है और विकार-विभाव परिणामो को ही अपना स्वभाव मान लिया है जिसके कारण यह उत्तम सौख्य को प्राप्त नही कर सका। विभाव को स्वभाव मानना एव राग-द्वेष मे प्रवृत्त रहना ही दुःख का कारण है। भेदविज्ञान द्वारा आत्म श्रद्धान पूर्वक राग-द्वेष से निवृत्ति एव वीतरागता की प्राप्ति से अतीन्द्रिय आनद प्राप्त होता है। इसी कारण जैन दर्शन मे वीतरागता को पूज्य, महिमा-मण्डित एव उपादेय माना है।

भाव अनुसार फल

आचार्य कुन्द-कुन्द ने भाव पाहुड मे कहा कि भाव के अनुसार ही क्रिया और तदनुसार उसका फल मिलता है। भाव वस्तु का स्वभावगत परिणाम होता है। चैतन्य आत्मा का परिणाम ज्ञान दर्शन है, यही उसका भाव है। भाव तीन प्रकार के होते हैं। पहला शुभ भाव, दूसरा अशुभ भाव और तीसरा शुद्ध भाव। इनमे शुभ-अशुभ भाव, पुण्य पाप रूप, धर्म एव आर्त-रौद्र ध्यान के प्रतिफल होकर ससार का कारण है जबकि शुद्ध भाव परम परिणामिक महासत्ता के तद्रूप होने के कारण अनत अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख एव आनन्द का कारण है। इस प्रकार धर्म की क्रिया या धर्म की शुरूआत भाव परिवर्तन से ही होती है। भाव विहीन व्रत-क्रिया एव नग्नत्व अकार्यकारी एव व्यर्थ होता है। सद्दृष्टिपूर्वक आत्मा को राग-द्वेषात्मक विकारी परिणिति को त्यागकर अपने ज्ञान दर्शन रूप शुद्ध भाव मे रमना-जमना एव उससे सतत् एकत्व स्थापित करना ही शुद्ध भाव की परिणिति या शुद्धोपयोग है जिससे शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। शुद्धात्मा शिव, ईश्वर, सर्वज्ञ, अर्हत, परमसत्ता, भगवान या परमात्मा के नाम से पुकारी जाती है।

जिनेश्वर के सदेह प्रतिनिधि मुनि

आचार्य कुन्द कुन्द देव के अनुसार जैन दर्शन म तीन चिन्ह (वेष) मान्य है उनमे सर्वश्रेष्ठ लिंग नग्न दिगम्बर मुनि का है, दूसरा ग्यारह प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक एव तीसरा पद आर्यिका का है। इनमे मुनिपद जिनेन्द्र देव का एकमात्र यथाजात निग्रन्थ चिन्ह है। ऐसे चिन्ह का धारक पुरुष पूज्यनीय, आगमचक्षु, मोक्षमार्ग के जीवत प्रतीक एव जिनेश्वर का सदेह प्रतिनिधि कहलाता है।

ोधि पाहुड़ में निर्दोष निर्ग्रन्थ मुनि को आयतन, चैत्यग्रह, सदेह जिन-प्रतिमा, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ान, तीर्थ, देव, अरहत एवं प्रव्रज्या आदि से निरुपित कर महिमामंडित किया है ।

धर्म का मूल : सम्यकत्व :

आचार्य कुन्द-कुन्द ने सम्यकत्व अर्थात् आत्मदर्शन को धर्म का मूल एवं मोक्ष महल का प्रथम सोपान घोषित किया है । उनके अनुसार दर्शन से भ्रष्ट पुरुष को कोटि वर्ष तक तप करने पर भी निर्वाण या सिद्धि प्राप्त नहीं होतीं । दर्शन-ज्ञान एवं चारित्र से भ्रष्ट पुरुष मोक्ष मार्ग में महाभ्रष्ट एवं पातकी होता है जो दूसरों को भी भ्रष्ट करता है । सम्यक्त्व विहीन अज्ञानी व्यक्ति जीवित शव के समान है तथा सम्यक्त्वविहीन जिन चिन्हधारी मुनि अवंदनीय होते है । उनके अनुसार अज्ञानी तीव्रतप के द्वारा बहुत भवो में जितने कर्म क्षय करता है, ज्ञानी मुनि उतने कर्मों का क्षय गुप्ति सहित अंतर मुहुर्त मे कर देता है ।

आचार्य कुन्द-कुन्द के अनुसार प्रत्येक मोक्षार्थी को चाहे वह मुनि-चिन्ह का धारक हो या श्रावक, "अप्पाण हवई सम्मत" अर्थात् आत्म श्रद्धान रूप निश्चय सम्यक्त्व होना आवश्यक है । इस प्रकार मोक्ष मार्ग की शुरुआत की पहली शर्त आत्म श्रद्धान या सम्यक्त्व है । ज्ञानवर्णादिक द्रव्य-कर्म मनोविकार रूप भाव-कर्म, तथा कर्मोदय एव कर्मबंध में सहायक नो-कर्म से भिन्न सर्वपक्षातीत आत्मा के ज्ञान-दर्शन भाव में रत होकर यथार्थ रूप का श्रद्धान करना ही सम्यक दर्शन है । उस आत्मा का जानना सम्यक ज्ञान है और उस आत्मा से रमन करके राग, द्वेष का परिहार करना सम्यक चारित्र है । व्यवहार दृष्टि से सच्चे-देव-शास्त्र–गुरु, छह-द्रव्य, सात-तत्व, नौ-पदार्थों का श्रद्धान पूर्वक तत्व रुचि सम्यक्त्व है, तत्व का ग्रहण सम्यक ज्ञान है एवं राग-द्वेष क्रिया की निवृत्ति चारित्र है ।

निश्चय चारित्र ही धर्म :

आचार्य कुन्द-कुन्द के प्रवचनसार मे "चारित्त खलु धम्मो" कहकर निश्चय से चारित्र को धर्म माना है । यह चारित्र मोह-क्षोभ (राग-द्वेषादि) विकारी परिणामो से रहित आत्म-स्वरूप में रमणता से उद्भूत साम्य शांत-भाव है जो स्वयं धर्मस्वरूप है । उन्होंने चारित्र पाहुड में भाव-शुद्धि एवं आत्मविकास की दृष्टि से चारित्र के दो भेद किये है—सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र । धर्म का मूल होने के कारण सम्यक्त्वाचरण चारित्र मुनि-श्रावक सभी मोक्षार्थियो को होना है जबकि संयमाचरण चारित्र वीतरागता के अंगो की न्यूनाधिकतानुसार सागार एवं अनागार दो प्रकार का होता है ।

मोक्ष पथ के पथिक: श्रावक :

इनमें सागार संयमाचरण चारित्र श्रावकों का होता है । आवश्यक संक्षेप रूप से सम्यक्त्व के साथ श्रम एवं आठ मूल गुण सहित पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत रूप बारह व्रतों एवं

छह आवश्यक कार्यों के धारी होते हैं। वे हिंसा रहित धम, अठारह दोष रहित देव एव निग्र"थ गुरु के प्रति श्रद्धावान होकर जिन देव द्वारा उपदेशित धम का पालन करते हैं। वे मद्य-मास-मधु, पाच उदम्बर फल, सप्त व्यसन, एव अन्याय-अनीति अनाचार के त्यागी होकर ज्ञानदशन रूप आत्मा के चिंतन एव अनुभव मे प्रयासरत होकर भावशुद्धि के लिए बारह भावनायें भाते हैं। इस प्रकार फलित रूप से आत्म साधक श्रावकों की बाह्य परिणति प्रशम-सवेग अनुकम्पा एव आस्तिक्य सहज-सरस एव धम ध्यान मय होती है। वे निजी जीवन मे आग्रह-विग्रह से दूर, मृदुभावी, स्वावलम्बी, स्वाभिमानी सदाचारी एव जिनेन्द्र देव के गुणो के उपासक होते हैं तथा सामाजिक दृष्टि से समभावी, सहिष्णु, न्याय नियम प्रिय एव धमरक्षक होते हैं।

मोक्ष मार्ग के पथिक मुनि

अनागार सयमाचरण चारित्र मुनि धारण करते हैं। पाच इन्द्रिय विजय, पच्चीस क्रिया सहित, पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति रूप अनागार सयमाचरण चारित्र है। अपने ज्ञान दर्शन स्वरूप मे निमग्न रहने वाले मुनि निरन्तर अपनी ज्ञान स्वभावी आत्मा का दशन अनुभव करते रहते हैं। वे प्रमत्त, अप्रमत्त रूप छठे-सातवें गुण स्थानो मे झूलते हुए हर अतरमुहूर्त मे निर्विकल्प आत्मानुभव कर कर्मों की निजरा करते रहते हैं।

आचाय कुन्द-कुन्द ने प्रवचनसार की चरणानुयोग सूचक चूलिका में शुद्धोपयोग रूप मुनि धम को अगीकार करने की विधि सविस्तार समझायी है। उनके अनुसार मुनिधर्म सम्यक् दशन ज्ञानपूर्वक, राग द्वेष रहित चरित्र धम की उत्पत्ति हेतु अगीकार किया जाता है जिससे कि मोह-क्षोभ रहित आत्मा के शात परिणामो को प्राप्त किया जा सके। आतरिक परिणामो की निमलता एव विशुद्धि के फलस्वरूप मुनियो के उक्त पाच महाव्रत, पाच समिति, पाच इन्द्रियविजय, छ आवश्यक केशलौंच, गृह, वस्त्र त्याग (दिगम्बरत्व), अस्नान, भूमिशयन अदन्त धावन, खडे खडे भोजन और एक बार आहार इस प्रकार 28 मूलगुणो का निरतिचार पालन सहज रूप से होता रहता है। भाव पाहुड के अनुसार इन मूलगुणो के अतिरिक्त 18000 शीलगुण एव 84 लाख उत्तर-गुणो माला से वे सदैव मडित होते हैं। इन गुणो से युक्त मुनि हर अतर-मुहूत मे अपने ज्ञान-दशन स्वरूप का वेदन कर वीतरागता के अशो म वृद्धि करते है।

प्रथम तो मुनिवर मन, वचन एव काय गुप्ति का पालन करते हुए अपने आत्मस्वरूप मे गुप्त ही रहने का प्रयास करते है और यदि कदाचित ऐसे शक्य, न हो तो वे ईर्या भाषा, ऐषणा, आदान, निक्षेपण एव प्रतिष्ठापन इन पाच समितियो का सावधानीपूवक पालन कर प्रवृत्ति करते है।

ऐसे मुनि आर्त-रौद्र रूप दो ध्यान, माया मिथ्यात्व, निदान-रूप तीन शल्य, कृष्ण-नील कापोत रूप तीन लेश्या,, रस-ऋद्धि सात रूप तीन गौरव, निद्रा-आहार-भयमैथुन रूप चार सज्ञा, क्रोधादि चार कषायें स्त्री राज-चोर-भोजन रूप चार कथा एव हिंसादि पाच पाप से रहित तथा दशन ज्ञान-चारित्र स मडित होकर वर्षा-शीत-उष्ण इन-तीन कालो मे योगी मुनि सवकम रहित शुद्ध

परमात्मा का ध्यान करते है। वे मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय एवं योग इन चार विभागो का निग्रह एवं छह अनायतन का त्रियोग से त्याग करते हुये छह काय के जीवो के प्रति करुणा भाव धारण करते है। मुनि छह प्रकार के बाह्य एवं छह प्रकार के अंतरंग तप से पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा कर वीतरागता के गुणों में वृद्धि करते हुये उत्तम क्षमादि दस धर्मो को साधते है। वे बाइस परिषहो को सहन करते हुये, सोलहकारण भावना, बारह अनुप्रेक्षा, पाच-महाव्रतों की पच्चीस भावना भाते रहते है तथा भाव शुद्धि के लिये नौ-पदार्थ सात-तत्व, चौदह-जीव समास, गुणस्थान, आदि का चिंतन करते है। वे सभी प्रकार के अब्रम्ह को छोडकर नौ प्रकार से ब्रम्हचर्य का पालन करते है।

द्रव्यलिंगी भ्रष्ट मुनि :

आचार्य कुन्द-कुन्द के साहित्य से यह लगता है कि उनके काल मे भावलिंगी मुनि के साथ साथ द्रव्यलिंगी मुनि भी विद्यमान थे; जो दर्शन-ज्ञान-चरित्र से विमुख होकर संसार कार्यों में अनुरक्त थे। ऐसे द्रव्यलिंगी मुनियो का वर्णन कुन्द-कुन्द ने लिंग पाहुड मे कर उन्हे सावधान करते हुये कहा कि जो पुरुष यथाजात दिगम्बर जिनलिंग धारण कर परिग्रह धारणा करता है, नृत्य करता है, गाता-बजाता है, इच्छावान है, आर्त ध्यान निरंतर ध्याता है, अभिमानी होकर कलह वाद-विवाद एव द्यूत क्रीडा से निमग्न रहता है, अब्रम्ह सेवन करता है, स्त्रियों के प्रति आसक्त रहता है, परिग्रह कुटुम्ब आदि विषयो मे लीन रहता है, विवाह, कृषि कार्य, वाणिज्य-व्यापार रूप गृहस्थों का कार्य करता है, युद्ध-विवाद करता है, आहार एवं रस के प्रति आसक्त होता है और उस निमित्त कलह करता है, कामवासना से पीडित होता है, ईर्ष्या करता है, दान लेता है, पर निंदा करता है, सावधानीपूर्वक आहार-विहार न कर दौडता चलता है, दीक्षारहित गृहस्थों से स्नेह रखता है, मुनियों की क्रिया एव गुरुओ के विनय से रहित होता है, वह मुनि बहुत से शास्त्रो का ज्ञाता होकर भी तिर्यंचयोनि-पशु समान है। वस्तुतः ऐसे मुनि भांड समान नट-श्रमण होते हैं।

भाव शुद्धि की उपयोगिता :

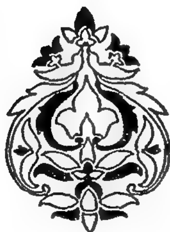
निर्ग्रन्थ लिंग लोक परिहास का कारण न बने, इस कारण कुन्द-कुन्द ने भाव पाहुड की 73वीं गाथा मे द्रव्य रूप मुनिलिंग धारण करने के पूर्व मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर, भाव से अंतरंग नग्न होने एवं शुद्धात्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण एक रूप करने की जिन आज्ञा कहलाते हैं। क्योंकि जो भाव से शुद्ध है वही स्वर्ग-मोक्ष के पात्र है, जो भाव से मलिन है वह निर्ग्रन्थ मुनि भी [illegible] जाता है। उदाहरणस्वरूप बाहुबलि भी निर्ग्रन्थ होने पर भी मुक्ति [illegible] किन्तु मधुपिंगल मुनि भी निदान के कारण भाव बिगड जाने से मुक्ति नही हो सकी। इसी प्रकार दीपायन मुनि भी भाव शुद्धि के अभाव से मुक्त नहीं हो सके। इन सबके विपरीत शिवभूति नामक मुनिराज को जैसे ही तुष-माष भिन्न जैसी आत्मा-शरीर की भेदविज्ञान पूर्वक भावशुद्धि हुई, वे अपनी आत्मा में लीन हो गये और केवलज्ञान कर मुक्ति को प्राप्त हुये। इससे स्पष्ट है कि मोक्ष मार्ग में भाव शुद्धि अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। अतः प्रत्येक साधर्मी को चाहिये कि वह निरंतर शुद्ध आत्मा की भावना करे आत्मा में लीन हो तथा [illegible]।

मोक्षमार्ग त्रिरत्नरूप

समयसार के उपसहार स्वरूप अन्तिम गाथाओ मे कुन्द-कुन्द कहते है कि मोक्ष मार्ग मुनि-ग्रहस्थ रूप न होकर दर्शन-ज्ञान, चरित्र अर्थात त्रिरत्न रूप है। अत सागार-अनागार लिगो के ममत्व को छोडकर इसी मे अपनी आत्मा को लगा, उसी का ध्यान कर, अनुभव कर और पर द्रव्यो मे विरत होकर अपने स्वरूप मे विहार कर। कुन्द कुन्द के अनुसार जो अध्यात्म एव मोक्ष के इस रहस्य को नही जानकर मुनि या ग्रहस्थ लिंग में ममता करता है, वह शुद्धात्मा स्वरूप समयसार को न तो पहिचानता है और न ही उत्तम सुख को प्राप्त कर पाता है।

अध्यात्म-बैरोमीटर

आचार्य कुन्द कुन्द ने अपनी रचनाओ मे मोक्षार्थी श्रावक एव मुनि का जो स्वरूप एव अतर-बाह्य स्थिति का वर्णन-विश्लेषण किया है वह पठनीय-मननीय है। जो भव्य जीव सच्चे सुख को पाने के लिये रुचिवान हैं उन्हे सब विकल्प त्यागकर इन रचनाओ के हार्द को हृदयगम कर अपनी धर्म प्रवृत्ति करना चाहिये क्योंकि ये रचनायें अध्यात्म-बैरोमीटर है।



समयसार का आध्यात्मिक संदेश और उस संबंधी गाथाओं का व्याकरणिक विश्लेषण

□ डॉ० कमलचन्द सोगाणी
प्रोफेसर दर्शन-शास्त्र
सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर (राजस्थान)

इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि संसार में जीवन का भवन इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति से निर्मित होता है। पंचेन्द्रियों के विषय हमें आकर्षित करते है, हमे उपयोगी लगते हैं और हमारे बीच संघर्ष का भी कारण बन जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जन्म से हम पंचेन्द्रियों के घेरे में ही रहते है। उन्ही के द्वारा हम शिक्षित होते है और परम्पराओं से जुड़ते है। पंचेन्द्रिय-विषयों में आसक्ति से इच्छाएं उत्पन्न होती हैं और उनकी तृप्ति के लिए बुद्धि सक्रिय हो जाती है। इन्द्रियासक्ति, इच्छा और बुद्धिपरक जीवन मानसिक तनाव से ग्रसित रहता है। यह तनाव इन्द्रियादि स्तर पर कभी भी नही मिट सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इनसे परे जाकर जीने की कला समझाई है। तनाव-मुक्तता जीने की कला है। हम आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित समयसार मे से कुछ गाथाएँ प्रस्तुत कर रहे है जो जीने की कला की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर सकेगी। उन गाथाओ का हम हिन्दी अनुवाद और व्याकरणिक विश्लेषण भी दे रहे हैं, जिससे मूलानुगामिता बनी रहे और हम गाथाओं के अर्थ की जांच स्वयं कर सकें।

1. सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंध कहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥4॥

काम-भोग (सांसारिक विषमता) के निरूपण की कथा सब (मनुष्यों) के द्वारा निश्चय ही सुनी हुई (है), जानी हुई (है), (तथा) अनुभव की हुई (है), (किन्तु) केवल समतामयी अद्वितीयता का अनुभव (ही) सुलभ नहीं (हुआ है) ।

2. जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥8॥

जैसे अनार्य (व्यक्ति) अनार्य भाषा के बिना पढने के लिए कभी समर्थ नहीं हुआ है, वैसे ही व्यवहार के बिना परमार्थ (सर्वोच्च सत्य) का कथन सभव नहीं हुआ है।

3 ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥11॥

(जीवन मे महत्वपूर्ण होते हुए भी) व्यवहार (नय) अवास्तविक (है) (और) (अध्यात्म मार्ग) शुद्ध नय ही वास्तविक कहा गया गया (है)। वास्तविकता पर आश्रित जीव ही सम्यग्दृष्टि होता है।

4 सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे ॥12॥

शुद्ध (आत्मा) का निरूपण शुद्ध (नय) (है) (जो) परम स्थिति के देखने वालो द्वारा (ही) समझा जाने योग्य (होता है)। और जो अ-परम स्थिति मे ठहरे हुए (हैं), (वे) ही व्यवहार के द्वारा उपदिष्ट (होते हैं)।

5 जो पस्सदि अप्पाण अबद्धपुट्ठ अणण्णय णियद ।
अविसेसमसजुत्त त सुद्धणय वियाणाहि ॥14॥

जो (नय) आत्मा को स्थायी, अद्वितीय, (कर्मों के) बध से रहित, (रागादि से) न छुआ हुआ, (अतरग) भेद से रहित (तथा) (अन्य से) अमिश्रित देखता है, उसको (तुम) शुद्ध नय जानो।

6 जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिण ति जाणिदु मुयदि ।
तह सव्वे परभावे णादूण विमुञ्चदे णाणी ॥35॥

जैसे कोई भी मनुष्य, यह पर वस्तु (है), इस प्रकार जानकर (उसको) छोड देता है, वैसे ही ज्ञानी (मनुष्य) सभी पर भावो को समझकर (उनको) त्याग देता है।

7 अहमेक्को खलु सुद्धो दसणणाणमइओ सयारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्ण परमाणुमेत्त पि ॥38॥

मैं अद्वितीय (हू), निश्चय ही शुद्ध (हू), दर्शन-ज्ञानमय (हू), सदा अमूर्तिक (अतिंद्रिय) (हू) इसलिये कुछ भी दूसरी (वस्तु), परमाणु मात्र भी मेरी नही है।

8 अरसमरूवमगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द ।
जाण अलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाण ॥49॥

(यह) (तुम) जानो (कि) आत्मा रस-रहित, रूप-रहित, गध-रहित, शब्द-रहित तथा अदृश्यमान (है), (उसका) स्वभाव चेतना (है) (उसका) ग्रहण बिना किसी चिह्न के (केवल अनुभव से) (होता है) और (उसका) आकार अप्रतिपादित (है)।

9. णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥83॥

निश्चयनय के (अनुसार) इस प्रकार (कहा गया है कि) आत्मा आत्मा (अपने भावों) को ही करता है तथा आत्मा आत्मा (अपने भावों) को ही भोगता है, उसको ही (तुम) जानो ।

10. ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।
तं चेव य वेदयदे पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥84॥

किन्तु व्यवहार (नय) के (अनुसार) आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्म को करता है तथा (वह) उस अनेक प्रकार के पुद्गल कर्म को ही भोगता है ।

11. जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं ॥141॥

जीव के द्वारा कर्म बांधा हुआ (है) और पकड़ा हुआ (है)—इस प्रकार (यह) व्यवहारनय द्वारा कहा गया (है), किन्तु शुद्धनय के (अनुसार) जीव के द्वारा कर्म न बांधा हुआ (है) और न पकड़ा हुआ (है) ।

12. कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एदं तु जाण णयपक्खं ।
णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो ॥142॥

जीव के द्वारा कर्म बाधा गया है और नहीं बांधा गया है—इसको तो (तुम) नय की दृष्टि जानो, किन्तु जो नय की दृष्टि से अतीत है, वह समयसार (शुद्ध आत्मा) कहा गया (है) ।

13. दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरि तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्ख परिहीणो ॥143॥

आत्मा में स्थिर (व्यक्ति) तो दोनों ही नयो के कथन को केवल जानता है । वह योगी भी नय दृष्टि को ग्रहण नहीं करता है । (इस तरह से) (वह) नय दृष्टि से रहित होता है ।

14. वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥153॥

व्रत और नियमों को धारण करते हुए तथा शीलों और तप का पालन करते हुए जो (व्यक्ति) परमार्थ (शुद्ध आत्म-तत्त्व) से अपरिचित (हैं), वे परम शान्ति को प्राप्त नहीं करते हैं ।

15 णाणी रागप्पजहो हि सव्वदव्वेसु कम्ममज्भगदो ।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्भे जहा कणय ॥218॥

निश्चय ही ज्ञानी सब वस्तुओ मे राग (आसक्ति) का त्यागी (होता है)। अत कम के मध्य मे फसा हुआ भी (कमरूपी) रज के द्वारा मलिन नही किया जाता है, जिस प्रकार सोना कीचड के मध्य मे (पडा हुआ) (मलिन नहीं किया जाता है)।

16 अण्णाणी पुण रत्तो हि सव्वदव्वेसु कम्ममज्भगदो ।
लिप्पदि कम्मरयेण दु कद्दममज्भे जहा लोह ॥219॥

और निस्सदेह अज्ञानी सब वस्तुओ में (आसक्त होता है)। अत कर्म के मध्य मे फसा हुआ कर्मरूपी रज से मलिन किया जाता है, जिस प्रकार कीचड मे (पडा हुआ) लोहा मलिन किया जाता है)।

17 पासडिय लिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुव्वति जे ममत्त तेहि ण णाव समयसार ॥413॥

बहुत प्रकार के साधु-वेषों मे तथा गृहस्थ-वेषों मे जो (लोग) ममत्व करते हैं, उनके द्वारा समयसार (अध्यात्म सार) नहीं जाना गया (है)।

18 ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ दु णेच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ 414॥

व्यवहार-सबधी नय दोनो ही वेषो को अध्यात्म-माग मे प्रतिपादित करता है, किन्तु निश्चयनय किसी भी वेष को अध्यात्म-माग मे स्वीकृति नही देता है।

सकेत सूची

(अ)	—अव्यय (इसका अर्थ =लगाकर लिखा गया है)	वि	—विशेषण
		विधि	—विधि
		विधिकृ	—विधि कृदन्त
अक	—अकर्मक क्रिया	स	—सवनाम
अनि	—अनियमित	सकृ	—सम्बन्ध कृदन्त
आज्ञा	—आज्ञा	सक	—सकर्मक क्रिया
कर्म	—कर्मवाच्य	सवि	—सर्वनाम विशेषण
(क्रिविअ)	—क्रिया विशेषण	स्त्री	—स्त्रीलिंग

अव्यय (इसका अर्थ =लगाकर लिखा गया है)

तुवि —तुलनात्मक विशेषण

पु —पुल्लिग

प्रे —प्रेरणार्थक क्रिया

भकृ —भविष्य कृदन्त

भवि —भविष्यत्काल

भाव —भाववाच्य

भू —भूतकाल

भूकृ —भूतकालिक कृदन्त

व —वर्तमानकाल

वकृ —वर्तमान कृदन्त

- जहां कोष्ठक के बाहर केवल संख्या (जैसे 1/1, 2/1....आदि) ही लिखी है, वहां कोष्ठक के अन्दर का शब्द 'संज्ञा' है।

- जहां कर्मवाच्य, कृदन्त आदि प्राकृत के नियमानुसार नहीं बने हैं, वहां कोष्ठक के बाहर 'अनि' भी लिखा गया है।

1/1—प्रथमा/एकवचन

1/2—प्रथमा/बहुवचन

2/1—द्वितीया/एकवचन

2/2—द्वितीया/बहुवचन

3/1—तृतीया/एकवचन

3/2—तृतीया/बहुवचन

4/1—चतुर्थी/एकवचन

4/2—चतुर्थी/बहुवचन

5/1—पंचमी/एकवचन

5/2—पंचमी/बहुवचन

हेकृ —हेत्वर्थ कृदन्त

( ) —इस प्रकार के कोष्ठक में मूल शब्द रक्खा है।

[( )+( )+( )....]
इस प्रकार के कोष्ठक के अन्दर + चिन्ह किन्हीं शब्दों में संधि का द्योतक है। यहां अन्दर के कोष्ठकों में गाथा के शब्द ही रख दिये गये है।

[( )-( )-( )....]
इस प्रकार के कोष्ठक के अन्दर '—' चिन्ह समास का द्योतक है।

1/1 अक या सक—उत्तम पुरुष/एकवचन

1/2 अक या सक—उत्तम पुरुष/बहुवचन

2/1 अक या सक—मध्यम पुरुष/एकवचन

2/2 अक या सक—मध्यम पुरुष/बहुवचन

3/1 अक या सक—अन्य पुरुष/एकवचन

3/2 अक या सक—अन्य पुरुष/बहुवचन

6/1—षष्ठी/एकवचन

6/2—षष्ठी/बहुवचन

7/1—सप्तमी/एकवचन

7/2—सप्तमी/बहुवचन

8/1—संबोधन/एकवचन

8/2—संबोधन/बहुवचन

व्याकरणिक विश्लेषण

1 सुदपरिचिदाणुभूदा [(सुद)+(परिचिद)+(अणुभूदा)] [(सुद) भूकृ अनि—(परिचिद) अणुभूद→
भूकृ अनि—(अणुभूदा) भूकृ 1/1 अनि] सव्वस्स+ (सव्व) 6/1 वि (अ)=निश्चय ही, कामभोगबंधकहा [(काम)-(भोग)-(बंध)[1]-(कहा) 1/1] एयत्तस्सुवलभो [(एयत्तस्स)+(उवलभो)] एयत्तस्स (एयत्त)[2] 6/1 उवलभो (उवलभ[3]) 1/1 णवरि (अ)=केवल ण (अ)=नहीं सुलहो (सुलह)1/1 वि विहत्तस्स (विहत्त[4] भूकृ 6/1 अनि

1 बंध=निरूपण, 2 एयत्त=अद्वितीयता, 3 विहत्त=समतामयी उवलभ=अनुभव

+ कभी-कभी तृतीया विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग पाया जाता है। (हेम प्राकृत व्याकरण 3-134)

2 जह (अ)=जैसे ण वि (अ)=कभी नहीं सक्कमणज्जो [(सक्कण)+(अणज्जो)] सक्क (सक्क) विधिकृ 1/1 अनि अणज्जो (अणज्ज) 1/1 वि अणज्जभासं+ (अणज्ज) वि-(भास) 2/1] विणा (अ)=विना दु (अ)=पाद पूर्ति गाहेदुं (गाह) हेकृ तह (अ)=वैसे ही ववहारेण+ (ववहार) 3/1 विणा (अ)=विना परमत्थुवदेसणमसक्कं [(परमत्थ)+(उवदेसण)+(असक्क)] [(परमत्थ)-(उवदेसण) 1/1] असक्कं (असक्क) विधि कृ 1/1 अनि

+ विना' के साथ द्वितीया तृतीया या पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है।

3 ववहारोऽभूदत्थो[(ववहारो+(अभूदत्थो)] ववहारो (ववहारो (ववहार) 1/1 अभूदत्थो (अभूदत्थ) 1 1 वि भूदत्थो (भूदत्थ) 1/1 वि देसिदो (देस) भूकृ 1/1 दु (अ)=ही सुद्धणओ [(सुद्ध) वि—(णअ) 1/1] भूदत्थमस्सिदो [(भूदत्थ)+(अस्सिदो)] भूदत्थ* (भूदत्थ) 2/1 अस्सिदो (अस्सिद) 1/1 वि खलु (अ)= ही सम्मादिट्ठी (सम्मादिट्ठि) 1 1 हवदि (हव) व 3/1 अक जीवो (जीव) 1/1

* कभी कभी सप्तमी के स्थान पर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग पायाजाता है। (हेम प्राकृत व्याकरण 2-127)

4. सुद्धो (सुद्ध) 1/1 वि सुद्धादेसो [(सुद्ध)+(आदेस)] [(सुद्ध) वि—(आदेस) 1/1] णादव्वो (णा) विधिकृ 1/1 परमभावदरिसीहिं [(परम) वि—(भाव)—(दरिसि) 3/=वि] ववहारदेसिदा [(ववहार)—(देस) भकृ 1/2] पुण (अ) = और जे (ज) 1/2 सवि दु (अ) = ही अपरमे (अपरम) 7/1 वि ठिदा (ठिद) भूकृ 1/2 अनि भावे (भाव) 7/1

5. जो (ज) 1/1 सवि पस्सदि (पस्स) व 3/1 सक अप्पाणं (अप्पाण) 2/1 अवद्धपुट्ठं [(अवद्ध)+(अपुट्ठं)] [(अवद्ध) वि—(अपुट्ठ) 2/1 वि] अणण्णयं (अणण्ण) 2/1 वि स्वार्थिक 'य' प्रत्यय णियदं (णियद) 2/1 वि अविसेसमसंजुत्तं [(अविसेसं)+(असंजुत्त)] अविसेसं (अविसेस) 2/1 वि असंजुत्तं (असंजुत्त) भूकृ 2/1 अनि तं (त) 2/1 सवि सुद्धणयं (सुद्धणय) 2/1 वियाणाहि+ (वियाण) विधि 2/1 सक

+आज्ञार्थ या विधि अर्थक प्रत्ययो के होने पर कभी-कभी अन्त्यस्थ 'अ' के स्थान पर 'आ' की प्राप्ति हो जाती है। (हेम प्राकृत व्याकरण : 3–15–8 वृत्ति)

6. जह (अह) = जैसे णाम (अ) = पाद पूर्ति को (क) 1/1 नवि वि (अ) = भी पुरिसो 'पुरिस' 1/1 परदव्वमिणं [(पर)—(दव्वं)+(इणं) [(पर) वि—(दव्व) 1/1] इणं (इम) 1/1 सवि ति (अ) = इस प्रकार जाणिदुं (जाण) संकृ मुयदि (मुय) व 3/1 सक तह (अ) = वैसे ही सव्वे (सव्व) 2/2 परभावे [(पर)—(भाव) 2/2] णादूण (णा) संकृ विमुञ्चदे (विमुञ्च) व 3/1 सक णाणी (णाणि) 1/1 वि

7. अहमेक्को [(अहं)+)एक्को)] अहं (अम्ह) 1/1 स एक्को (एक्क) 1/2 खलु (अ) = निश्चय ही सुद्धो (सुद्ध) 1/1 वि दंसणणाणमइओ [(दंसण)—(णाणमइअ) 1/1 वि] सयारूवी [(सया)+(अरूवी)] सया (अ) = सदा अरूवी (अरूवि) 1/1 ण (अ) = नही वि (अ) = इसलिए अत्थि (अ) = है मज्झ (अम्ह) 6/1 किंचि (अ) = कुछ वि (अ) = भी अण्णं (अण्ण) 1/1 नवि परमाणुमेत्तं [(परमाणु)—(मेत्त) 1/1] पि (अ) = भी

8. अरसमरूवमगंधं [अरसं)+(अरूव)+(अगंध)] अरसं (अरस) 1/1 वि अरूवं (अरूव) 1/1 वि अगंधं (अगंध) 1/1 वि अव्वत्तं (अव्वत्त) 1/1 वि चेदणागुणमसद्दं [चेदणा)+(गुणं)+ (असद्दं)] [चेदणा)—(गुण) 1/1] असद्दं (असद्द) 1/1 वि जाण (जाण) विधि 1/1 सक अलिंगग्गहणं [(अलिंग) वि—(ग्गहण) 1/1] जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं (जीवं)+(अणिद्दिट्ठ)+(संठाणं)] जीवं (जीव) 1/1 [(अणिद्दिट्ठ) वि (संठाण) 1/1]

9. णिच्छयणयस्स (णिच्छयणय) 6/1 एवं (अ) = इस प्रकार आदा (आद) 1/1 अप्पाणमेव [(अप्पाणं)+(एव)] अप्पाणं (अप्पाण) 2/1 एव (अ) = ही हि (अ) = पाद पूर्ति परेहि

—: नियमसार :—

परम भक्ति अधिकार

सम्यक्त्व, ज्ञान और चरित्र की जो श्रावक और श्रमण भक्ति करते है, उसे निवृत्ति भक्ति होती है, ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं। मोक्ष गये पुरुषो के गुण भेद जानकर उनकी जो परम भक्ति करता है, वह व्यवहार नय से निवृत्ति भक्ति होती है। मोक्ष पथ मे अपने को स्थापित करके जो निवृत्ति भक्ति करता है, वह जीव असहाय गुण रूप निज आत्मा को प्राप्त करता है।

जो साधु रागादि के परिहार मे आत्मा को लगाता है, वह योग भक्ति युक्त होता है। अन्य को योग किस प्रकार हो सकता है? जो साधु सर्व विकल्प के अभाव मे आत्मा को लगाता है, वह योग भक्ति युक्त होता है। अन्य को योग किस प्रकार हो सकता है? विपरित अभिनिवेश को छोडकर जैन कथित तत्वो मे जो आत्मा को लगाता है, उसका निज भाव वह योग है। वृषभादि जिनेन्द्र देवो ने इसी प्रकार योग भक्ति करके निवृत्ति सुख प्राप्त किया, इसीलिये, हे भव्य, तू योग भक्ति धारण कर।

गाथार्थ 134–140



तृतीय खण्ड

साहित्य और पुरातत्व

नेमिस्तोत्रम्

अज्ञात नाम कवि विरचितम्

संस्कृत-हिन्दी टीकाकारडॉ. पन्नालालः साहित्याचार्य

मानेनोनूनमानेन नोन्नमुन्नामिमाननम् ।
नेमिनामान मनमं मुनीनामिनमानुमः ॥1॥

मानेनेति—अनूनमामेन न ऊनं हीन मनूनं पूर्णमित्यार्थ., अनूनं पूर्णं मानं प्रमाणं यस्य तेन, मानेन ज्ञानेन नोन्नं न ऊन्नं न क्लिन्नं किन्तु सुदृढम्, उन्नामिमाननम् उन्नामिनी वर्धमाना या मा लक्ष्मीः शोभा वा तयोपलक्षितम् आननं मुखं यस्य तम्, अथवा उन्नामी उन्नतो गगन मध्यस्थिता इत्यर्थः यो मश्चन्द्रस्तद्वदाननं मुखं यस्य नम्, अनमम् न विद्यते नमो नमनं यस्य तं न नमस्कुर्वन्तं किन्तु नमस्क्रियमाणम्, नेमिनामानम् नेमिर्नाम यस्य तं नेमिनामधेयम्, मुनीनां यतीनाम् इनं स्वामिनम्, आनुमः आ समन्तात् नमस्कुर्यः, वयमितिशेषः । 'मः विवे पुंसि मश्चन्द्रे मोविधौ मा तु मातरि । 'स्त्रिया स्यान्मा रमायां च 'इति विश्वलोचनः । 'इनः पत्यौ नृपे सूर्ये' इति ।

अर्थ—जो पूर्ण ज्ञान में सुदृढ़ हैं, जिसका मुख बढ़ती हुई लक्ष्मी या शोभा से सहित है अथवा जिनका मुख पूर्ण चन्द्रमा के समान है, जो दूसरों को नमस्कार नही करते किन्तु दूसरों से नमस्क्रियमाण है और जिनका नेमि नाम है ऐसे मुनियों के स्वामी अथवा मुनीन्द्र नेमिनाथ की हम स्तुति करते है ॥1॥

नाम्ना मानामनिम्नाना ममानानामनामिनाम् ।
नामिनेऽनामिनामो मे नेमिनाम्ने नमो नमः ॥2॥

नाम्नेति—मानामनिनिम्नानाम् मानोऽहंकार एव अमो रोग स्तेन निम्ना अधोगतास्तेषाम् अहंकार पीडितानामित्यर्थः । अमानानाम् न विद्यते मानं प्रमाणं येषां तेषां बहूनामित्यर्थः । अनामिनाम् अमन्ति गच्छन्तीति आमिनः न आमिनः अनामिनस्तेषां मानवशेन समीपमगच्छताम्, अनामिनाम्, नमन्ति नमस्कुर्वन्तीतिशीला नामिनः, न नामिनः अनामिनस्तेषाम् अहङ्कारेण नमन-मकुर्वता जनानाम्, नाम्ना नामधेयेन स्वकीय नामधेय प्रभावेणेत्यर्थः । नामिने नमयति प्रणतं करोतीत्येवं शीलो नामी तस्मै । नेमिनाम्ने नेमिर्नाम यस्य तस्मै, मे मम । नमो नमो वारं वारं नमस्कारोऽस्त्विति शेषः । भो इति सम्बुद्धौ । 'अमो रोगेऽपि मन्दे' इति विश्वलोचनः । 'मम' मत्यादिषु ।

अर्थ—हे भव्यजनो ! मान रूपी रोग से पीडित, समीप में न आने वाले तथा नमस्कार न करने वाले अनेक मनुष्यों को अपने नाम मात्र से भस्मीभूत कर देते हैं ऐसे नेमि नामक भगवान् को मेरा बार बार नमस्कार हो ।।2।।

मानेनोन्नामिन नाम ननानिम्न ममाननम् ।
ननु नेमी ममी मेन मोमाममनमन्निना ।।3।।

मानेनेत्य दि—अमी तदातना इना राजान श्रीकृष्ण बलरामादय 'इन पत्यौ नृप सूर्ये' इति विश्वलोचन । मानेन प्रमाणेन उन्नामिनम् उन्नमयितु शीलम् । ननानिम्न ममाननम् नेषु जिनेषु न पूज्या नन , अनिम्न उच्चतमो गगन मध्यस्थितो यो मश्चन्द्र स्तस्येव मा शोभा यस्य तत् अनिम्नममम्, तथाभूतम् आनन मुख यस्य स अनिम्नममानन ननश्चासौ अनिम्नममाननश्चेति कर्मधारयस्तम् । 'नकारो जिन पूज्ययो ' इति च विश्वलोचन । मोमामम् मा लक्ष्मी, उमा कीर्ति मा च उमा चेति मोमे ते अमति गच्छति—प्राप्नोतीति मोमामस्तम् । मेन माया लक्ष्म्या इन स्वामी मेनस्तम्, अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मीपतिम्, नेमिम् द्वाविंश तीर्थंकरम् । ननु निश्चयेन । अनमन् नमश्चक्रु । 'उमा गौर्यामतस्या च हरिद्रा कान्ति कीर्तिपु' इति विश्वलोचन । नाम इति वाक्यालङ्कारे ।।3।।

अर्थ—तात्कालिक श्री कृष्ण बलराम आदि राजाओ से उन्नतिशील—सयम, जिनो में पूज्य, पूर्ण चन्द्रमा जैसी शोभा से युक्तमुख वाले, लक्ष्मी और कीर्ति को प्राप्त, लक्ष्मी के स्वामी नेमिनाथ भगवान् को सम्यक् प्रकार से नमस्कार किया था ।।3।।

मिन्नमन्मनमामानि मानिनी माननोन्मना ।
नानानामीमीमनन्नेमिं मनोममिम मानिनाम् ।।4।।

मिन्ने ति—मिन्नमन्मनम् मिन्न मिलित मन्मन रोदनध्वनिर्यस्मिन् यथा स्यात्तथा क्रिया विशेषणम् । माननोन्मना मानने वशीकरणे उन्मना उत्का । मानिनी राजीमती । येन आमानि सदुपदेशेन सम्बोधिता । कर्मणि प्रयोग । आनिनाम् अनन्ति श्वसन्तीतिशीला आनिन प्राणिन स्तेषाम् जगज्जीवानामित्यर्थ । मनोममिमम् मनसश्चेतस अमा रोगा काम क्रोधादयस्तेपाम् मिम प्रक्षेपक नाशकमित्यर्थ य नेमिम, द्वाविंश तीर्थंकरम् नाना अनेके ना नेतार । अमीमनन् जानन्ति स्म । 'नास्तु नेतरि नावि स्त्री' इति 'अमो रोगेऽपि तद्भेदे' इति च विश्वलोचन ।।4।।

अर्थ—मन्मन रोदनध्वनि के साथ वशीकरण करने मे उत्कण्ठित राजीमती स्त्री को जिन्होंने सदुपदेश से सबोधित किया था, तथा जो प्राणियो के मन सम्बन्धी रोग काम क्रोधादि विकारो को नष्ट करने वाले थे उन नेमिनाथ भगवान् को अनेक लोगो ने यथार्थ रूप से जाना था ।।4।।

मनोमुन्निम्नन नूनमुन्नमन्मान नोननम् ।
नुन्नमेनोऽमुना नेमिनाम्ना ऽऽम्नानेन मा मनु ।।5।।

मनोमुदिति—मनोमुन्निम्नन मनसश्चेतसो या मुन् प्रीतिस्तस्या निम्नन न्यूनीकरण विषयानु रागस्य ह्रसनमित्यर्थ । ननम निश्चयेन । उन्नमन्मान नोननम् उन्नमद्वर्धमान यन्मानमात्म ज्ञान तस्य

नोननम् न ऊननं परिहरणं वर्धनं विषयानन्द परिहरणमेवात्मज्ञान वर्धनोपाय इत्यर्थः । इत्थम् आम्नानेन समभ्यस्तेन । अमुना एतेन । नेमिनाम्ना । मामनु स्तोतारमनुगतम् । एनः पापम् 'वृजिन कलिलमेनः' इति धनंजयः । नुन्नं नाशितम् । नोननम् इत्यत्र ऊनपरिहाणे इत्यस्यधातोर्ल्युडन्त प्रयोगे ऊननं न ऊननं नोननम् 'न एकधा नैकधा' इतिवत् 'सहसुपा' इत्यनेन समासः ॥5॥

अर्थ – मन सम्बन्धी विषयानन्द का कृपीकरण निश्चय से वढते हु ! आत्म ज्ञान को वढ़ाना है इस तरह अच्छी तरह अभ्यस्त नेमिनाथ भगवान् के इस नाम से मेरा पाप नष्ट हो गया ॥5॥

नोनमुन्मानमानेन मुनीनानममाननम् ।

मीनार्मिम नमन्नेमिं मनूमामामिमीनमाम् ॥6॥

नोनमित्यादि—मुनीनानममाननम् मुनीनां साधूनामिनः स्वामी मुनीन्द्रो नेमिनाथ इत्यर्थः तस्य आनमनम् आ समन्तात् नमनम् आनमः स्तवनं तत्र माननं समादरः । उन्मान मानेन उत्कृष्टं मानं प्रमाणं यस्य तदुन्मानं तच्च तत् मानं ज्ञानं च तेन । नोनं न ऊनं रहितं न । भगवन्नमस्करण समादरः समुत्कृष्ट ज्ञानं दादातीत्यर्थः । नेमिं नेमिनाथ । नमन् नमस्कुर्वन् जनः । मनूमामाम् मनूनां कुलकराणाम् उमां कन्ति कान्ति वा मां लक्ष्मी च । मीनार्मि मीनध्वजम् । इम् कामदेवम् कामदेव पदमित्यर्थः । ईनमाम् ईः लक्ष्मीस्तस्या इन. पति विष्णु रित्यर्थः तस्य मां लक्ष्मीम् 'इस्तु कामे पुमान् रवेद' इति, 'ई लक्ष्म्यामव्ययं स्त्री' इति च विश्वलोचनः ॥6॥

अर्थ—मुनियों के स्वामी नेमिनाथ भगवान् के स्तवन में आदर होना उत्कृष्ट ज्ञान से रहित नही है अर्थात् उनका स्तवन उत्कृष्ट ज्ञान को देने वाला है । तथा, नेमिनाथ भगवान् को नमस्कार करने वाला मनुष्य, कुलकरो की कीर्ति और लक्ष्मी को, मीनध्वज से युक्त कामदेव पद को और विष्णु—नारायण की लक्ष्मी—विभूति को प्राप्त होता है ॥6॥

मुनीनामेनोमीनानां निमाने नेमिमाननम् ।

नेमिनामानमा नानामनोमान ममुं नमः ॥7॥

मुनीनामिति—नेमिमाननम् नेमे.माननं समादरणं संस्तवन । मुनीनां साधूनाम् । एनोमीनानाम् एनांसि पापान्येव मीना मत्स्यास्तेषां निमाने विनाशने दक्षमिति शेषः । अतः नानामनोमानम् नानाजीवानां मनस्सु मान.समादरो यस्यतम् । नेमिनामानम् नेमिनाम् यस्य त । अमुं प्रति नमः । मम नमस्कारोऽस्तु । आ इति सम्बोधने वाक्यस्मरणयोर्वा ॥7॥

अर्थ—नेमिनाथ भगवान् का मानन स्तवन, मुनियों के पापरूपी मत्स्यो का निराकरण करने में समर्थ है अतः नानाजीवों के मन में विद्यमान सन्मान से युक्त उन नेमि नामवाले भगवान् के प्रति मेरा नमस्कार हो ॥7॥

नेमीननं नेमिनमन नेमिमाननम् ।

नेमि मान्नोऽनाम्नानमाम्ना नूनमभी नम ॥8॥

नेमीति—नेमीनमनन नेमिश्चासाविनश्चेति नेमीन, नेमि स्वामी तस्य मनन चिन्तनम् । नेमिनमनम् नेमेनमन नमस्करणम् नेमिस्तवनम् । नेमिमाननम् नेमेर्मानन समादरणम् । नेमिनाम्न नेमेर्नामतस्य । अननाम्नानम् अननस्योच्चारणस्य आम्नान अभ्यास । तस्यैव नेमिनाम्न । आम्ना- विचारणा । अमी एते सर्वे नून निश्चयेन मम स्तोतु । स्युरिति शेष ॥8॥

अर्थ—नेमिप्रभु का मनन—चिन्तन करना, नेमि प्रभु को नमन—नमस्कार करना, नेमि प्रभु का मानन—आदर करना, नेमिनाम के उच्चारण का अभ्यास करना—बार बार नाम लेना तथा उसी का ध्यान करना ये सब काय निश्चय से मेरे होवें ॥8॥

इति स्तुति ये पुरत पठन्ती
नेमेर्निजव्यञ्जन युग्म सिद्धिम् ।
प्रवद्ध मानोदयशालिनस्ते
स्यु सिद्धिवध्वा परिभोगयोग्या ॥9॥

इतीति—इति इत्थम् । निजव्यञ्जनयुग्मसिद्धिम् विजव्यञ्जनयोर्नेमिगत शब्दयोर्नकारमकारयो- युग्मेन द्वन्द्वेन सिद्धी रचना यस्यास्ताम् । स्तुतिम् नेमे द्वाविंशतितम तीर्थंकरस्य पुरत अग्रे ये भव्या पठन्ती । प्रवर्द्धमानोदयशालिन प्रवद्धमानेन समेधमानेन उदयेनाभ्युदयेनशालन्तेशोभन्त इत्येव शीला । ते सिद्धिवध्वा सिद्धिमुक्तिरेववधू स्त्री तस्या परिभोगयोग्य परिभोगस्य सेवनस्य योग्या अर्हा स्युभवेयु इति स्तोत्रफलस्य निर्देश ॥9॥

अर्थ—इस तरह 'नेमि' इस नाम मे आये हुए नकार मकार रूप दो व्यञ्जनो से निर्मित इस स्तुति को जो भव्य नेमिनाथ भगवान् के आगे पढते हैं, बढते हुए वैभव से सुशोभित वे भव्यजीव मुक्ति रूपि वधू के उपभोग मे समथ होते हैं ।

टीका पूर्तितिथि

गणतन्त्र दिवस 26 जनवरी, 1988

पिसनहारी की मढ़िया जबलपुर

विशेष—इस स्तोत्र की एक हस्तलिखित प्रति डॉ राकेश जैन ने डॉ बालचन्दजी पुरातत्त्ववेत्ता, जबलपुर के सग्रह से लाकर मुझे दी थी, उसी के आधार पर सस्कृत-हिन्दी टीका का निर्माण हुआ है ।

समस्त जीव राशि का प्रमाण प्रारूपण

□डॉ. रमेशचन्द्र जैन
प्रवाचक सांख्यिकी अध्ययनशाला,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

षट्खंडागम जीवस्थान द्रव्यप्रमाणुनुगम भाग 3 में विस्तार से गणित विषयक सामग्री प्रस्तुत की गई है। यह सामग्री समस्त जीवराशि की गणना करने में प्रयुक्त हुई है। इसके अनुसार मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त है तथा दूसरे गुणस्थान से पंचम गुणस्थान तक असंख्यात जीव राशि है। छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक संख्यात जीव राशि है। सिद्ध जीव राशि पुनः अनन्त है तथा सर्वजीव राशि भी अनन्त है।

जैन दर्शन मे संख्या के आठ भेद बताये गए है। नाम संख्या, स्थापना संख्या, द्रव्य संख्या, औपम्य-उपमान संख्या, परिमाण संख्या, ज्ञान संख्या, गणना संख्या एवं भाव संख्या। समस्त जीव राशि के प्रमाण प्रारूपण में सिर्फ गणना संख्या का ही उपयोग हुआ है। गणना संख्या को मुख्य रूप से तीन भागों मे विभाजित किया गया है—संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त।

संख्यात संख्या आज के गणित के सीमित संख्या (F nite Number) के समतुल्य है, जबकि असंख्यात संख्या गणनीय असीमित संख्या (Countable Infinite Number) के समतुल्य है। षट्खंडागम के अनुसार असंख्यात राशि वह राशि है जिसमें से क्रम से एक-एक घटाने पर समाप्त हो जाती है। अनन्त राशि वह राशि है, जिसमे से क्रम से एक-एक घटाने पर समाप्त नही होती है। इसे गणित मे असीमित (Infinite Number) संख्या कहते हैं।

संख्यात संख्या के तीन भेद क्रमशः जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट होते हैं। जघन्य संख्या = 2 तथा "मध्यम संख्या" का प्रारंभ 3 से होता है तथा अंत "उत्कृष्ट संख्या" से एक कम पर होता है। "उत्कृष्ट संख्या" ज्ञात करने के लिये चार कुंडों में से सरसों निकालने की विधि से ज्ञात की जा सकती है। तिलोयपण्णत्ती तथा विश्व-प्रहेलिका के अनुसार यह संख्या 46 अंकों की आती है।

असख्यात राशि के भी तीन भेद क्रमश परीत, युक्त एव असख्यात होते हैं। इसमे से प्रत्येक के क्रमश तीन भेद जघन्य, मध्यम एव उत्कृष्ट होते हैं। इस प्रकार असख्यात राशि के 9 भेद होते हैं।

अनन्त सख्या के भी क्रमश तीन भेद परीत, युक्त एव अनन्त होते हैं तथा इनमे से प्रत्येक के भी क्रमश तीन भेद जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट होते हैं। इस प्रकार अनन्त सख्या के भी कुल 9 भेद होते हैं। कुल मिलाकर गणना सख्या के 21 भेद हैं जो कि 2 से शुरू होकर "उत्कृष्ट अनन्तानन्त" तक जाती है। "उत्कृष्ट अनन्तानन्त" सख्या के मान का कोई पदार्थ नही है, अतएव यह सबसे बड़ा अनन्त है।[1]

तीनो लोको में समस्त जीव राशि की सख्या अनन्तानन्त है जो कि मध्यम अनन्तानन्त तथा उत्कृष्ट अनन्तानन्त के मध्य की कोई सख्या हो सकती है। इस जीवराशि का बहुभाग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती है। धवलाकार[2] ने स्थूल रूप से समस्त जीवराशि 16 मे 13 मिथ्यादृष्टि मानी है। दूसरे गुणस्थान से पाचवें गुणस्थान तक असख्य जीवराशि मानी है तथा छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक सख्यात जीवराशि मानी है। इस प्रकार दूसरे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक की कुल जीवराशि 1 मानी है। सिद्ध जीवराशि फिर से अनन्त मानी है तथा इसका स्थूल मान 2 माना है। इस प्रकार 16 में समस्त जीवराशि के प्रमाण का प्ररूपण हो जाता है। सिद्ध जीवराशि जघन्य परीतानन्त राशि के बराबर होनी चाहिए। धवलाकार ने [(समस्त जीवराशि)/मिथ्यादृष्टि जीव] को एक ध्रुव राशि मानकर विभिन्न गणित की क्रियाओ से मिथ्यादृष्टि जीवराशि स्थूल सख्या के रूप मे प्राप्त की है किन्तु उसका शुद्ध मान अको में नही निकाल पाये हैं। मोक्ष जाने वाले जीवों की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीवो का व्यय तो निरतर चालू है और उनकी वृद्धि भी नहीं होती है। अतएव उनका अभाव हो सकता है, ऐसा सदेह व्यर्थ है। अनन्तानन्त उत्सर्पिणियो तथा अवसर्पिणियो के हो जाने पर भी मिथ्यादृष्टि जीवराशि समाप्त नही होती है।

इसी प्रकार चारो गतियो की अपेक्षा से तिर्यंच गति के जीव अनन्त हैं तथा स्थूल रूप मे 200/16 भाग हैं। देव गति के जीव असख्य हैं तथा 12/16 भाग हैं। नरक गति के जीव भी असख्य हैं तथा 8/16 भाग हैं तथा मनुष्य गति के जीव असख्य हैं एव 4/16 भाग हैं। सिद्ध जीव पहले की तरह 32/16 भाग हैं तथा सर्व जीवराशि स्थूल रूप से 16 होती है। इन स्थूल अको से ज्ञात होता है मनुष्य गति मे दूसरी गतियो की अपेक्षा सबसे कम जीवराशि है। धवलाकार ने इसका भी कोई प्रमाण नहीं दिया है।

धवलाकार के अनुसार सर्व मनुष्यों की सख्या असख्यात है। यह राशि जघन्यपरीता सख्यात से उत्कृष्ट असख्यात असख्यात के मध्य कोई राशि हो सकती है। मनुष्य गणना का अल्प-बहुत्व इस प्रकार है। अन्तर द्वीपो मे मनुष्यो की सख्या सबसे कम है। इनमे सख्यात गुणा मनुष्य

1 उत्कृष्ट अनन्तानन्त के मान के केवल ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेद जैनाचार्यों ने माने हैं—सम्पादक

2 षट्खडागम द्रव्य प्रमाणानुगम भाग 3, श्री वीरसेनाचार्य विरचित धवला टीका

उत्तर कुरू तथा देव कुरू क्षेत्र में है। इनसे संख्यात गुणा मनुष्य हरि तथा रम्यक् क्षेत्र में है। इनसे संख्यात गुणा मनुष्य हैमवत तथा हैरण्यवत् क्षेत्र मे है। इनसे संख्यात गुणा मनुष्य भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में है। इनसे संख्यात गुणा मनुष्य विदेह क्षेत्र मे हैं। संख्यात राशि का प्रारंभ 2 से होता है तथा अंत उत्कृष्ट संख्यात राशि पर होता है, जो कि 46 अंकों की संख्या है। अतएव प्रत्येक क्षेत्र के मनुष्यो की संख्या अपने से पहले वाले क्षेत्र की अपेक्षा दुगनी अथवा उससे अधिक है। सबसे अधिक मनुष्यों की संख्या विदेह क्षेत्र मे है तथा उसके आधे अथवा उससे कम मनुष्यों की संख्या भरत तथा ऐरावत क्षेत्र मे है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मिथ्यादृष्टि जीवराशि अनन्तानन्त है तथा अनेक उत्सर्पिणियों एव अवसर्पिणियों के बीत जाने के पश्चात् भी इनका क्षय नहीं होगा। सर्व मनुष्यों की राशि असंख्यात है। संसार में मनुष्यों की जनसंख्या बढ़ने का कारण सिद्ध गति को छोड़कर अन्य गतियों के जीवों का मनुष्य गति मे उत्पन्न होना है जब कि मनुष्य गति से सिद्ध गति में जाने की क्रिया अत्यंत धीमी है।

देह के देवालय में जो केवल ज्ञान शरीरी अनादि अनन्त देव बसता है वह निःसदेह परमात्मा है। देह में बसता हुआ भी नियम से जो देह का स्पर्श नही करता, न देह द्वारा स्पर्शित होता, उसे परमात्मा जानो। समभाव में परिणित योगीश्वरों के परमानन्द उत्पन्न करता हुआ जो स्फुरित होता है वह परमात्मा है। हे योगी! कर्मों से निबद्ध, देह में बसता हुआ भी जो कदापि देह नहीं होता उसे परमात्मा जानो। जो परमार्थ से निष्कल है और कर्म से भिन्न है तथापि मूढ जन उसे सकल मानते हैं, उसे परमात्मा जानो। जिसके मुक्त पद में जगत ऐसे प्रतिभासित होता है जैसे अनंत गगन मे एक तारा, वह परमात्मा है।

(परमात्मा प्रकाश गाथायें 33 से 38)

अर्हन्त "वर्धमान", "महावीर", "वीर" के कुछ अभिलेखीय साक्ष्य

☐ ले० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी,
सहायक निदेशक पुरातत्व
राज्य संग्रहालय, लखनऊ

भारत के संग्रहालयों में, लखनऊ संग्रहालय का अद्वितीय स्थान है। संकलन और प्राचीनता दोनों ही प्रकार से यह भारत के प्रमुख संग्रहालयों में एक है। इस संग्रहालय की स्थापना सन् 1863 में हुई थी। अतः यह इस संग्रहालय का एक सौ पच्चीसवां वर्ष है।

यहाँ के संग्रह में जैन प्रतिमाओं का विपुल संग्रह है। कुछ कलारत्न तो विश्वविश्रुत हैं— यथा आमोहिनी पट्ट[1], जैनसरस्वती[2], मुनिसुव्रत[3], प्रतिमा की चरण चौकी आदि।

यहाँ संग्रहीत जैन मूर्तियाँ अधिकांश उत्तरप्रदेश यथा—श्रावस्ती (बहराइच), असईखेड़ा (इटावा), बटेश्वर (आगरा) उन्नाव, महोबा (हमीरपुर), अहिच्छत्र (बरेली), सिरोनीखुर्द (ललितपुर) और मथुरा के अतिरिक्त दूबकुण्ड (ग्वालियर) मध्य प्रदेश की भी हैं।

मथुरा की प्रतिमाएँ कंकालीटीले की प्रभूत मात्रा में हैं। ये लेखयुक्त, लेख रहित, खड़ी व बैठी, सर्वतोभद्र (चौमुखी), चतुर्विंशतपट्ट व आयागपट्टादि कई रूपों में हैं।

सुधी पाठकों के निमित्त यहा पर 24वें तीर्थङ्कर भगवान महावीर के कुछ शिलालेखीय साक्ष्य ईसा पूर्व से 12वीं शती ईस्वी तक के यहाँ प्रस्तुत हैं।

---

1 रा संग्र सल्यक—जे 1
2 „ „ „ —जे 24
3 „ „ „ —जे 19

प्रथम आयागपट्ट[1] लिपि के आधार पर ईसा पूर्व प्रथम शती का है। वास्तव में पूरा आयाग पट्ट (टेबटेल आफ होमेज) था किन्तु अब टुकड़ा मात्र ही है। मध्य में भद्रासन व नीचे एक मछली (चित्र नहीं आये है) तथा नीचे लेख 'नमो अरहतो वध मानस्य' सुस्पष्ट है।

दूसरा भी आयागपट्ट का ही भाग है, इस पर "नमो अरहतोमहावीर"—.........ही बचा है शेष लेख अप्राप्त है। ऊपर चक्र तथा भीतर आठ दिक्कुमारिया मण्डलाकार बनी है।[2]

तीसरा भी आयागपट्ट है जिस पर अमोहिनी बनी है और अरहत पूजा के लिए बना था। यह लेख शोडाप सं० 42 है। 57 को शक संवत् मान कर 57 – 42 = 15 ई० का है जिससे अधिकांश विद्वान सहमत हैं। यहाँ लेख "नमो अर्हतो वर्धमानस...........—....—................" से प्रारम्भ होता है। वर्द्धमानस्य के स्थान पर "वर्धमानस" .इसके अपभ्रंश रूप की ओर इंगित करता है।

चतुर्थ चरण चौकी[3] (चित्र 2) जो शक संवत् 29 अर्थात् 57–29 = 28 ईस्वी की है। इस चरण चौकी पर चतुर्विधसंघ अर्थात् साधु, साध्वी, उपासक व उपासिकाओं का अंकन है, के मध्य धर्मचक्र रखा है। चौकी के ऊपर व नीचे लेख ब्राह्मी लिपि व अपभ्रंश संस्कृत में है। प्रथम पंक्ति में रेखांकित भाग में देखे उत्कीर्ण है—

..................भगवतो वधमानस प्रतिमा..........................

संग्रह में एक ऐसी भी खण्डित प्रतिमा है जिसकी चरण चौकी[4] पर ऊपर "नमो अर्हततो महावीरस्य स..........तथा तीसरी पंक्ति में...........वर्धमान प्रतिमा......." अर्थात् एक ही स्थान पर "महावीर" और "वर्धमान" दोनो उल्लेख उपलब्ध हुए हैं। चित्र में 3 पंक्ति सुस्पष्ट नही है किन्तु कुछ अक्षरो का आभास मात्र है।

इन निदर्शनों के अतिरिक्त कुषाणकाल की कुछ प्रतिमाओं पर वधमानस्य[5], वर्धमान प्रतिमा[6], वर्धमानस्य[7], वध[8]......................,...............वर्धमान प्रतिमा[9]...............वर्धमान

---

1 रा० संग्र० सं० जे० 256 चि० 1
2. ,, ,, ,, जे० 248
3. ,, ,, ,, जे० 14 चि० 2
4. ,, ,, ,, जे० 34 चि० 3
5. ,, ,, ,, जे० 5
6. ,, ,, ,, जे० 9
7. ,, ,, ,, जे० 16
8. ,, ,, ,, जे० 22
9. ,, ,, ,, जे० 45

प्रतिमा[1] , महतामवर्धमानस्य[2] ,वर्धमानस्यो[3], भगव • वर्धमानस्य[4] प्र
" समुपलब्ध हैं ।

गुप्तकाल की सग्रह मे कोई भी ऐसी प्रतिमा नही है जिस पर अर्हत वधमान या महावीर का उल्लेख हो ।

किन्तु स 1080 – 78 = 1002 ई की चौमुखी[5]—सवतोभद्र भी महत्वपूरण है जो ककाली टीले से ही उपलब्ध हुई है । इस चौमुखी पर तीर्थंकर चारो ओर बैठे हैं । उत्कीरण लेख की तीसरी पक्ति पर "वर्द्धमान चतुर्विम्ब" स्पष्ट है ।

लखनऊ स्थित, नेमिनाथ मन्दिर चौक से 1972 मे कुछ खण्डित जैन प्रतिमाएँ आयी थी इनमें एक प्रतिमा[6] के पीछे लेख है "महावीर प्रतिमा' देवनागरी मे है । यह वारहवी शती की प्रतिमा है ।

एक पचतीर्थी श्रावस्ती की है[7] इसके लेख मे वीर प्रतिमा उत्कीर्ण है । यह सवत् 1236 – 78 = 1168 ई की है । अस्तु भगवान महावीर के पाँच नाम वर्द्धमान, महावीर वीर, अतिवीर व सन्मति मे स तीन वर्धमान, महावीर व वीर के अभिलेखीय साक्ष्य लखनऊ सग्रहालय के सग्रह मे देखे जा सकते हैं । □

शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी
सपर्या 223/10 रस्तोगी टोला,
राजा बाजार, लखनऊ

1 रा० सग्र० स० जे० 53
2 " " " जे० 59
3. " " " जे० 65
4 " " " जे० 66
5 " " " जे० 236 चि 4
6 " " " 72 4
7 " " " जे० 880

णेमिणाह चरिउ (लखमदेव) की पाण्डुलिपियां

□डॉ. प्रेम सुमन जैन
अध्यक्ष–जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग
सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

जैन साहित्य में नेमिनाथ तीर्थङ्कर के जीवन और साधना को विषय बनाकर कई कवियो ने चरित ग्रन्थ लिखे हैं। सर्वप्रथम आगम एव पुराण ग्रन्थो मे नेमिनाथ के चरित का वर्णन प्राप्त होता है।[1] आठवी शताब्दि में अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू ने इस कथानक को लेकर 'रिट्ठणेमिचरिउ' के नाम से स्वतन्त्र रचना प्रस्तुत की।[2] लगभग 12वी शताब्दि में नेमिनाथ के जीवन पर प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत के कवियों ने विभिन्न रचनाएं लिखी है।[3] बारहवी शताब्दि के अपभ्रंश कवि लक्ष्मणदेव (लखमदेव) द्वारा रचित 'णेमिणाह चरिउ' एक महत्वपूर्ण कृति है, जो अभी तक अप्रकाशित है।

णेमिणाह चरिउ (लखमदेव) की इस रचना की एक पाण्डुलिपि हमने ऐलक पन्नालाल जैन सरस्वती भवन, उज्जैन से प्राप्त की है।[4] अपभ्रंश के विद्वानो के लिए यह प्रति अज्ञात थी। किसी ने इसका विवरण या सूचना आदि अपने ग्रन्थों मे नही दी है। उज्जैन की यह प्रति वि. सं 1510 मे लिखी गयी किसी मूल प्रति की प्रतिलिपि है। इस प्रति मे कुल 29 पत्र हैं। पं. परमानन्द शास्त्री ने अपनी प्रस्तावना मे यह तो संकेत किया है कि णेमिणाह चरिउ की सबसे पुरानी प्रति वि सं. 1510 की लिखी हुई प्राप्त हुई है।[5] किन्तु यह मूल प्रति कहा है, अथवा किसे प्राप्त हुई है, इसका कोई उल्लेख उन्होंने नही किया है। ग्रन्थ का परिचय उन्होने पंचायती दि. जैन मन्दिर, दिल्ली के भण्डार मे उपलब्ध प्रति के आधार पर दिया है।[6] अपभ्रंश के शोधी

1. देवेन्द्र मुनि शास्त्री, "भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण एक अनुशीलन, उदयपुर, 1971
2. जैन, देवेन्द्र कुमार; रिट्ठणेमि चरिउ (प्रथम भाग), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1985
3. चौधरी, गुलाबचन्द्र; जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 6, पार्श्वनाथ जैन विद्याश्रम, वाराणसी, पृ. 115–117
4. इस प्रति की प्राप्ति के लिए हम विद्वद्वर पं. दयाचन्द जी शास्त्री, उज्जैन के आभारी हैं।
5. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह (द्वितीय भाग), दिल्ली 1963, प्रस्तावना पृ. 89–90
6. वही, प्रशस्ति संख्या 3[illegible], पृ. 56–57

विद्वान् डॉ देवेन्द्र कुमार शास्त्री ने भी अपनी सूची मे इस वि स 1510 की प्रति का कोई विवरण नही दिया है। हमे उज्जैन मे इस प्रति की प्रतिलिपि तो उपलब्ध हो गयी, किन्तु मूलप्रति अभी भी अन्वेषणीय है। इसे इस ग्रन्थ की प्रथम प्रति माना जा सकता है।

इस ग्रन्थ की दूसरी प्रति पचायती दि जैन मन्दिर दिल्ली मे उपलब्ध है, जो वि स 1522 की लिखी हुई है। अगहन सुदी 10, भौमवार को यह प्रति लिखि गयी थी। इस प्रति मे कुल 52 पत्र हैं। 45 वा पत्र उपलब्ध नही है। पत्र की साइज $10\frac{1}{4} \times 4\frac{1}{2}$ इच है। इस प्रति के अतिम भाग मे ग्रन्थकार की प्रशस्ति दी हुई हैं। उससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ आषाढ की तेरस को आरम्भ किया गया था एव चैत की तेरस को इसकी रचना पूर्ण हो गयी थी—

आरभिउ आसाढहि तेरसि[1], भउ परिपुण्ण चइतिय तेरसि।
सधि 4, घत्ता 22

किन्तु इस प्रति मे रचनाकाल नही दिया हुआ है।

इस णेमिणाह चरिउ की तीन पाण्डुलिपिया सरस्वती भवन नागौर के ग्रन्थ भण्डार मे उपलब्ध हैं। इनमे से दो प्रतियो का परिचय प्रो देवेन्द्र कुमार शास्त्री ने दिया है, जिन्हे यहा इस ग्रन्थ की क्रमश तृतीय एव चतुर्थ प्रति कहा जा सकता है।[2]

ग्रन्थ की यह तृतीय प्रति वि स 1529 मे श्रावण कृष्णा 11 को लिखी गयी है। इसमे 58 पन्ने हैं, जिनकी साइज $10\frac{1}{2} \times 4\frac{3}{4}$ इच है। डा पी सी जैन ने इस प्रति का लेखनकाल स 1559 दिया है।[3]

चतुर्थ प्रति मे कुल 65 पन्ने हैं, जिनकी साइज $9 \times 4\frac{1}{2}$ इच है। इसका लेखनकाल स 1519, वैशाख कृष्णा 13 रविवार है।

इस ग्रन्थ की एक प्रति और सरस्वती भवन, नागौर मे उपलब्ध है। इसमें 54 पन्ने हैं, जिनकी साइज $10\frac{3}{4} \times 4\frac{3}{4}$ इच है। इस प्रति मे लेखनकाल भी नहीं दिया हुआ है। प्रति की अवस्था भी अति जीर्ण शीर्ण है। इसे इस णेमिणाह चरिउ की पाचवी प्रति कहा जा सकता है।

णेमिणाह चरिउ (लखमदेव) की इन पाचो प्रतियो का एक साथ मिलान करने पर ग्रन्थ के सशोधित पाठ को तैयार किया जा सकता है। इस अध्ययन से ग्रन्थकार एव रचनाकाल के

1 उज्जैन की प्रति मे 'आसाढ-सियतेरसि' पाठ है, जिससे स्पष्ट है आषाढ शुक्ला तेरस को यह ग्रन्थ प्रारम्भ हुआ था।

2 शास्त्री, देवेन्द्र कुमार, अपभ्रश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तिया दिल्ली, 1972, पृ 138

3 जैन, पी सी, ए डिस्क्रिप्टिव केटलाग ऑफ मेनुस्क्रिप्टस् इन 5 भट्टारकीय ग्रन्थ भण्डार नागौर जयपुर 1985 पृ 130

सम्वन्ध में भी कुछ प्रकाश पड सकता है। हमने उज्जैन की पाण्डुलिपि को फिलहाल आद्योपान्त पढ़ा है। अत यहां उसी का विशेष परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

उज्जैन भण्डार से प्राप्त इस प्रति में कुल 29 पन्ने है, जो दोनों ओर लिखे हुए हैं। इनकी साइज $12\frac{1}{2} \times 6\frac{3}{4}$ इंच है। एक पृष्ठ पर 14 पंक्तियां है एवं प्रत्येक पंक्ति में 50 अक्षर हैं। प्रति स्पष्ट एवं प्राय: शुद्ध लिखी हुई है। सं. 1510 मगसिर वदी 10 को लिखी गयी मूल प्रति से यह नयी प्रति लिपि सं. 1983 में फागुन शुक्ला द्वितीया को की गयी है। सम्भवत: इस प्रति के लेखनकर्ता गोराणिया गोत्र के ब्र. नरसिंह है, जो मुनि मदनकीर्ति के शिष्य एवं पद्मनंदि के प्रशिष्य थे।[1]

इस प्रति का आदि एवं अन्त भाग इस प्रकार है—

आदिभाग

ओं नम: ।। सिद्धेभ्य: ।। अथ श्री नेमिनाथ चरित प्रारभ्यते

श्री वीतरागायनम: ।।

विसरह-धुर-धारउ विस्सवियारउ विसम विसय विसकिउ विलउ।
पणममि वसु गुणहरु वसुधरु तियवरु वारियलंछणु गुणणिलउ ।।

कड़वक 1

जय रिसह रहिय-रय-रय सरुव, जय अजिय णाय-णाय दिव्वतूव।
जय संभव भव-कारण कुयारि, जय अंहिणंदण गय गिह कुणारि ।।

—— .... —— .... ——

घत्ता

ए जिणवर गुणसारा, गइणइतारा, देहि वुल्कि जइ विमल मह।
ता रयमि चरियवरु, कोउहलहरु, णेमिणाहरायमइ सह ।।1।।

अन्तभाग

णंदउ एहु गंथु चिरुकालें, संबोहउ भव्वयणहं जालइं।[2]
णंदउ धम्मसत्थु परमेट्ठिहि, मगलु देउ णेमिजिणु गोर्विहि।
णंदउ णरवइ जण-संजुत्तउ, जणु होज्जउ वरधम्मासत्तउ।
पच्चउ सेइणि वहु फलदाइणि, णासउ दुम्मउ जण अनुहावणि।

—— .... —— .... ——

1. श्री पद्मनंदी शिष्यमुनि मदनकीर्तितत्शिष्य ब्र. नरसिंह गोराणिया गोत्रे —— —— ——। ग्रन्थ के अन्त में अंकित।
2. दिल्ली की प्रति में इस मंगल वाक्य के स्थान पर कवि परिचय का कड़वक 21 एवं घत्ता 21 दिया हुआ है, जो इस उज्जैन प्रति में ग्रन्थ के प्रारम्भ में कड़वक 2 में दे दिया गया है।

पउरवाडकुल कमलदिवायरु, विणयचेतु सघहु (मय) सायरु ।
धणकण पुत्त-प्रत्थ सपुण्णउ, ग्राइस रावउ रूव-खण्णउ ।
तेण वि कयउ गथ अकसायहु, वधव अम्मएव सुसहावइ ।
कम्मक्खय णिमित्तु ग्राहासिउ, अमुणतेण पमाणु पयासिउ ।
जइ हीणाहिउ किउ वाएसरि, णाणदेवि त दवमि परमेसरि ।
लक्खण छदहीणु ज भासिउ, त बुहयण सोहेवि पयासिउ ।
आरभिउ ग्रासाढ सिय तेरसि, भउ परिपुण्णु चइतहि तेरसि ।
जो पढइ सुणइ जो लिहइ लिहावइ मणवधिउ सोक्खु सो पावइ ।

घत्ता (छूटा है)[1]

इय णेमिणाह चरिए अवुहकय-रयण सुग्र लक्खमएतेण विरइए भव्वयण-जण-मणाणदे णेमि मिणिह्याणमेणी णाम चउत्थो परिच्छेग्रो समत्तो। ।।सधि 4।।

यह णेमिणाह चरिउ कुल चार सधियो (परिच्छेदो) का ग्रन्थ है, जिनमे कुल 82 कडवक हैं। प्रथम सधि के 19 कडवको मे तीर्थंकर वन्दना सरस्वती वन्दना, मालवदेश एव कवि परिचय, श्रेणिक की प्रार्थना पर गणधर द्वारा नेमिनाथ के चरित का वर्णन, नेमिकुमार का जन्म एव इन्द्रादि द्वारा जन्माभिषेक का वर्णन है। इस सधि में दुर्जन एव सज्जन वर्णन के प्रसग मे कवि कहता है कि मैं अधिक वर्णन क्या करूँ क्योकि दुर्जनो के स्वभाव से डरता हूँ। ईर्ष्या करना उनका स्वभाव है। जैसे, उल्लू सूर्य के प्रताप को सहन नहीं करता उसी प्रकार दुर्जन लोगो को अनुराग नहीं करता। उनके इस स्वभाव को जानना चाहिए कि वे दूसरो के गुण को छोडकर उनके दोषो को ही ग्रहण करते हैं—

जिह कोसिउ ण सहइ रविपयाउ, तिह खलु ण करेइ जणाणुराउ।
जाणेव्वउ इय दुज्जणु-सहाउ, गुण मेल्लेवि दोसु गहेइ पाउ ।।
—सधि 1, कडवक 3

ग्रन्थ की दूसरी सधि मे णेमिकुमार की बाललीला शिक्षा ग्रहण, युवावस्था, वसन्तवर्णन, जलक्रीडा, विवाह निश्चय, राजमती का सौन्दर्य वर्णन, बारात प्रस्थान, पशु बन्धन से वैराग्य धारण एव राजमति और नेमिनाथ के बीच प्रश्नोत्तर आदि का वर्णन 23 कडवको मे किया गया है। नेमिनाथ जब पशुओ के वध की बात को सुनकर वैराग्य धारण कर तपश्चर्या के लिए चले गये तब उनके विरह मे दुखी होकर राजमती सोचने लगी कि क्या मैंने पूर्व जन्म मे फलो से युक्त वृक्ष को

2 यह घत्ता दिल्ली प्रति मे इस प्रकार है—
ज हीणाहिउ मत्त विहूणिउ साहिउ गयउ अयाणि ।
त मज्झु खमिव्वउ लहु दय-किज्जउ माहु लोउग्गमणि ।।22।।

तोड़ दिया था. जिसके कारण से भाग्य मुझे यह दुःख दे रहा है ? क्या पूर्व जन्म में मैंने दूसरे के द्रव्य का हरण किया था जो मेरे इस प्रियतम रूपी द्रव्य को मुझ से छीन लिया गया—

किं परभवि भग्गउ सहल रुक्खु, तं आयण्णिवि दिण्णउ देव दुक्खु।
किं परभवि हरयउ परहे दव्वु, तं दइयइ-दुहु दावियउं सव्वु ।।

संधि 2, कड़वक 17

तीसरी संधि के कडवक 1 से 10 तक मे राजमती की सहेली मदनसिरी राजमती की ओट में नेमिकुमार से वातचीत करती है एवं तप को निरर्थक सिद्ध करने के लिए कई उक्तियां देती है। इन सबका जवाब नेमिकुमार देते हैं और इंद्रियसुख की असारता को सिद्ध करते है। मदनश्री कहती है कि हे कुमार ! आपको सब सुख प्राप्त है तो आप उन्हें छोड़कर तप को जा रहे हैं जबकि ससार के लोग इन्ही सुखो की प्राप्ति के लिए जीवन भर प्रयत्न करते रहते है। यह संसार भी विचित्र है। जिस मनुष्य के घर में अन्न भरा है, उसे भोजन के प्रति अरुचि है और जिसको भोजन के प्रति आसक्ति है, उसके पास अनाज नही है। जिस व्यक्ति मे दान का उत्साह है, उसके पास धन नही है और जिसके पास धन है उसे अति लोभ है, अतः वह दान नही कर पाता। जिसमे काम के प्रति राग है, उसके भार्या नही है और जिसके भार्या है, उसका काम शान्त हो गया है—

जसु गेहि अण्णु तसु अरुइ होइ, जसु भोयसत्ति तसु ससु ण होइ।
जसु दाणु छाहु तसु दविणु णत्थि, जसु दविणु तासु अइ लोह अत्थि।
जसु मयणराउ तसु णत्थि भाम, जसु भाम तासु उच्छउ ण काम।

संधि 3 कड़वक 2

चतुर्थ संधि मे नेभिकुमार की तपस्या का वर्णन है। समवसरण रचना के वर्णन के वाद जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पांच अणुव्रतों, सामायिक, चार प्रकार के दान, समाधिमरण, अनित्य आदि भावनाओ एवं धर्म के महत्त्व को इस संधि के 20 कडवकों में प्रतिपादित किया गया है। धर्म की महिमा गाते हुए कवि ने उक्तंच कहकर संस्कृत का निम्न पद्य उद्धृत किया है –

भक्ति तीर्थकरेगुरौ जिनमते सघे च हिंसानृतं—
स्तेयब्रह्म-परिग्रह वरु परमं क्रोधाद्यरीणां जयं।
सौजन्यं गुणसंगमिन्द्रियदमं दानं तपो भावनां
वैराग्यं च कुरुध्व निवृत्तिपदे यद्यस्ति गंतुं मनः ।।1।।

कवि-परिचय

णेमिणाह चरिउ (उज्जैन प्रति) की प्रथम संधि के दूसरे कड़वक मे एवं चतुर्थ संधि के अन्त मे जो प्रशस्ति दी गयी है, उनसे कवि लक्खणदेव के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। प्रत्येक संधि के अन्त में दी गयी पुष्पिका में कहा गया है कि अबुधादि रतन-सुत लक्ष्मण द्वारा

लखमदेव के द्वारा रचित भव्यजनो के मन को आनन्द देने वाले इस णेमिणाह चरित मे नेमिकुमार के जन्म नामक प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ ।[1] इस पुष्पिका मे 'अबुधकवि' विशेषण चिन्तनीय है । 'रयण-सुअ' पद से स्पष्ट है कि कवि के पिता का नाम रतन (देव) था । रतनदेव पर-नारियो के लिए सहोदर एव निरभिमानी, धैर्यशाली सज्जन व्यक्ति थे ।[2] कवि की माता का नाम सम्भवत लखमाणा था, जिनका पुत्र लखमदेव विषयो से विरक्त रहता था ।[3]

कवि लखमदेव महिपपुर एव पुरवाडवश का तिलक था । वह रात-दिन ज्ञान और मुनियो की वाणी मे लीन रहता था ।[4] प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कवि का समाज मे अच्छा आदर था । वह धन-धान्य, पुत्र आदि से समृद्ध था और रूप से भी सुन्दर था ।[5] कवि लखमदेव का उनकी इस काव्य-रचना मे उनके बान्धव अबदेव ने अच्छी सहायता की थी—

तेण वि कयाउ गयु अकसायहु ।
बधव अबएव सुसहायहु ॥

इस ग्रन्थ की रचना मे कवि लखमदेव का उद्देश्य अपना कवित्व प्रकट करना नहीं था, अपितु उन्होने अपने कर्मों के क्षय के लिए इस चरित को रचना था ।[6] इसमे उन्होंने प्रमाणिक चरित एव सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है । यत्र तत्र काव्य-गुणो का भी दिग्दर्शन होता है । फिर भी कवि अपने को अल्पज्ञ ही मानता है । ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही वह अपनी विनयशीलता प्रकट कर देता है ।[7] और अन्त मे ज्ञानदेवी वागेश्वरी से कवि क्षमा माग लेता है कि जो कुछ ग्रन्थ मे हीनाधिक कहा गया हो, उसे वह क्षमा करे —

ज हीणाहिउ किउ वाएसरि, णाणदेवि त खमइ परमेसरि ।

यह ग्रन्थ काव्य की अपेक्षा नैतिक उपदेश का ग्रन्थ है । नेमिकुमार जब तपस्या करने लगते हैं तब राजमती एव उसकी सखिया को इन्द्रिय-सुख की असारता समझाते हुए कहते हैं कि जो इन्द्रिय सुख को ही सब कुछ मानता है वह गवार राख के लिए गोशीर चदन को जलाता है, आसन के लिए भारी शिला को कधे पर ढोता है, माणिक्य को देकर गुजाफल ग्रहण करता है क्षणिक

---

1 इति णेमिणाह चरिए अबुहकइ रयणसुअ लक्खमणेण विरइए भव्वयणमण्णाणदे णेमिकुमार सभो णाम पढमो परिच्छेओ समत्तो ।

2 तहि णिवसइ रयण गरुह भव्वु परणारिसहोयरु गलियगव्वु ।

3 लखमाणा मइ तहि तणउ पुत्त, लखमएव णामे विसयहिंविरत्तु ।

4 सधि 1 कडवक 2 की प्रशस्ति ।

5 सधि 4 कडवक 22 की प्रशस्ति ।

6 कम्मक्खइ णिमित्तु आहासिउ अमुणतेण पमाणु पयासिउ ।
सधि 4, कडवक 22

7 सधि 1, कडवक 3

लाभ के लिए विष-फल का भोजन करता है, कौड़ी देने पर अपने करोड़ों के द्रव्य को बेच देता है, शीतलता पाने के लिए अग्नि की ज्वाला में प्रवेश करता है और श्रेष्ठ सवारी को छोड़कर गधे पर चढ़ता है।[1]

ग्रन्थ में अन्यत्र भी प्रेरणादायक सुभाषितों एवं सूक्तियों को कवी ने प्रस्तुत किया है। यथा—

किं जीयइं धम्म विवज्जिएण = धर्मरहित जीने से क्या प्रयोजन ?

सयमेव पसंसिय किं गुणेण = स्वयं की प्रशंसा में कौन सा गुण है ?

इस णेमिणाहचरिउ की भाषा अपभ्रंश का विकसित रूप है। इसमें क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के सकेत उपलब्ध हैं। अनावश्यक रूप से इस ग्रन्थ की भाषा में संस्कृत के समासबहुल शब्दों का प्रयोग देखने को नहीं मिलता है। देशी शब्दों का प्रयोग भी इस ग्रन्थ में कम हुआ है। अपभ्रंश भाषा के प्रमुख छंदो—हेला, दुवई, वस्तु बंध, घत्ता, गाहा आदि का प्रयोग कवि ने किया है। अपभ्रंश में 5–6 कवियों ने णेमिणाह चरिउ नामक ग्रन्थो की रचना की है। उन सब की कथा वस्तु आदि के तुलनात्मक अध्ययन के लिए लखमदेव का का यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न प्रतियों के आधार पर इस पाण्डुलिपि का सम्पादन हमने प्रारम्भ किया है। सम्पादित संस्करण तैयार होने पर ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं मध्ययुगीन संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ नया प्रकाश पड़ सकता है।

—डॉ. प्रेमसुमन जैन
29, सुन्दरवास
उदयपुर 313001

---

1. छारहो कज्जइं गोसीरु डहइ, आराणा णिमित्त तिल-कवि वहइ।
गुंजाहलु लइ माणिक्कु दइ, आयहो णिमित्तु विसहरु धरेइ।
विक्किणइ कोडि कवड्डिय पयाणु, पइसइ हुयवाहे सीय-ठाणु।
आरुहइ खरहो मिल्लिवि तुरंगु, जो इंदिय-सुह मागइं गवारु।।
संधि 3, कड़वक 9

आदिकालीन हिन्दी साहित्य मे जैनरासो काव्य-परम्परा

☐ डा० लक्ष्मीनारायण दुबे

आदिकालीन हिन्दी साहित्य (सन् 1000 से 1400 ई सन्) मे भारत के अन्य धर्मों के समान जैन धर्म की भी प्रमुखतया चर्चा मिलती है। तत्कालीन लोक जीवन तथा लोक चेतना जन संस्कृति के साथ कितनी सम्पृक्त तथा प्रतिबद्ध थी—इसका व्यापक, गहन एव यथार्थ प्रतिबिम्ब हमे आदिकालीन हिन्दी काव्य मे मिलता है। यद्यपि इस काल मे लगभग सौ के करीब रासो काव्य लिखे गये परन्तु उनमे चालीस को विशेष महत्व मिला। जन संस्कृति की महत्ता तथा गरिमा इसी बात से ही सर्वथा सुस्पष्ट है कि इस चालीस मे से छत्तीस रासो जैन धर्म से सम्बन्धित हैं और इनमे जैन संस्कृति के विभिन्न पक्षो तथा स्तरो का पर्याप्त विवेचन है। प्रमुख जैन रासो काव्य का कालक्रमानुसार सूची अधोलिखित रूप में है—

1 जिनदत्त सूरि—उपदेश रसायन रास (12वी शती)
2 वज्रसेन सूरि—भरतेश्वर बाहुबलिघोर रास (1169 ई)
3 शालिभद्र सूरि—भरतेश्वर बाहुबलि रास (1184 ई)
4 ,, —बुद्धिरास (1184 ई)
5 आसगु—जीवदयारास (1200 ई)
6 ,, —चन्दनबाला रास (1200 ई)
7 धर्म सूरि—जम्बू स्वामी रास (1909 ई)
8 धर्म कलश—स्थूलिभद्र रास (1209 ई)
9 विजयसेन सूरि—रेवत गिरि रास (1200 ई)
10 पाल्हण—आबू रास (1232 ई)
11 सुमतिगणि—नेमिनाथ रास (1233 ई)
12 अभय तिलक—महावीर रास (1250 ई)

13. अज्ञात—शान्तिनाथ रास (1251 ई.)

14. लक्ष्मी तिलक—शान्तिनाथ देव (1255 ई.)

15. देल्हण—गय सुकुमाल रास (1268 ई.)

16. अज्ञात—सप्तक्षेत्री रास (1270 ई.)

17. राजतिलक मणि—सालिभद्ररास (1273 ई.)

18. सोममूर्ति—जिनेश्वर सूरि विवाह वर्णन रास (1274 ई.)

19. विनयचन्द सूरि—बारव्रत रास (1281 ई.)

20. अस्तिग—बीस विरह मान रास (1311 ई.)

21 गुणकार सूरि—श्रावक विधि रास (1314 ई

22. मण्डलिक—पेथड रास (1314 ई.)

23. प्रजा तिलक सूरि—कच्छूलि रास (1[illegible] ई)

24. लखामसीइगु—जिन सूरि वर्णन [illegible] (1313 ई.)

25. धर्म कलश—जिन कुशल सूरि [illegible]हाभिपेक रास (1320 ई.)

26. रयणु—मयणरेहा रास [illegible]320 ई.)

27. अज्ञात—रत्नशेखर [illegible] चतु: मनोरास (1343 ई.)

28. सारमूर्ति—[illegible] पदम सूरि महाभिपेक रास (1333)

29. शालिभद्र [illegible]रि—पाच पाण्डव चरित रास (1353 ई)

30. विनय[illegible]—गौतम स्वामी रास (1355 ई.)

31. जि[illegible]दय सूरि—त्रिविक्रम रास (1358 ई.)

32. [illegible]न कलश—श्री जिनोदय सूरि महाभिपेक रास (1358 ई.)

3[illegible] राज तिलक—शालिभद्र रास (1398 ई)

इससे सर्वथा सुस्पष्ट है कि जैन रासो काव्यों का परिणाम अजैन रासो काव्यो से अधिकता लिए हुए हैं। इन जैन रासो काव्यों मे प्रमुखतया जैन धर्म की मान्यताओं, जैन धर्मोपदेशों, पौराणिक जैन आख्यानो, जैन धर्म कथाओं, जैन धर्मात्माओ की जीवनियां, जैन तीर्थो जैन मन्दिरो, सप्तक्षेत्रों आदि से सम्बन्धित विवेचन मिलता है परन्तु ये सम्पूर्ण रूप में भारतीय संस्कृति के प्रधान उपादानों को अपने मे समाविष्ट करते हैं। इनमें अहिंसा, तप, ब्रह्मचर्य, कर्म, नय ज्ञानादि के स्फुरण यत्र-तत्र-सर्वत्र मिलते है।

तत्कालीन जैनरासो काव्यों में जैन धर्म का विशद तथा गहन प्रतिपादन है। जैनरासो काव्य तत्कालीन जैन संस्कृति के स्रोत और अपनी संस्कृति के अनुकूल [illegible] धर्म को [illegible] करते है। समस्त जैन रासो काव्य जैन धर्म के बाह्य एवं आंतरिक स्वरूपो की [illegible] करते है। [illegible]

शौर्य और ज्ञान—इन चार सस्थाओं की चर्चा का प्राचुर्य है। समूचा आदिकालीन हिन्दी जैन रासो हुए जैन दार्शनिक प्रतिबद्धताओं को भास्वर बनाते हैं। अनेक स्थलों पर चौवीस जिन तथा आदि का उल्लेख है। उपर्युक्त रसायन रास का श्रीगणेश जिन देव के स्तवन से है—

पणमह पास-वीरजिण भाविण ।
तुम्हि सव्वि जिव मुच्चहु पाविण ।
घरववहारि म लग्गा अच्छह ।
खणि खणि आउ गलतउ पिच्छहु ।

आचार्य जिनदत्त अपने गुरुदेव जिनवल्लभ सूरि को माघ तथा कालिदास आदि से श्रेयस्कर बताते हैं—

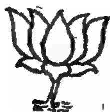
मवव—
दव्वु लित्तु नच्छियउ जु भवखइ ।
वि परियाणइ ॥

जीवदया रास का आरम्भ सरस्वती-वन्द से है—

उर सरसति आसिगु भगइ, नवउ जीवदया-सारू ।
कनु धरिवि निसुणेहु जण, दुतरू जे तरहु ससारू ॥

कुछ जैनरासो काव्यों का सृजन सिर्फ जैन धर्म-तत्व के प्रसार के निमित्त ही किया गया है यथा उपदेश रसायन रास। इन जैन काव्यों में अभिनव जीवन-दर्शन एवं दार्शनिक संस्कृति की विवेचनाएँ समाविष्ट हैं। समस्त जैन रासो काव्यों में युगीन धार्मिक परिवेश, दर्शन तथा आचार निष्ठा को सम्यक प्रतिबिम्ब मिला है जिसका समाजशास्त्रीय महत्व विशिष्टता ग्रहण किये हुए है। जैन मतावलम्बित रासो काव्यों में जैन धर्मशास्त्रों की सन्निति है। पूर्व मध्यकाल, विशेषकर राजपूत काल एवं सल्तनत युग के पूर्वार्द्ध के भारत में जैन धर्म की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति के यथार्थ बोध से अवगत होने के लिए उपरिलिखित जैन रासो काव्य प्रामाणिक सन्दर्भ, शब्द कोश तथा सच्चे मुकुर का कार्य करते हैं। □

राष्ट्रीय फेलो और राष्ट्रीय रिसर्च एसोसिएट,
ब-6, प्रोफेसर्स बंगले, सागर विश्वविद्यालय
सागर 470-003 (म. प्र.)



चतुर्थ खण्ड

नये प्रयास



WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM



अहंकार

☐ हरख चन्द्र साह

एक दुर्गुण ऐसा है, जिससे संसार में कोई भी मनुष्य मुक्त नही है। उसे दूसरो मे देखकर हर मनुष्य घृणा करता है, पर शायद ही कभी सोचता है कि वह खुद भी उसका शिकार है। लोगों को अपने अन्य कई दुर्गुणो को स्वीकार करने मे सकोच नही होता परन्तु इस एक दुर्गुण को वे शायद ही कभी स्वीकार करते हैं।

वह दुर्गुण है—अहंकार। ईसाई धर्म व अन्य धर्मो के अनुसार अहंकार सबसे बडा पाप है और उसकी तुलना में लालच, क्रोध, बेईमानी आदि दुर्गुण बहुत छोटे है। अहंकार ने ही शैतान को वास्तव में शैतान बनाया। अहंकार समस्त दुर्गुणो को जन्म देता है।

अगर आप जानना चाहते हैं कि आप कितने अहंकारी है तो खुद अपने आपमे पूछिये—"जब लोग मेरी ओर ध्यान नही देते या महत्त्व को मानने से इन्कार करते हैं तो मुझे कितना बुरा लगता है।" जितना ही ज्यादा बुरा लगता हो, समझिये कि अहंकार का अंश आपमे उतना ही ज्यादा है। हर व्यक्ति का अहकार दूसरे व्यक्ति के अहंकार से टक्कर लेना चाहता है। अन्य दुर्गुणो की तुलना मे अहंकार में प्रतिस्पर्धा का यह भाव बुनियादी तौर पर पाया जाता है।

अहंकार की दृष्टि किसी चीज को पाने मे नही, बल्कि उस चीज को दूसरे की अपेक्षा ज्यादा पाने मे होती है। यह कहा जाता है कि लोग अपनी अमीरी, बुद्धिमता या सुन्दरता पर अहंकार करते हैं पर यह सही नही है। लोग अहंकार करते है दूसरो से बढ़कर अमीर, बुद्धिमान या सुन्दर होने पर। तुलना की भावना ही हमे अहंकारी बनाती है और हम यह सोचकर खुश होते है कि हम दूसरों से श्रेष्ठ हैं। यह अच्छा कि मैं दूसरे व्यक्ति से ज्यादा अमीर कहलाऊं और यह भी कि मैं उससे ज्यादा शक्तिशाली भी बनू, अहंकार है।

अहंकार ही प्रत्येक देश मे और प्रत्येक घर में दुःखों का मूल कारण है। अहंकार हमेशा एक देश को दूसरे देश से व लोगो को एक दूसरे से दूर रखता है। उनमे दुश्मनी पैदा करता है। वास्तव में अहंकार ही दुश्मनी है। मनुष्य सबसे बड़े दुर्गुण अहंकार का शिकार बनकर जीने लगता है और अहंकार उसमे कई और दुर्गुण पैदा कर देता है।

अहकार के कारण पाप करते समय प्राणी यह भूल जाता है कि मे अकेला ही आया था और अकेला ही जाने वाला हूँ। वह यह भूल जाता है कि जिस रग रूप और यौवन पर मैं आसक्त हू वह नश्वर है।

बाहुबली ने दुष्कर तप किया था, किन्तु मन मे अहकार नृत्य कर रहा था इसलिये केवल-ज्ञान प्राप्त नही हो सका। पर जब बाहुबली को यह समझ मे आता कि मेरे केवल ज्ञान मे बाधक है मेरा अहकार उसी समय उनके मन से अहकार निकल गया और उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया और भगवान बन गये।

जो व्यक्ति अपने मन मे नम्रता पैदा करना चाहता है, उसके लिये इस दिशा मे पहला कदम यह है कि वह महसूस करे कि मैं अहकारी हू। अगर हम समझते हैं कि हममे अहकार नाम मात्र को भी नही है तो समझ लीजिये कि हम अहकारी हैं।

कही ज्ञान का अहकार तो मुझमे नहीं बढ रहा? कही पद और सत्ता के नशे में तो मैं नही झूम रहा? वाणी और लेखनी से दो शब्द लिख बोल सकने की टूटी फूटी आदत को लेकर अभिमान मे तो नही भूल रहा? धन का दर्प, रूप, यौवन का गर्व तो मुझे भटका नहीं रहा है? मैंने अपने अह वश, लोभवश पद पर चिपके रहने की भावना से अपने आसपास विरोधियो की भीड तो एकत्र नही करली है? मेरी सामायिक, मेरी तपस्या और त्याग कही मुझे महान और दूसरो को तुच्छ तो नही समझने लगा है? सार्वजनिक जीवन मे एव व्यवहारिक जीवन में मैं किसी का दमन शोषण और उत्पीडन तो नही कर रहा हू? निज को निहारना हमारा यह "मैं" भेट अहकार से मुक्ति दिलाता है। जैन धर्म की यही प्रेरणा है। जैन धर्म जीवन धर्म है। जैन धर्म आचार प्रधान है और अन्तर शुद्धि पर बल देता है। परमात्म पद की प्राप्ति मन, वचन और शरीर को शुद्ध करके सब जीवो के प्रति समता के व्यवहार से ही हो सकती है।

5 भ जवाहर नगर, जयपुर-302004



भावी पर्याय और उसकी आयु रचना

☐ वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल

(मरने के बाद कौनसी पर्याय प्राप्त होगी, यह जिज्ञासा करीब करीब सभी मनुष्यों में रहती है, लेकिन इसका समाधान कितने मनुष्य कर पाते हैं ? जैन शास्त्रों में इस प्रश्न का विस्तार से समाधान किया गया है—लेखक)

प्रश्न—पर्याय मनुज देवों की या तिर्यन्च, नारकी की होवे ।
या हो निगोदिया जीवों की किस विधि यह जीव उसे पावे ।।

उत्तर—निज भावों वश ही जीव यह पर्याय चतुर्विध पाता है ।
प्रतिक्षण के भाव बनें इसके, वैसी पर्याय रचाता है ।।1।।
नाटक में जिस विध क्रम क्रम से, सब दृश्य संजोये जाते हैं ।
उनका इक भाव बने जैसा ही, नाम उसे दे देते हैं ।।2।।
इस विधि ही आयुबन्ध समय जो, भाव सन्तुलित बनते हैं ।
वह निर्माता भावी गति का, ऐसा ही जिनवर कहते हैं ।।3।।
यदि अशुभ कर्म बहुतायत में हो, पर्याय अशुभ वह पाता है ।
शुभ कर्मों का बाहुल्य यदि हो, शुभ गति निश्चित पाता है ।।4।।
कोई बिच्छू या सर्प बने, कोई स्वर्गों में जाता है ।
कोई मानव या नारक बने, निज अर्जित गति को पाता है ।।5।।

देवगति—जो मन्द कषायी होता है, संयम गुण निज में लाता है ।
आरम्भ परिग्रह अल्प करे, आचरण देवसम करता है ।।6।।
तप त्याग युक्त जीवन उसका, जीवों को दुख ना देता है ।
वह देव तुल्य जीवन व्यतीत कर, देव गति पा लेता है ।।7।।

नरक गति—जो तीव्र कषायी होता है, जीवो को बहु दुख देता है ।
जग से लड़ता जीवन खोता, वह नरक गति में जाता है ।।8।।
पर के दुख को ना दुख समझे, वह स्वार्थ साधना करता है ।
आरम्भ परिग्रह बहुत करे, वह नरक गति में जाता है ।।9।।

मनुष्य गति—आरम्भ परिग्रह अल्प करे जीवन अति नम्र बिताता है ।
उपकार करे सब जीवों का, वह दान चतुर्विध देता है ।।10।।

ऐसे जीवों में मानवता उनके निज कार्य दिखाते हैं ।
वे गति मनुष्य की प्राप्त करे, अरु सुखमय जीवन पाते हैं ॥11॥

तिर्यन्च गति—मायाचारी जो वहुत करे, सबको वे धोखा देते हैं ।
मन वचन काय मे पृथक् पृथक्, तिर्यंच गति मे जाता है ॥12॥

तियन्च सभी टेढे मेढे निज वक्र भाव वश पाते हैं ।
दुनिया को जो ठगना चाहे, वे खुद को ही ठग लेते हैं ॥13॥

उपरोक्त कथन एक सकेत मात्र है। वस्तु स्थिति तो यह कि चोरासी लाख योनियों के लिये चोरासी लाख तरह के ही भाव बनते हैं। जीव अपने जीवन काल मे जिन भावो मे जीता है वे भाव ही उसकी भावी पर्याय का निर्माण करते हैं। जीव जैसे भाव बनाता है वैसा ही ढाचा प्रतिक्षण बन रहा है, आयु की समाप्ति पर वह ढाचा उस जीव के निवास के लिये तैयार मिलता है और वह जीव वर्तमान शरीर छोडकर स्वोपार्जित उस शरीर में जाकर निवास कर लेता है। भावी पयाय की आयु रचना तो इसी जन्म मे हो जाती है, उसका उदय वतमान पर्याय की समाप्ति पर होता है। वतमान आयु का दो तिहाई भाग समाप्त होने के प्रथम समय मे भावी (पर्याय) की आयु का बन्ध होता है। दो तिहाई समय में जिन भावो मे जीव जीया है, उन सम्पूर्ण भावों के औसत भाव यदि उस समय हो तब ही भावी आयु का बन्ध होता है, अन्यथा नही। दो तिहाई आयु पूर्ण होने पर औसत स्तर के भाव यदि न हों तो भावी पर्याय की आयु का बन्ध नहीं होता। इस प्रकार के आठ अवसर मिलते हैं और आठो अवसरो के विफल होने पर मृत्यु के समय आयु बन्ध अवसर होता है।

उदाहरण—मान लीजिये एक मनुष्य की आयु साठ वष की है तो उसकी आयु के निम्न आठ अवसर आयुबन्ध के लिये होते हैं—

प्रथम अवसर	द्वितीय अवसर	तृतीय अवसर	चतुर्थ अवसर
40 वष	53 वष 4 मास	57 वष 9 मास 10 दिन	59 वष 3 मास 3 दिन 20 घडी

इसी प्रकार आगे भी शेष आयु के दो तिहाई व्यतीत होने पर आयुबन्ध के आठ अवसर (अपकर्ष) हैं।

आगम कहते हैं कि आयुबन्ध होने के पश्चात् उसको घटाया और बढाया जा सकता है। राजा श्रेणिक ने सप्तम नरक की तेतीस सागर की आयु का बन्ध किया था, लेकिन अपनी गलती समझकर उसने अपना सुधार किया। वह सम्यग्दृष्टि बना और उसने गति सप्तम नरक से प्रथम नरक मे बदलडाली और आयु चौरासी हजार वर्ष की ही रह गई। ऐसा नियम है कि आयुबन्ध होने के बाद वह बदलता नही है केवल उस आयु को अपने अच्छे बुरे कार्यों से कम या अधिक किया जा सकता है। यह भी उपरोक्त आठ अपकर्षों के काल म ही होना है।

———

लेख प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त (उच्च प्राथमिक स्तर)

"आतंकवाद का अन्त अहिंसा के द्वारा ही सम्भव है !"

—कुमारी मीनाक्षी विजय
छात्रा—श्री पद्मावती जैन बालिका
उच्च माध्यमिक विद्यालय, जयपुर

जीवन एवं मृत्यु मानव इतिहास के एक सिक्के के दो पहलू है हम इनमें से मात्र एक का चयन कर सकते है ! इसका प्रमुख कारण यह है कि आज अन्तर्राष्ट्रीय आंतकवाद जीवन के लिए चुनौती के रूप में उपस्थित है ! यदि हम मृत्यु को असंगठित करना चाहते है तो आतंकवाद की ओर कदम बढ़ायेगे ! आज विश्व क्षितिज पर आतंकवाद प्रलय कालीन मेघ की भाँति उमड़-घुमड रहा है ! ये परमाणु युद्ध के भय से भी अधिक भय वह तथा रोमांचकारी है ! आज आतंकवादी गतिविधियों का शिकार भारत ही नही अपितु पूरा विश्व है !

ब्रह्मा की सर्वश्रेष्ठ रचना मानव है ! रचनाकार ब्रह्मा ने बुद्धि एवं विवेक प्रधान मानव से यह आशा कि थी कि "वह धरती के यह नाम अधकार से मुक्त करेगा" महर्षि व्यास जी ने लिखा है कि नाहि मनुस्यात श्रेष्ठतक हि किंचित !

अब यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या मानव ब्रह्मा की अपेक्षाओं को पूर्ण कर रहा है ! उत्तर नकारात्मक मिलता है ! इसका कारण यह है कि मानव आज आतंकवाद की विनाशकारी चादर ओढ़े हुए है।

आतंकवाद के प्रसार के कारण

आतंकवाद के प्रसार के निम्न कारण है—

1. क्षेत्रवाद—क्षेत्रवाद से तात्पर्य है कि जो सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिए जागरूक हो। भारत मे पंजाब आन्दोलन एवं श्री लंका में श्रमिक समस्या इसके प्रमुख उदाहरण है।

2. धर्मान्धता—धर्मान्धता भी आतंकवाद को फैलाने का उत्तरदायी कारण है। जिससे वशीभूत होकर कुछ लोग आतंकवाद को फैलाने के लिए कटिबद्ध हो जाते है।

3 सस्कृतिक—विभिन्न स्थानो पर विभिन्न सास्कृतिक परपराओ का होना भी आतकवाद को फैलाने का उत्तरदायी कारण है। क्योकि अपनी-अपनी सस्कृति पर गर्व करके दूसरी सस्कृति पर तीखा प्रहार किया जाता है।

4 भाषा की विविधता—भाषा की विविधता भी आतकवाद को फैलाने का महत्वपूर्ण कारण है।

5 रग-भेद नीतियों का पनपना—रग-भेद नीतियाँ भी आतकवाद को फैलाने मे बढावा दे रही है।

6 राजनैतिक कारण—कुछ लोग अपने राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए आतकवाद का फैलाने मे तत्पर रहते है।

आतकवाद का प्रभाव

आतकवाद का प्रभाव निम्न चीजो पर पडता है।

1 सामाजिक—आतकवाद का भीषण प्रभाव समाज पर पडता है। इससे समाज मे अनैतिकता, अविश्वास और धर्मान्धता फैलती है। जिससे मनोबल सुसस्कृति विशेष मूल्यो का ह्रास होता है।

2 आर्थिक—आतकवाद से विश्व की आर्थिक क्रियाएँ कमजोर होती है। जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव जनता पर पडता है। आर्थिक क्रियाएँ विश्व के विकास की आत्मा होती है। आतकवाद द्वारा इस आत्मा को झकझोर देने के कारण विश्व आर्थिक दृष्टि से कमजोर होता है।

3 राजनैतिक—आतकवादी गतिविधियाँ अच्छी राजनीति को विखण्डित कर देती है।

4 नैतिक—आतकवाद को नैतिक पतन का प्रमुख कारण कहा जावे तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। इसलिए नैतिक मापदण्डो का विकास आतकवाद के अवरुद्ध हो जाता है। परिणाम-स्वरूप लोगो के आपसी विश्वास मेलजोल से जैसे—महत्वो को ठेस पहुँचती है।

आतकवाद का अन्त

आतंकवाद का समाप्त करने के लिए आतकवादियों का अत किया जा रहा है। इसके लिए महावीर स्वामी और महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक प्रवृत्ति का प्रचार किया जा रहा है। और सरकार आतकवादियो को धीरे-धीरे समाप्त कर रही है। जिससे "न रहेगा बास न बजेगी बासुरी" और आतक का अत हो जायेगा। कहा गया है कि "अति सर्वत्र वर्जयेत" अर्थात अति को सब जगह निषेध माना गया है।

जिस प्रकार की—

"अति कपेण वै सीता, अति गर्वेण रावण !
अति दानाद् बलिर्बद्धो, अति सर्वत्र वर्जयेत !"

अर्थात् अत्यन्त रूपवती होने के कारण सीता का हरण हुआ, अत्यन्त अभिमानी होने के कारण रावण का नाश हुआ और अत्यन्त दानी होने के कारण बलि को बांधा गया। अर्थात् अति को सब निषेध माना गया है ! और उसी प्रकार अति आतंकवाद भी लोगों की अधिक मृत्यु का कारण है ! हिंसा दो प्रकार की होती है—

1. मारकाट और दूसरी, दूसरों के प्रति नफरत की भावना रखना अहिंसा के प्रचार द्वारा हमें इन दोनो का ही अन्त करना चाहिये। अहिंसा का अर्थ होता है ! हिंसा न करना, लोगो की हत्या न करना, दूसरों के प्रति नफरत की भावना न रखना। जैसे:—

"जीओ और जीने दो के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए महावीर स्वामी ने कहा है कि—"ऊर्ध्व लोक, अधोलोक और तिर्यंगलोक" इन तीनों ही लोको में जितने भी प्राणी और स्थावर जीव है हमे उनका प्राणों का विनाश करने से दूर रहना चाहिए। यदि केवल इसी विचार को ससार के सभी प्राणी अपना ले तों संसार में सभी प्राणी सुख का अनुभव प्राप्त कर लेंगे ! वास्तव में जितना प्यारा हमे अपना प्राण है उतना ही दूसरो को भी तो प्यारा है फिर हिंसा क्यो की जाती है !

महावीर के 'अहिंसा व्रत" को अपना कर महात्मा गांधी ने देश को स्वतन्त्र किया जो संसार में एक अनूठा आदर्श है। वास्तव में "अहिंसा की शक्ति असीम है" यह गांधी जी ने दुनिया के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है। महावीर की इस अहिंसा के देन से युग को उबारा जा सकता है फिर अणु युग की क्या आवश्यकता है जिससे संसार भयभीत है। अणु से आकुल यह युग विनाश के कगार पर खड़ा है जिसका अन्त "अहिंसा के द्वारा ही सम्भव है !

महावीर की अहिंसा आज के परमाणु प्रलय को रोकने में पूर्ण समर्थ है। वास्तव में विश्व के कर्णधारों का यह पावन कर्तव्य है कि वे अहिंसा की महत्ता को परख युग को पतन से बचायें।

अहिंसा की आवश्यकता संसार में महसूस की जा रही है किन्तु राजनैतिक परिस्थितियों के कारण व्यवधान पड जाता है। हां एक अवश्य संसार महावीर की अहिंसा देन को अपनायेगा ! तब उसकी आत्मघाती प्रवृत्ति संघर्षों से शान्त हो जायेगी।

महावीर की अहिंसा को राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी विश्व स्तर पर उजागर करने हेतु प्रयत्नशील रहे हैं !

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि महावीर प्रतिपादित अहिंसा विश्व कल्याण की अद्वितीय धाती है। सुख शांति की जननी है। जगत की रक्षा करने वाली आलौकिक शक्ति है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी कहते हैं कि आतंकवादी हमें सताते हैं हम उनसे बचने के लिए उन्हें सजा देते है। उस क्षण वे भाग जरुर जाते है। लेकिन दूसरी जगह जाकर अपना आतंक फैलाते है। इस प्रकार आतंकवादियों का उपद्रव बढता जाता है क्योंकि उन्होंने तो आतंक को अपना पेशा बना लिया हैं। गांधी जी कहते है कि इससे तो बेहतर यह हैं कि आतंकवादियों का आतंक बर्दाश्त किया जाये इतना सहन करने पर गांधी कहते है कि यह इससे उनको समझ आयेगी। आतंकवादी हमसे अलग तो नहीं है हमारे लिए तो सब सगे है, भाई-बन्धु है। इसलिए उन्हें सजा देना भी ठीक नहीं है। लेकिन उपद्रव सहते जाना ही काफी नहीं है इससे तो आतंकवादियों में कायरता पैदा होती है। इसके लिए हम और एक विशेष धर्म महसूस करते है। आतंकवादी यदि हमारे भाई-बन्धु हो तो यह भावना उनमें भी हमें पैदा करनी चाहिए और उन्हें अपनाने के तरीके ढूंढने की जरुरी तकलीफ हमें उठानी चाहिए। "यह हैं अहिंसा की राह" इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आतंकवाद का अन्त केवल अहिंसा मे ही निहित है।

कहा गया है कि — 'अहिंसा परमो धर्म"

अहिंसा को ही परम धर्म माना गया है इसलिए लोगों को हिंसा नहीं करना चाहिए।

————

आतंकवाद का अंत अहिंसा में ही निहित है।

☐ श्री अनिल जैन

अन्धकार जीवन की गति के बाधक है। दूसरे शब्दो मे कहे तो शत्रु अन्धकार से प्रत्येक व्यक्ति डरता है अन्धकार के साम्राज्य कृपक खेती नही कर सकता व्यापारी अपनी दुकाने बन्द कर देते हैं। इतना ही नही पथ के पथिक की अपनी यात्राएँ स्थगित कर देते हैं। इसके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार का अवेरा है। वह जुल्म आतकवाद या अत्याचार का है। इसके अधेरे में दिन भी सूर्य उदय नही होता इस आतंकवाद के अधेरे में कभी पजाव बन्द होता है तो कभी भारत बन्द होता है। इस आतंकवाद के अवेरे में माताओं के पुत्र, बहिनो के भाई, स्त्रियों के सुहाग अभी तक नहीं मिले हैं। इतना ही नहीं उनकी लाशें भी नहीं मिली वे गाव के सरपंच से लेकर देश के प्रधान-मन्त्री तक इस आतंगवाद के अधेरे मे लिप्त थे।

हमारे देश के लोगों ने अहिंसा का मार्ग न अपनाकर हिंसा को अपनाया है। हमारे देश में महात्मागांधी, महावीर स्वामी आदि महान् पुरुषों का जन्म हुआ है उन सभी ने अहिंसा पर जोर दिया कि किसी भी आतंकवाद का अंत हिंसा कतई नही हो सकता उसका उत्तर है प्रेम और मोहब्बत बलिदान और कुरबानी से ही इस पर काबू पाया जा सकता है। देश की आजादी के लिए महात्मा गांधी ने अहिंसा का मार्ग अपनाया फलस्वरूप उन्होंने अनेक विपत्तियां झेलते हुए अहिंसा के मार्ग से ही देश को स्वतन्त्र कराया।

लेकिन आज परिस्थियां ऐसी है कि इस समय पंजाब एक ऐसे चौराहे पर खड़ा है जो काफी भयंकर है। पंजाब इस समय एक भयकर दौर से गुजर रहा है। यह समस्या सिर्फ पंजाब की समस्या नही सम्पूर्ण राष्ट्र की समस्या है। पजाब के लिए जो चुनोतियां है वे पजाब की इकाई के लिए नही पजाब मे रहने वाले व्यक्तियों के लिए नही ये चुनौतियां राष्ट्र के अस्तित्व की समस्या है। जिसका समाधान करना हम सब का कर्तव्य है कोई एक नुस्खा बना देना और कह देना की सब ठीक हो जाएगा मेरे मत में ऐसी परिस्थितियो मे कोई नुस्खा बना देना कोई बड़ी जिम्मेदारी का काम नही।

पजाब के हल के लिए कुछ ऐसे ही तत्व सक्रिय है। जिनकी आस्था कहा है। यह भी सदेहास्पद है। वे लोग आतक के सहारे निर्णय करने पर आमादा है। पजाब के प्रश्न के लिए समुचा राष्ट्र एकमत है। आतकवाद के सहारे निर्णय की प्रक्रिया को हम कभी भी प्रश्चय नही होने देगें न ही उसे सफल होने देगें। ऐसी परिस्थितियो मे पजाब मे निर्णय कराने की जो कोशिश हो वह राष्ट्र की एकता और अखण्डता को खण्डित करने वाली है।

हमे यह स्वीकार करना चाहिए कि जो भी फैसला होगा वह काफी सोच विचार और विचार-विमर्श के माध्यम से होगा जिसे पजाबी मे कहते हो गल से होगा गोली से नही अब प्रश्न यह उठता है कि गल मे शामिल होने के लिए सभी व्यक्ति अपनी-अपनी जगह खड़े हैं लेकिन सभी यह सोचते है कि पहले कोई दूसरा स्वात करे तब हम शामिल हो कुछ सोचते है कि काम पुरा हो जाए तब शामिल हो कुछ की और शर्ते है। मेरी राय मे यह एक तरह का जिसे अग्रेंजो मे कहते हैं। फ्लश हो गया है इसमे निकलने के लिए सभी को प्रधानमन्त्रीजी के सकेत का फायदा उठाया जाना चाहिए। उन्होने यह बात स्पष्ट कर दी है कि वे किसी भी प्रकार से किसी व्यक्ति से बात करने को तैयार है शर्त सीर्फ ये है कि वे किसी प्रकार के आतनकवाद को सहारा न दें।

जहा तक कानून और व्यवस्था का सम्बन्ध है। यह तो आतकवादियो ने ही पैदा की है। अत समझौते का प्रश्न ही नही उठता कुछ लोग जो इनके बहुमत मे उनकी बात नही सुनी जाएगी। जो लोग हिंसा नही चाहते और न ही हिंसा के मत मे हैं। और न ही खालिस्तान चाहते है। समर्थन उन्ही लोगो का है।

पजाब की समस्या देश के लिए एक अहम् समस्या है। प्रधानमन्त्री राजीव गाधी भी इस मसले को बडी सजीदगी से ले रहे है। यह कथन सही है क्योकि यह समस्या सावजनिक और राजनैतिक दोनो के हल से ही दूर हो सकती है। इसके लिए वहा की स्थिति सामान्य बनाई जाए ताकि वहा के लोग बिना डर के रह सके।

पजाब की समस्या के हल का यही समाधान है कि हिंसा को हिंसा से खत्म नही किया जा सकता, आतकवाद का अन्त राज्य आततकवाद कतई नही हो सकता यह केन्द्र और राज्य सरकार दोनो को माननी चाहिये। पजाब की समस्या के हल के लिए सर्वप्रथम हिंसा को समाप्त किया जाय जेला मे जो नेता है। उनका रिहा किया जाय मेरा मत है कि जेलो मे नेता बन्द है वे खालिस्तानी नही वे इज्जत का समझौता चाहते है। वे प्रतिष्ठा और इज्जत चाहते है और उनसे बात चीत की जाए शायद उससे कोई हल निकल जाय क्योकिं अगर हिंसा को हिंसा से निपटा जाएगा तो अतकवाद और बढेगा इसलिए इसके लिए अहिंसा पर जोर देना चाहिए दूसरे बात केन्द्र और राज्य सरकारो के समन्वय की है। राज्य के राज्यपाल बेईमान है। केन्द्र राज्य मे राज्यपाल नियुक्त करती है और वह उसका होकर होता है। मेरा निजी राय यह है कि जो राज्यपाल नियुक्त करे इससे समस्या का 90% हल हो जाएगा। तीसरी सतलोंगो वाल की शर्त के अनुसार

चन्डीगढ़, पंजाव को दे देना चाहिए क्योकि किसी समझौते में यह नही लिखा गया कि पजाव चंडीगड खरीदेगा इस समय आप दाम मुर्कर कर रहे है कि पंजाव कितने दाम चुकाएगा यह कहा का इन्साफ है। यह कहां का न्याय है। यदि सीधी अगुली से ही काम चल जाए तो अगुली टेढी करने से क्या फायदा हम हर पांच पांच साल में अपना राज्य वदलते हैं, कानून वदलते है तो फिर यह दंगा क्यों यह गोलावारी क्यों हिंसा और जनतन्त्र दोनों एक साथ नही चल सकते है। आप किसी को जीवन नहीं दे सकते तो उसको लेने का क्या हक है। भाई-भाई की हत्या करता है। यह काम तो कोई मुजरिम भी नही कर सकता अवोध वालकों की हत्या भक्ति में लीन साधु संतों पर गोली दागना मासूक स्त्री पुरुषों को अपनी गोली का शिकार वनाना यह कहां की इन्सानीयत है। एक दिन वे अपनी ही जहर रूपी आग में जलेगी।

इन्दिरा गांधी की हत्या के पूर्व और इसके वाद सिक्खो को चुन-चुन कर सारे देश मे मारा जलते हुए टायर उनके गले में लटका दिये गए उनकी स्त्रियों को वेईज्जत किया। यह इन्सानियत के नाम पर एक कलक। आज सिक्खो के साथ यह जुल्म हो रहा है कल किसी और समुदाय के साथ होगा।

पंजाव के मसले के वारे मे वार-वार सोचता हूं और सोचने-सोचते वापू को अपनी आखो के सामने लाकर पूछता हू कि वापू अगर तुम जिंदा होते तो इस मसले को कैसे सोचने मुझे उनकी तरफ से एक ही उत्तर मिलता इस मसले का उत्तर प्रेम और मोहव्वत है वलिदान और कुर्वानी है। इसका हल गोली कतई नही मैंने पिछले तिनो अखवार में पढा कि अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् के कुछ लोग पंजाव जा रहे है वे वहां के नौजवानो से वातचीत करेंगे उन्होंने अहिंसा का संदेश देगे मुझे विश्वास है कि जिन लोगो को आप आतंकवादी कहते है वे सरकार से ज्यादा शरीफ है वे लोग इन नोजवान की वात सुनेगे और किसी प्रकार का आतंकवाद नही फैलाएगे इस समस्या का एक ही हल है।

आज भारत के आगन मे सब कुछ है अनाज है, प्रत्येक वस्तु है यहा का नागरिक संसार के उच्च नागरिको मे गिना जाता है लेकिन इस सोने की चिड़िया कहलाने वाले भारत को जहा पर भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर महात्मा गाधी आदि नेता पैदा हुए उन्होंने इस संसार के लोगों को प्रेम व एकता का सदेश दिया महावीर स्वामी ने जीओ और जीने दो का नारा दिया इस मिट्टी ने एक वीर पैदा किए उन्होने देश की रक्षा के लिए अपना तन-मन, धन यहा तक की अपने प्राणों की भी बाजी लगा दी ऐसे ही देश मे आज आतंक के बादल मण्डरा रहे है। आस-पास के राष्ट्र यह सिक्खों और हिन्दुओं में फूट डालकर देश का विभाजन करवाना चाहते है। पाकिस्तान के ये लोग [illegible] पर गुमराह है। उनकी नीतियों का उपयोग साम्राज्यवादी उठा रही है। वे उनसे [illegible] देश मे अशांति फैलाना चाहते है। हिन्दू सिक्ख एकता को तोड़ना चाहते है। आजादी से पहले सिक्ख और हिन्दुओं मे मिलकर आजादी की लड़ाई [illegible] बिना भेद भाव के दोनो भाईयों ने [illegible] मे किन्ही बाहरी शक्तियों ने घुस कर यह आतंकवाद फैलाने की चेष्टा की है। [illegible]

कहता हू पुलिस और जज गवाह और जल्लाद का रोल अदा कर रहे है। पुलिस का काम है मुजरिम को पकड़ना और सजा देना और उस पर मुकदमा चलाना कानून का काम है गोली का उपयोग करना कानून के खिलाफ है। लेकिन सरकार स्वय इस कानून का उल्लघन कर रही है।

पजाब को इस अधकार से निकालने के लिए अहिसा का सहारा लेना होगा क्योंकि अहिसा के माध्यम से ही पजाब आने वाले समय में उस मुकाम पर पहुच जाएगा जो दगो से पहले थे उसकी खोई हरियाली और बहार उसे पुन मिल जाएगी वह अपनी सरकार बना लेंगे जिससे धीरे-धीरे हिन्दु और सिक्खो मे पुन एकता लाई जा सकती है क्योंकि अहिसा एक-एक अस्त्र है। जिसे किसी भी आतकवाद अत्याचार अथवा जुल्म का मुकाबला किया जा सकता है। अहिसा वो शक्ति है जिसने अग्रेजो को देश छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया था बड़ी से बड़ी साम्प्रदायिक ताकत को अहिसा के सहारे खत्म किया गया। अन्त मे मेरा यही मत है कि किसी भी समस्या या समाधान हिंसा कतई नही हो सकती हमें अहिसा का मार्ग अपना कर ही आतकवाद पर काबू पाया जा सकता है। यदि हमारे दाये गाल पर चाटा मारे तो हमे बाया गाल भी उसकी तरफ कर देना चाहिए।

अहिसा परमो धरम
जीवो और जीने दो।

यही हमारा नारा होना चाहिये।

अग्रवाल माध्यमिक विद्यालय, जयपुर



खादी ग्रामोद्योग सघन विकास समिति

(बस्सी–जयपुर)

खादी ग्रामोद्योगो का लक्ष्य क्षेत्र मे गरीबी निवारण और

रोजगार देने का है । इसमे सफलता मिलना

तब तक सम्भव नहीं जब तक गाव-गाव

से वैध और अवैध शराब

जड मूल समाप्त न हो जाय ।

खादी ग्रामोद्योग सघन विकास समिति बस्सी (जयपुर)

(छीतरमल गोयल)
अध्यक्ष

(लक्ष्मीचन्द भण्डारी)
मत्री


WITH BEST
Compliments
FROM

शुभ कामनाओं सहित :



किस्तुरचन्द इन्दरचन्द कटारिया

ब-11, मोती मार्ग, बापू नगर, जयपुर-302 015

फोन : 72874, 79161, 78879   तार : KATARIARUG

"एक मात्र अहिंसा ही परम सुख दायिनी है"

शुभ कामनाओं सहित



राजस्थान खादी ग्रामोद्योग संस्था संघ

राजस्थान की प्रमाणित खादी व ग्रामोद्योगी सस्थाओ का मध्यवर्ती सगठन

रेल्वे स्टेशन, गाधी नगर (प० रे०)

बजाज नगर, जयपुर-302017

तार सस्था सघ

फोन कार्यालय 74157, 62460
वस्त्रागार 78123

महावीर जयन्ती के पुनीत पर्व पर

हमारी हार्दिक शुभकामनाए :

जैन कारपोरेशन

गोविन्द मार्ग, जनोपयोगी भवन के पास

जनता कालोनी, जयपुर

टेलीविजन, फ्रिज, कूलर, वाशिंग मशीन,

मिक्सी एवं सभी प्रकार के घरेलू उपकरण



❊ जैन फर्नीचर्स ❊

गोविन्द मार्ग, जनोपयोगी भवन के सामने

सेठी कालोनी, जयपुर

सभी प्रकार का स्टील फर्नीचर



जैन मसाला उद्योग

बालानन्द का रास्ता, चांदपोल, जयपुर

सभी प्रकार के मसालों के निर्माता एवं थोक विक्रेता

फोन : आफिस : 62706   निवास 43744

"Neither riches nor retations can protect.
Know this and knowledge and get rid of Karma"

— *Lord Mahaveer*

पूजन के अष्ट द्रव्यों में जल का महत्व

१ जल नम्रता, निर्मलता और मधुरता व गंभीरता का प्रतीक है।

२ जल द्वारा पूजा करते समय मन जल जैसा निर्मल, मधुर और गंभीर तो हो, पर जल जैसा अस्थिर - चंचल नहीं होना चाहिए।

३ जिस तरह हिलते हुए जल मे मुखाकृति नही दिखती उसी प्रकार अस्थिर मन मे भगवान के दर्शन नही होते।

४ जल जिस तरह मैल धो देता है उसी प्रकार जल चढाकर राग-द्वेष रूपी मैल धो डालना चाहिए।

५ यह जल अनादि काल से पिया, परन्तु प्यास नही बुझी, विषयो की आशा-रूपी प्यास बुझाने के लिए भी विषयरूप जल पिया, परन्तु वह आशारूपी प्यास भी इस जल से शान्त नही हुई, अत यह जल आपके चरणो मे समर्पण करके समता रूपी जल पीना चाहता हूँ—सच्चा भक्त इसी भावना से जल द्वारा पूजा करता है।

६ जैसे पत्थर जैसी कठोर वस्तु को भी जल धीरे-धीरे काट देता है—अपने मे समा लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी धीरे-धीरे विकार को काट दे—शमन कर दे या पचा दे—तभी जल द्वारा पूजा करना सार्थक है।

७ ज्ञानरूपी जल के लिए बाहरी अनुकूलताओ की आवश्यकता नही है।

With Best Compliments from

SURENDRA BILALA
Proprietor



Phone { Office : 43964
Resi. : 41146

Bilala Jewellers

Exporters & Importers of
Precious & Semi - Precious
Stones & Handicrafts

Off. : 11/2330, Rasta M S B.
Johari Bazar. JAIPUR-302 003

Resi : Bilala Garden, 5, Old Amer Road
JAIPUR

"सभी पदार्थों पर से आसक्ति हटा लेना ही अपरिग्रह व्रत है"

—जैन दर्शन



"परिग्रह दुःख का कारण है"

—भगवान महावीर

महावीर पुरस्कार 1988

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी के सन् 1988 के पुरस्कार के लिए आचार्य कुन्दकुन्द से सम्बन्धित रचनाओं की चार प्रतियाँ 31–10–1988 तक आमन्त्रित की जाती है जो 1984 के पश्चात् प्रकाशित हुई हों। पुरस्कार के लिए अप्रकाशित कृतियाँ भी प्रस्तुत की जा सकती हैं। अप्रकाशित कृतियों की दो-दो प्रतियाँ स्पष्ट टंकण की हुई तथा जिल्द बन्धी होनी चाहिये। सुवाच्य हस्तलिखित प्रतियाँ भी इस कार्य के लिए स्वीकृत हो सकती हैं।

नियमावली तथा आवेदन का प्रारूप प्राप्त करने के लिए दो रुपये का पोस्टल आर्डर नीचे दिये गये पते पर आना चाहिये —

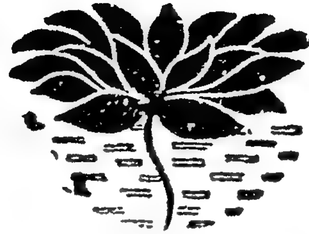
संयोजक,
जैनविद्या संस्थान समिति,
श्री महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाइवे,
जयपुर–302 003

पोस्टल आर्डर मंत्री, दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, जयपुर के नाम होना चाहिये।

"मनुष्य जन्म से नही कर्म से महान् बनता है"

—भगवान महावीर

WITH BEST COMPLIMENTS FROM



Phone : 42516, 45239

Jainsons Roadways

FLECT OWNER'S TRANSPORT CONTRACTERS

B-52, Transport Nagar, Agra Road,
JAIPUR-302 003

City Booking Service Office :
73. Sansar Chandra Road,
Opp New Anaj Mandi
JAIPUR-302 001
Phone : 76495

Head Office :
306, Popat Lal Chamber
3rd FL 4th Cross Lane
Elive Road, Dana Bunder
BOMBAY-400 009
Phone : 339083, 331712

BRANCHES :

Calcutta	Thana	Alwar	Gulabpura	Delhi	Bhiwadi	Bhilwara
277363 264527	595847	21573	134	2521741	71	

Daily Service between :

JAIPUR ❀ BOMBAY ❀ CALCUTTA ❀ ALWAR
GULABPURA & ALL RAJASTHAN


WITH
Best
Compliments
from

भगवान महावीर का दिव्य सदेश

- सब जीवो को अपना जीवन प्यारा होता है। मरना कोई नही चाहता। अत जीओ और जीने दो।
- ससार मे जीव अकेला ही आता है और जाता भी अकेला ही है।
- ससार बिजली के समान क्षणिक और सारहीन है।
- स्वाध्याय ही परम तप है। तप का आधार ज्ञान है।
- क्षमा मे सब कुछ हो सकता है। क्रोध मे साधु की भी अधोगति निश्चित है।
-
- नि स्वार्थ उपकार अवश्य फलदायी होता है।
- दयारहित जीवन धिक्कार योग्य है।
- ससार मे कोई किसी को सुख दु ख नही देता। मानव के स्वय के कर्म ही उसे सुखी दु खी करते हैं।
- धर्म से ही सब प्रयोजनो की सिद्धि सभव है। समभाव ही सच्चा धर्म है।
- देव भी धर्मात्माओ की सहायता करते हैं।

(दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी द्वारा प्रसारित)

मन्त्री कार्यालय
दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी
महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे
जयपुर–302 003
दूरभाप 73202

क्षेत्र कार्यालय
दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी
पो० श्री महावीरजी–322 220
(जिला-सवाई माधोपुर) राजस्थान
दूरभाप 23 व 39

प्रेम मोक्ष का भव्य द्वार है

— भगवान महावीर

महावीर जयन्ती पर हमारी शुभ कामनायें



राजश्री विद्यालय

राजस्थान सरकार द्वारा मान्यता एव सहायता प्राप्त

F-38, मेजर शैतानसिंह कालोनी

शास्त्री नगर, जयपुर

फोन 75235

स्थापित–1952

With best compliments from :

Arun Medical Agencies

Bullion Building, Johari Bazar
JAIPUR-302 003
Phone : 43513



1. Sandoz India Ltd., Bombay
2. Jagsonpal Pharmaceuticals Ltd., Delhi
3. Pharmed (Pvt.) Ltd., Bombay
4. Iveon Laboratories, Bombay
5. Nalax Lab, Bombay

With best compliments from :



Malaviya Public School

(Mgt. Pt. Madan Mohan Malaviya Memorial Society)
2/507, Malviya Nagar, Jaipur

An Ideal English/Hindi Medium School

(R. K. Kala)
President

(N K Mathur)
Gen. Secretary

महावीर को मन्दिर मे ही नहीं
अन्दर भी निहारो

उनका गुणगान शब्दो मे ही नहीं
आचरण मे उतारो

□

भगवान महावीर की पावन जयन्ती पर –
शुभ कामनाओ सहित

कोमलचन्द कैलाशचन्द

त्रिपोलिया बाजार, जयपुर–302 003

फोन 45136, 45456